# भारतीय कला और संस्कृति की भूमिका



भगवतशरण उपाध्याय

रणजीत प्रिंटर्स एण्ड पब्लिशर्स

प्रकाशक
रणजीत प्रिंटर्स एण्ड पब्लिशर्स,
४८७२, चाँदनी चौक, दिल्ली-६
फोन : २२०११७



मूल्य : रु० १२.५०

मुद्रक
शाहदरा प्रिंटिंग प्रेस
नवीन शाहदरा, दिल्ली-३२

इन्द्रनारायण गुर्टू को—

# चित्र-सूची

३०. वीर का गृहागमन, कांगड़ा कलम
३१. रावा का वेणीप्रसाधन, पहाड़ी चित्र
३२. संकेतस्थान, प्रतीक्षिका, पहाड़ी
३३. आगरे का किला, सोलहवीं सदी
३४. साँची स्तूप का तोरणद्वार
३५. कुतुबमीनार के पास चन्द्र का लौह विजयस्तंभ
३६. शिलारथ, हंफ़ी, मैसूर
३७. मीनाक्षी का मन्दिर, मदुरा
३८. कन्दरीय महादेव का मन्दिर, खजुराहो
३९. लिंगराज का मन्दिर, भुवनेश्वर उड़ीसा
४०. कोणार्क (सूर्य) का मन्दिर, कनारक, उड़ीसा
४१. संगमरमर का जैन मन्दिर, दिलवाड़ा, आबू
४२. कुतुबमीनार, दिल्ली
४३. ताजमहल, आगरा
४४. दीवाने खास का स्तंभ, फ़तहपुर सीकरी
४५. बुलन्द दरवाज़ा, फ़तहपुर सीकरी

# अनुक्रमणिका

## पहला भाग : भारतीय कला

## दूसरा भाग : भारतीय संस्कृति

# वक्तव्य

इस प्रकाशन के दो भाग हैं, १. भारतीय कला की भूमिका ग्रौर २. भारतीय संस्कृति की भूमिका। दोनों का संयुक्त नाम है, 'भारतीय कला ग्रौर संस्कृति की भूमिका।"

## १

यह भारतीय कला का इतिहास नहीं, उसके ग्रध्ययन की भूमिका मात्र है। भारतीय ललित कलाग्रों को प्राय: एक साथ एक ही परिवेश में देखने-लाने का यह पहला प्रयत्न है। इसमें स्थापत्य, मूर्तिकला ग्रौर चित्रकला के साथ-साथ संगीत ग्रौर रंगमंच पर भी विचार हुग्रा है। इस प्रकार यह भूमिका भारतीय कलाग्रों का एक संगम प्रस्तुत करती है। ग्राशा है, इससे विज्ञ पाठकों का रंजन ग्रौर कला के विद्यार्थियों का कुछ उपकार हो सकेगा।

## २

भारतीय संस्कृति के सम्बन्ध में प्रस्तुत यह सूत्रग्रंथविशेष वक्तव्य की ग्रपेक्षा करता है। विशेषकर इस कारण कि इसमें चिंतित ग्रौर एकत्रित सामग्री पढ़कर ग्रनेक पाठकों को ग्राश्चर्य होगा। संस्कृति के ग्रध्ययन का दुरुपयोग जितना इस देश में हुग्रा है उतना ग्रन्यत्र कहीं नहीं हुग्रा।

परिणाम यह हुग्रा है कि संस्कृतियों के विकास ग्रौर उनके ग्रन्तरा-वलम्बन का रहस्य न समझ पाने के कारण ग्रतिराष्ट्रीयता (शॉविनिज़्म) की लहर-सी भारत में चल पड़ी है, जो इस देश की परम्परा में ग्रजानी है। 'एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मन:' के दर्पिल मनुवाक्य के बावजूद हमारे ग्राचार्यों ने सांस्कृतिक ग्रादान-प्रदान का रहस्य समझा है ग्रौर सदा ग्रागत ज्ञान को स्वीकार ग्रपने सामाजिक जीवन में उसको समाहित कर, कृतज्ञता-पूर्वक उसके ग्राधार के प्रति ग्रपना ग्राभार प्रकट किया है।

भारत ने संसार को दिया बहुत कुछ है, बड़े परिमाण में दिया है, शायद इतना दिया है जितना ग्रकेले किसी देश ने नहीं दिया, पर लिया भी उसने ग्रन्य देशों से कुछ कम नहीं। लिया उसने उसी ग्रनुपात में है जिस ग्रनुपात में ग्रकेला पानेवाला देश संसार के शेष सारे देशों से ले सकता है। भूलना न चाहिए कि एक जब ग्रनेक को देता है तब देने की मात्रा फैलकर

पतली हो जाती है और जब वही एक अनेक से लेता है तब प्राप्य की मात्रा घनी हो जाती है।

इसी बोध से भारतीय संस्कृति के इतिहास का अध्ययन होना उचित है। इसी बोध से इस पुस्तिका के लेखक ने दस खण्डों में भारतीय संस्कृति के इतिहास का अध्ययन आयोजित किया है। इन्हीं खण्डों द्वारा इस देश के सांस्कृतिक इतिहास का प्रणयन उसके जीवन का व्रत होगा। काश, वह इस व्रत को अपने जीवन के लघु परिमाण में साध पाये !

प्रस्तुत पुस्तिका उसी आयोजित अध्ययन की भूमिका मात्र है। और निश्चय यह एकपक्षीय है, केवल उस पक्ष के अध्ययन के सूत्र एकत्र करती है, उसकी गति के लिए मार्ग बनाती है जो अब तक मिथ्याभिमान, अज्ञान, अतिराष्ट्रीय भावना के कारण उपेक्षित रहा है। भारत ने संसार को क्या दिया, इसपर पर्याप्त मात्रा में अब तक लिखा जा चुका है, पर उसने संसार से पाया कितना, इसपर प्रायः कुछ भी नहीं लिखा गया। उसी कमी की पूर्ति करने का, दीवार की दूसरी ओर नज़र डालकर, दूसरा पक्ष भी उपस्थित कर, यह पुस्तिका प्रयत्न करती है।

भारत ने संसार को कितना दिया, इस प्रसंग से लेखक अनभिज्ञ नहीं, उसके परिमाण से वह अभिभूत है। पर वह समझता है कि वह प्रसंग भारतीय सांस्कृतिक इतिहास का केवल पाक्षिक सत्य है और कि यदि उस इतिहास को सांगोपांग प्रस्तुत करना है तो इस दूसरे पक्ष का उद्घाटन अनिवार्य हो जाएगा। इसी हेतु उसका यह, एक प्रकार से, पूर्वपक्ष उपस्थित किया जा रहा है।

और यह मात्र सूत्रप्रयत्न है। इसे संकेत मात्र ही जानना चाहिए। वरना अगर इसमें दिये अध्यायों का समुचित निरूपण किया जाय तो निःसन्देह उनमें से प्रत्येक बृहद् ग्रन्थ बन जाएगा। ये अध्याय केवल कुछ संकेत प्रस्तुत करते हैं, उन दिशाओं का जिनका भारत ऋणी है। भारतीय संस्कृति के अध्ययन में यदि ये संकेत सहायक हुए तो लेखक अपना प्रयत्न सफल समझेगा। उसने बड़ी आस्था-निष्ठा से इस सांस्कृतिक अध्ययन का उपोद्घात किया है, प्राचीन आचार्यों की ईमानदारी को प्रमाण मानकर, और वह आशा करता है कि इस दिशा के जिज्ञासुओं और जानकारों को, उनके चिन्तन के लिए, इसमें कुछ सामग्री मिलेगी।

यह सामग्री यहाँ एक साथ पहली बार पुस्तकरूप में प्रकाशित हो रही है, इसके अंगांग अनेक बार अनेक भारतीय-अभारतीय भाषाओं में

प्रकाशित हो चुके हैं और पिछले बीस वर्षों से प्रकाशित होते रहे हैं। इनमें से दो लेख—१. मार्च ग्राफ़ इण्डियन कल्चर और २. फ़ीडर्स ग्राफ़ इण्डियन कल्चर—अंग्रेज़ी में छपे और विद्वानों के विशेष कृपाभाजन हुए। मैं सन् ५१ में स्विट्ज़रलैंड में था जब वहाँ के भारतीय दूतावास के एक समूचे बुलेटिन के रूप में इनमें से पहले लेख को छपा देखा। वह लेख भारत सरकार के प्रकाशन विभाग से प्रकाशित 'इण्डिया' के किसी अंक में पहले छप चुका था। पूछने पर जाना कि पण्डित नेहरू और अपनी सरकार के आदेश से प्रत्येक भारतीय दूतावास ने उसकी प्रतिकृति बुलेटिन के रूप में प्रकाशित की है।

—लेखक

मसूरी,
२२. ५. १९६५.

पहला भाग

# भारतीय कला

अध्याय एक

# ●● स्थापत्य

ललित आकलन कला है। कालिदास ने 'ललिते कलाविधौ' का जो 'रघुवंश' में उल्लेख किया है वह इसी प्रसंग में है। अभिराम अंकन चाहे वह वाग्विलास के क्षेत्र में हो, चाहे राग-रेखाओं में, चाहे वास्तु-शिल्प में, है वह कला।

प्रकृति जो देती है वह कलाकार नहीं देता। न कलाकार प्रकृति का यथातथ्य रूपायन ही करता है। यह कार्य छाया-शिल्पी या फ़ोटोग्राफ़र का है। कला प्रकृति को अपनी दृष्टि से देखती है। कलाकार दृश्य में पैठकर, प्राय: उससे एकीभाव होकर उसे देखता और सिरजता है। वह प्रकृति को अपनी तूलिका, छेनी अथवा लेखनी से सँवार देता है। नंगी प्रकृत स्थिति में कलावन्त जो अपने माध्यम से अन्तर डाल देता है, वही कला है। प्रकृति रात बनाती है, कलावन्त दीप बनाता है।

कला के अनेक रूप हैं। इस पुस्तक में हम केवल स्थापत्य, मूर्त्तन, चित्रण, संगीत और रंगमंच का विवेचन करेंगे। स्थापत्य इनमें प्रथम और प्रधान है, मानव की पहली आवश्यकता, आवास का स्रष्टा। वह वास्तु-शिल्प है। स्थपति उसे खड़ा करता

है, उसकी स्थापना करना है। स्थपति जो स्थापित करता है वही स्थापत्य है—मनुष्य और देवता दोनों का वस्य आगार, गृह, घर। पर स्थापत्य की चर्चा के पहले भारतीय कला-प्रसार पर एक नज़र डाल लेना अनुचित न होगा।

भारत की कला का विस्तार बड़ा है, प्रायः पाँच सहस्राब्दियों लम्बा और इस काल-प्रसार में जितना और जैसा उसने सिरजा है वह कलासमीक्षक या इतिहासकार के लिए समस्या प्रस्तुत कर देता है। सिंधु सभ्यता के बाद, ईसा पूर्व दूसरी सहस्राब्दी के बाद तो निःसन्देह वैदिक उदासीनता के कारण स्थापत्य, भास्कर्य आदि की प्रगति टूट जाती है और उस सभ्यता तथा मौर्यकाल की कृतियों के बीच एक दीर्घ कालान्तर पड़ जाता है, प्रायः डेढ़ हज़ार साल का, पर मौर्ययुग (ल० ई० पू० ३२२—ई० पू० १६०) से जिस कला-साधना का प्रारम्भ होता है वह अद्यावधि अटूट चली आती है यद्यपि उसके रूप, प्रकारों और अभिप्रायों में आनेवाली अभारतीय जातियों के प्रभाव से अन्तर पड़ता जाता है।

मौर्यकाल के कुछ पहले ही इस देश में कला के प्रति लोगों की निष्ठा सचेष्ट हुई थी पर उस काल के ईरानी संपर्क से उसमें विशेप प्रगति हुई और बड़ी तीव्रता से कलाकारों ने भारत का आँगन अनुपम कलादर्शों से भर दिया। शुंग और यवन, शक और पह्लव, तुखार और गुर्जर, एक के पश्चात् एक भारत की धरा पर कला की अभिराम कृतियाँ कोरते चले गए। पर यहाँ हमें उस आकर्षक काल-प्रसार के ललित अभिप्रायों का अध्ययन केवल संक्षेप में करना है वरना जिस परिमाण में कलामुखी सृजन उन विविध युगों में हुआ है वह साधारणतः सीमाओं में बँध पानेवाला नहीं है। उनके उदय और विकास की पृष्ठभूमि प्रस्तुत करना ही हमें अभीष्ट है। इससे यहाँ केवल इतिहासकालीन कला और उसकी अनुवर्तिनी भूमि का ही हम निरीक्षण कर सकेंगे। पूर्व कालों की ओर संक्षप में ही कुछ संकेत कर सकेंगे। भारतीय कला का इतिहास पूर्व-काल सिन्धु घाटी की सभ्यता का है, ल० २५०० ई० पू०

से १५०० ई० पू० तक। मौर्यकाल का विस्तार ई० पू० चौथी सदी से प्राय: ई० पू० दूसरी सदी तक है, शुंगकाल का विस्तार दूसरी-पहली सदी ई० पू० है। कुषाणकाल का प्रसार पहली से तीसरी सदी ईसवी तक है और भारतीय इतिहास के स्वर्णयुग गुप्तकाल का प्राय: चौथी सदी ईसवी से छठी सदी तक। मध्यकाल ६०० ई० से १२०० ई० तक माना जाता है और इसके भी शैली और काल के भेद से पूर्व-मध्यकाल और उत्तर-मध्यकाल दो खंड कर लिये जाते हैं। इनमें पहले का कालमान ६०० ई० से ९०० तक है और दूसरे का ९०० ई० से १२०० तक।

परन्तु यह कालमान भी केवल मूर्तिकला के संबंध में विशेष सार्थकता रखता है, क्योंकि स्थापत्य में मंदिर-निर्माण और उसकी कला का मध्याह्न तो वस्तुत: १२०० ई० के बाद ही आता है। चित्रकला भी अजन्ता और बाघ के पश्चात् फिर से तारुण्य उस काल के बाद ही धारण करती है। संगीत के पक्ष में तो यह और भी सही है। संगीत नि:संदेह भारत में अति प्राचीन काल से प्रौढ़ रूप में चला आता है पर उसकी काया भी मध्ययुग में, यथार्थत: तो उसके भी पश्चात्, सजती है। संगीत के अधिकतर ग्रंथ मुस्लिम काल में लिखे गये। गायन की अनेक शैलियाँ हिन्दी भाषा और साहित्य की ही भाँति मुस्लिम संपर्क और सहायता से बनीं। अनेक मधुर वाद्यों, रागों का अमीर खुसरू, सुल्तान हुसैन शर्की आदि ने आविष्कार किया। सितार, सारंगी, रुबाब, दिलरुबा, तबला, शहनाई, रोशनचौकी आदि ने संगीत के क्षेत्र में अनेक नई ध्वनियाँ सिरज दीं, एक नया स्वाद संगीत के प्रेमियों को बेसुध कर चला और संगीत संबंधी आविष्कारों की यह परंपरा सत्रहवीं सदी तक अटूट चलती रही। इन विविध कलाओं के अपने-अपने क्षेत्र हैं जिनका वर्णन यथास्थान होगा। आरंभ में सिन्धु-सभ्यता की वास्तुकला का उल्लेख स्वाभाविक होगा। आर्यों की स्थापत्य के प्रति उदासीनता

के कारण जो अनेक सदियों का शून्य है उसके बाद ही चौथी सदी ई० पू० में मौर्ययुगीन वास्तु का प्रादुर्भाव होता है। शीघ्र ही बाद यवन-शक-कुषाणों का निर्माण-काल ई० पू० दूसरी सदी से तीसरी सदी ईसवी तक के काल-प्रसार को भर पूर देता है जिसकी पृष्ठभूमि पर गुप्तों का राष्ट्रीय स्थापत्य स्थापित होता है। इस प्रकार भारतीय कला की प्रगति में सिन्धु-सभ्यता काल, मौर्य काल, यवन-शक-कुषाण काल, और गुप्त काल क्रमश: प्रथम, द्वितीय, तृतीय और चतुर्थ युग प्रस्तुत करते हैं जिनके शीर्षक से ही हम कला का यह अध्ययन प्रस्तुत करेंगे। इन शीर्षकों के विस्तार भी संक्षिप्त होंगे क्योंकि स्थापत्य के अनेक रूपों—स्तूप, स्तंभ, चैत्य, विहार आदि—का विकास-क्रम स्पष्ट करने के लिए उनका अध्ययन उनके अपने-अपने शीर्षकों के माध्यम से हुआ है। स्थापत्य के सबसे विशिष्ट और प्रधान अंग मंदिरों के वर्णन से, भारतीय कला के पाँचवें, मध्ययुग से, वास्तु के वास्तविक अध्ययन का आरम्भ होता है।

## १. सिन्धु सभ्यता-काल (ल० ई० पू० ३२५०-ई० पू० २७५०)

स्थापत्य का अत्यन्त प्राचीन रूप नव प्रस्तरयुगीन मानव ने प्रस्तुत किया जब उसने गीली मिट्टी छापकर फूस की कुटिया अपने रहने के लिए खड़ी की। फिर जब कृषि का उसने आरंभ किया तब आवश्यकता सिचाई के उपकरणों की पड़ी जिसकी सबसे महत्व की विधि नदियों के जल को रोक, बाँध या 'डैम' बनाकर द्रविड़ों ने प्रस्तुत की। वे गाँवों का निर्माण भी अब करने लगे थे जिन्हें मिट्टी-पत्थर के परकोटों से घेर वे उनकी रक्षा का प्रबन्ध करते थे। नगर-निर्माण की दिशा में भारतीय मानव का वह पहला क़दम था।

उसकी परिणति सिन्धु-सभ्यता के युग में ई० पू० तीसरी सहस्राब्दी (ल० २५०० ई० पू०) में हुई। सिन्धु घाटी में पत्थर तो उपलब्ध नहीं था पर चक्की की पट्टियों, दरवाजों के बाजुओं

ग्रादि के लिए पत्थर का उपयोग ग्रन्यत्र से लाकर होता था। सिन्धु-सभ्यता के मोहनजोदेड़ो, हड़प्पा ग्रादि ने नगर-निर्माण ग्रौर नागरिक स्थापत्य का ग्रारम्भ किया। ग्रत्यन्त सुन्दर मुहरों पर उभारी पशु-मानव-वनस्पतियों की ग्राकर्षक ग्राकृतियों के ग्रतिरिक्त स्थापत्य का जो रूप वहाँ के ग्रवशेषों में उपलब्ध है वह तब के संसार में ग्रन्यत्र तो दुर्लभ है ही, ग्रपनी योजना में सर्वथा एकान्तिक भी है। इन ग्रवशेषों का वर्णन नगर-निर्माण के प्रसंग में यथास्थान ग्रन्यत्र किया गया है।

## २. मौर्यकाल (इ० पू० ३२२-ल० ई० पू० १६०)

ग्रार्यों का इतिहास निर्माण की दिशा में, स्थापत्य के क्षेत्र में, न केवल भारत में बल्कि उनके संक्रमण के प्रसार में सर्वत्र शून्य है। उनकी किसी निवासस्थली में स्थापत्य के विशिष्ट दर्शन नहीं होते। भारत में जो इस दिशा में खुदाइयाँ हुई हैं उनसे भी इस विषय पर कुछ विशेष प्रकाश नहीं पड़ा है। पर इसमें सन्देह नहीं कि ग्रधिकतर प्राचीन भारतीय नगरों का निर्माण ग्रार्यों के ही तत्वावधान में हुग्रा था। वैसे उनकी विशिष्ट देन ग्रग्निवेदी ग्रौर यज्ञों में बलि-पशुग्रों को बाँधने के लिए खड़े किए यूप थे, जो भारतीय स्तम्भों के पूर्ववर्ती थे; यद्यपि उनके विकास-क्रम के प्रतीक नहीं। ग्रधिकतर निर्माण उस काल संभवत: दारु ग्रथवा काष्ठ ग्रर्थात् लकड़ी से हुए जिनमें उपयोग वर्धकी ग्रथवा बढ़ई का होता था ग्रौर जिससे स्थापत्य की 'तक्षण' संज्ञा सार्थक होती थी। काष्ठ का वास्तु प्रमाणत: नष्ट हो गया।

शैशुनागों के शासन-काल में छठी-पाँचवीं सदी ईसवी पूर्व में प्रमाणत: किलों का निर्माण हुग्रा था ग्रौर राजगिर में बुद्ध के समकालीन राजा बिंबिसार के परकोटे के भग्नावशेष ग्राज भी खड़े हैं जो पत्थर के हैं। उन परकोटों के भीतर की जरासन्ध की बैठक ग्रौर भी प्राचीन बताई जाती है। पाटलिपुत्र की

बुनियाद भी तभी पड़ी थी। उस काल के ग्रनेक नगरों का सिकन्दर के साथी लेखकों ने वर्णन किया है।

स्वयं सिल्यूकस के राजदूत मेगस्थनीज़ ने ग्रपनी कृति 'इंदिका' में पाटलिपुत्र नगर, उसके परकोटों ग्रौर चन्द्रगुप्त मौर्य के राजभवन का जो वर्णन किया है वह मौर्यकालीन वास्तु-स्थापत्य का ग्रद्भुत प्रमाण है। इस विषय का उल्लेख विशेष रूप से ग्रन्यत्र हुग्रा है। मौर्यकालीन ग्रशोक के स्तूपों, स्तम्भों का वर्णन भी तभी यथास्थान नीचे हुग्रा है। ग्रशोक के यवन शासक राजा तुषास्प ने गिरनार पर सुदर्शन झील का निर्माण कराया। तभी वरावर, नागार्जुनी ग्रौर ग्रजंता की कुछ गुफाएँ भी खोदी गईं। स्वयं ग्रशोक को कश्मीर में श्रीनगर ग्रौर नेपाल में ललित-पाटन नामक नगरों के निर्माण का श्रेय दिया गया है।

शुंगों का युग मौर्यकाल का ही विस्तार है, पर उसकी मूर्तियों के प्रकार, भंगिमाएँ ग्रौर प्रचुरता ग्रपनी है। दूसरी-पहली सदी ई० पू० के इस युग की कौशाम्बी की प्राचीरें दुर्ग-स्थापत्य पर प्रभूत प्रकाश डालती हैं। इनका संबंध परम्परया बुद्ध के सम-कालीन वत्सराज उदयन से है। इस काल के ग्रनेक स्तूपों, वेदिकाग्रों, स्तंभों का वर्णन ग्रन्यत्र हुग्रा है। साँची-भरहुत की स्तूप-वेदिकाएँ शुंगकाल की ही वास्तुनिधि हैं।

### ३. यवन-शक-कुषाण-काल (द्वितीय शती ई० पू०-द्वितीय शती ई०)

यवनों ने पश्चिमोत्तर भारत पर जो प्रायः डेढ़ सदी राज किया उसमें उन्होंने भारतीय मूर्तिकला को प्रभावित कर उसे गन्धार-कला नाम तो दिया ही, उनके स्थापत्य ने भी भारतीय वास्तु को कुछ कम प्रभावित नहीं किया। तक्षशिला ग्रादि नगरों में उनके भवन ग्रीक, ग्रायोनीय ग्रादि परम्परा में ही वने थे ग्रौर उन्होंने कश्मीर के मन्दिरों के स्थापत्य तक को प्रभावित किया था। उसका सबसे उज्ज्वल प्रमाण मार्त्तण्ड-मन्दिर था जिसके ग्रवशेष ग्राज भी खड़े हैं। पिता के नाम पर युथिदेमो ग्रौर

अपने नाम पर दत्तामित्री नामक नगर यवनराज दिमित्रियस् के बनवाए प्रसिद्ध हैं।

कुषाणों के शासनकाल में ही यवनों की गन्धार शैली का भारतीय कला में जन्म हुआ था। कनिष्क ने अनेक स्तूप बनवाए जिनका उल्लेख अन्यत्र हुआ है। उनके अतिरिक्त दो नगर भी उसके द्वारा निर्मित प्रसिद्ध हैं, एक तक्षशिला के समीप सिर-सुख दूसरा कश्मीर में कानिसपुर (कनिष्कपुर)। उसके उत्तराधिकारी हुविष्क ने भी कश्मीर में हुविष्कपुर (हुस्कपुर), आधुनिक उस्कुर, नाम का नगर बसाया।

## ४. गुप्तकाल (ल० २७५ ई०-५१० ई०)

गुप्तकाल भारतीय इतिहास का स्वर्णयुग माना जाता है। पर आश्चर्य है कि इसमें स्थापत्य की प्रचुरता नहीं। वैसे इसमें सन्देह नहीं कि इस काल अनेक गुफाओं का और स्तम्भों का निर्माण हुआ था जिसका उल्लेख यथास्थान हुआ है। संभवतः मन्दिर कहलाने वाला विशिष्ट वास्तु-शिल्प तभी विशेषकर प्रस्तुत हुआ। इस प्रकार के दो ईंटों के मन्दिरों के खंडहर आज भी खड़े हैं। एक झाँसी ज़िले के देवगढ़ में, दूसरा कानपुर ज़िले के भीतरगाँव में। भीतरगाँव के मन्दिर की ईंटों की अकथनीय चित्रखचित विविधता है और उसमें जड़ी मिट्टी की पट्टिकाओं की सुन्दरता अभिराम है। ये लखनऊ के संग्रहालय में सुरक्षित और प्रदर्शित हैं। इनका उल्लेख अन्यत्र भी यथास्थान होगा।

## ५. स्थापत्य की मध्यकालीन विविध शैलियाँ

मन्दिर-निर्माण की दृष्टि से यह काल बड़े महत्व का है। मन्दिरों के विविध प्रकार हैं। भारत के से विस्तृत भूखंड में, उसकी अपार जनसंख्या के बीच, विविध मतमतान्तरों के कारण प्रायः डेढ़ हज़ार वर्षों के लम्बे कालक्रम में कला का विभिन्न शैलियों में बँट जाना स्वाभाविक है। इस दीर्घ काल में भारतीय

कला के अश्वत्थ से अनेक शाखाएँ फूटीं। देश और काल, संप्रदाय और मत, सुरुचि और अभिप्राय की आवश्यकता से उसमें विविधता आई। उनका शैलियों में विभाजन, विविध स्कन्धों में उनका एकत्रीकरण उनका अध्ययन सरल कर देगा।

स्थापत्थ के दो विशिष्ट भाग किये जा सकते हैं : धार्मिक और लौकिक। धार्मिक के भीतर मंदिर, स्तूप आदि आते हैं और लौकिक के भीतर वार्ता, सेतुबंध, प्रासाद आदि। पहले शैलियों का उल्लेख समीचीन होगा।

शैलियाँ (मंदिरों की) साधारणतः तीन हैं : नागर, वेसर और द्राविड़। इनके अतिरिक्त भी कुछ नाम स्थापत्य संबंधी प्राचीन ग्रन्थों में में आए हैं, जैसे लतिन साधार, भूमि, नागर, पुष्पक, विमान[१] आदि। परन्तु अधिकतर वे या तो इन तीन प्रधान शैलियों के प्रभेद हैं या निर्माण की दृष्टि से गौण हैं। इनमें नागर और द्राविड़ नाम तो यथावत् व्यवहृत हुए हैं, पर वेसर के मिश्र, मिश्रक, वाराट, आदि पर्याय भी शास्त्रों में प्रयुक्त हुए हैं। वे उस शैली के स्वभाव और देश का संकेत करते हैं। उनका उल्लेख हम यथास्थान करेंगे।

## नागर

'नागर' शब्द नगर से बना है जिससे उसका पुर से संबंधित होना स्वाभाविक है। कौटिल्य के अर्थशास्त्र में नगरनिर्माण में मंदिरों का स्थान विशिष्ट बताया गया है और किस देवमंदिर की नगर के किस भाग या दिशा में स्थापना हो, इसका भी उल्लेख हुआ है। संभव है नगर में ही पहलेपहल बनने के कारण अथवा वहाँ संख्या में उनका बाहुल्य होने के कारण यह नाम पड़ा हो, वरना यह निष्कर्ष निकालना सर्वथा अयुक्तियुक्त होगा कि जनपद (देहात) में मंदिर नहीं होते थे। और इस शब्द का प्रयोग चूंकि

---

[१] बृहच्छिल्पशास्त्र, ३, ६८ और ७३.

मंदिर मात्र के लिए नहीं होता, चित्र के लिए भी होता है, पुर से उसका विशेष संबंध प्रायः इसलिए निश्चित हो जाता है कि चित्र पौर और जनपदीय दोनों होते हैं। 'ईशानशिवगुरुदेवपद्धति' में नागर मंदिरों का उल्लेख अनेक बार हुआ है। वस्तुतः नागर, द्राविड़ और वेसर तीनों नाम अधिकतर साथ ही आते हैं।

नागर चौपहला या वर्गाकार होता है, आधार से शिखर तक। 'कालिकागम' में उसके लक्षण इस प्रकार दिये गये हैं: ऊँचाई में यह अष्टवर्ग होता है। ये आठों वर्ग (भाग) हैं, मूल (आधार), मसरक (नींव और दीवारों के बीच का भाग), जंघा (दीवारें), कपोत (कोर्निस)। ये चारों सीधे खड़े रहकर शिखर, गल (गरदन), वर्तुलाकार आमलसारक (आमलक) और कुंभ (शूल सहित कलश) का भार धारण करते हैं। नागर शैली के मंदिरों का विस्तार बड़ा है, हिमालय और विन्ध्याचल के बीच। 'बृहत्संहिता' के समय से, अथवा संभवतः उससे भी पूर्व से ही, नागर मंदिरों की संख्या प्रभूत रही है। उसके भौगोलिक क्षेत्र के अनुकूल ही उसकी संख्या भी रही है। मध्यदेश साधारणतः उसका केन्द्र रहा है पर उसकी परिधि तुंगभद्रा को छूती रही है। इसी प्रकार एक ओर बंगाल और उड़ीसा तथा दूसरी ओर लाट-महाराष्ट्र तक उस शैली का विस्तार रहा है। उत्तर में हिमालय के चंबा-कांगड़ा से दक्षिण में तुंगभद्रा पार तक। केन्द्र से दूर हट कर नागर शैली के प्रांतीय भेद और नाम हो गये हैं, जैसे उड़ीसा में वही कालिंग और गुजरात में लाट कहलाई है। इसी प्रकार हिमालय के अन्तर्गत आनेवाले नागर मंदिरों को पार्वतीय कहा गया है।

द्राविड़, शैली और भौगोलिक क्षेत्र, दोनों का नाम है अथवा उस शैली का, जो द्रविड़ देश में विशेष रूप से विकसित हुई; द्राविड़ मंदिरों का शरीर (निचला भाग) तो वर्गाकार होता है और मस्तक गुम्बदाकार, छःपहला या आठपहला (षडास्र अथवा

अष्टास्र) । इसका विस्तारक्षेत्र अगस्त्य (नासिक के निकट), कृष्णा अथवा तुंगभद्रा से लेकर कुमारी अंतरीप तक है ।

द्राविड़ शैली के मंदिर नागर मंदिरों से सर्वथा भिन्न होते हैं । उसके गर्भगृह (जिसमें देवप्रतिमा स्थापित होती है) के ऊपर का भाग (विमान) सीधा पिरामिडनुमा होता है । उसमें कितनी ही मंज़िलें होती हैं और मस्तक पीछे या गुम्वद के आकार का होता है ।[१] ऊँचा मंदिर लंबे-चौड़े प्रांगण से घिरा होता है जिसमें छोटे-बड़े अनेक मंदिर, कमरे, हाल, तालाब आदि होते हैं । आँगन का मुख्य द्वार, जिसे गोपुरम् कहते हैं, इतना ऊँचा होता है कि अनेक वार वह प्रधान मंदिर के शिखर तक को छिपा लेता है । नागर शैली के मंदिर चौकोन गर्भगृह के ऊपर दूर ऊँचे मीनार की भाँति चले गये होते हैं, उनके शिखर की रेखाएँ तिरछी और चोटी की ओर झुकी होती हैं ।[२] शीर्ष उनका आमलक (आँवला) से मंडित होता है । दोनों प्रकार के मंदिरों का विशेष वर्णन नीचे करेंगे ।

वेसर नागर और द्राविड़ शैलियों का मिश्रित रूप है । वेसर नाम भी भौगोलिक नहीं, शैली का है, मिश्रित शैली का । इस शब्द का अर्थ ही 'खच्चर' होता है, दो भिन्न जातियों से जन्मा ।[३] विन्यास (ख़ाका, प्लान) में यह द्राविड़ शैली का होता है और क्रिया अथवा रूप में नागर शैली का (कालिकागम) । इसीसे 'बृहच्छिल्प-शास्त्र' ने इसका दूसरा नाम ही 'मिश्रक' रख दिया है । इसकी प्रसारभूमि विन्ध्य पर्वत और अगस्त्य (नासिक के समीप) अथवा विन्ध्याचल और कृष्णा (तुंगभद्रा) के बीच है । वेसर शैली के मंदिर नागर और द्राविड़ क्षेत्रों के बीच में मिलते हैं । इस भूखंड को साधारण रूप से दकन कह सकते हैं । 'समरांगणसूत्रधार' में इसीसे वेसर का उल्लेख उसके दूसरे नाम वाराट (अथवा

---

१ कुमारस्वामी : हिस्ट्री आफ़ इण्डियन ऐण्ड इण्डोनेशियन आर्ट, पृष्ठ १०६; स्मिथ : हिस्ट्री आफ़ फ़ाइन आर्ट इन इण्डिया एण्ड सिलोन, पृष्ठ ३६.

२ कुमारस्वामी, वही ; स्मिथ, वही, पृष्ठ २५.

३ कुमारस्वामी, वही ; स्मिथ, वही, पृष्ठ ४४.

वाराड़) से हुआ है। वाराट वराड को सूचित करता है, इससे वेसर की वह भौगोलिक संज्ञा है। वराड (वरार, प्राचीन विदर्भ) का विस्तार नर्मदा से कृष्णा तक है। परन्तु इन शैलियों के प्रसार का अनुबन्ध सर्वथा अनुल्लंघनीय नहीं है। इससे नागर शैली के कुछ मंदिर दक्षिण में भी मिले हैं और द्राविड़ शैली के उत्तर में। वृन्दाबन का विशाल वैष्णव मंदिर द्राविड़ शैली का ही है, गोपुरम् से संयुक्त। इस प्रकार की शैली भी अपनी सीमाएँ भेदकर दक्षिण-उत्तर चली गई है। इस मिश्रित शैली के मंदिर पश्चात्कालीन चालुक्य नरेशों ने कन्नड़ ज़िलों में और होयसल राजाओं ने मैसूर में बनवाये। वेसर शैली के मंदिरों के निर्माता ये दोनों राजकुल इतिहास के कालक्रम से तब उदित हुए जब नागर और द्राविड़ दोनों शैलियाँ विकसित हो चुकी थीं, जिससे वेसर रूप में उनका मिश्रण संभव हो सका। उत्तरी और दक्षिणी दो शक्तिम शैलियों के परस्पर संपर्क का यह अनिवार्य परिणाम था। दोनों का क्षेत्र बड़ा होने से उनके बीच एक क्षेत्र स्वत: बन गया और वेसर शैली उसमें फूली-फली। इस प्रकार भारत की समूची भूमि शैली द्वारा तीन भागों में बँट गई : हिमालय से विन्ध्याचल के बीच नागर, कृष्णा से कुमारी अन्तरीप के बीच द्राविड़, और दोनों के बीच—विन्ध्याचल से कृष्णा तक—मिश्रित वेसर। पूर्व चालुक्यों के समय द्राविड़ विन्यास और नागर क्रिया, और उत्तर चालुक्य काल में नागर विन्यास और द्राविड़ क्रिया। और इस मिश्रण का रूप यह था कि इस प्रकार के मंदिर या तो वृक्षायत होते थे या द्व्याश्रवृत्त अर्थात् ऐसे कि उनके आमने-सामने के दोपहल सीधे होते थे और दूसरे दोनों झुके हुए। वे नीचे ग्रीवा तक वर्गाकार भी होते थे और ऊपर वृत्ताकार, जिससे गोलाकार शिखर उन पर विराज सकें।

अनेक बार जाति विमानों के निर्माण में नागर, द्राविड़ और वेसर तीनों शैलियों का एक साथ योग हुआ है। एक साथ बने हुए इन मंदिरों की व्यवस्था इस प्रकार होती है। उत्तर, उत्तर-

पश्चिम और उत्तर-पूर्व में नागर, दक्षिण, दक्षिण-पश्चिम, और दक्षिण-पूर्व में द्राविड़, और पश्चिम अर्थात् बीच में वेसर। भाव यह है कि देश की मंदिर शैली संबंधी दिशा पर कला यहाँ भी कायम रखी जाती है, जैसे उत्तर में नागर शैली के मन्दिर, दक्षिण में द्राविड़ शैली के मंदिर और बीच में वेसर शैली के मंदिर। उत्तर में इस प्रकार के तीनों शैलियों से संयुक्त मंदिर-निर्माण की पद्धति नहीं रही है।

यहाँ एक महत्त्व की बात का उल्लेख कर देना आवश्यक प्रतीत होता है। भारतीय मंदिर-निर्माण की परम्परा में मय असुर का नाम प्राय: आया है। सभी महत्व के लक्षणग्रंथों में उसका उल्लेख हुआ है। 'बृहत्संहिता' से लेकर 'ईशानशिवगुरु-देवपद्धति' तक में निरन्तर मय का नाम आदर से लिया गया है। वस्तुत: इस दूसरे ग्रंथ में तो मय एक विशिष्ट वास्तु-शैली का प्रवर्तक है। वराहमिहिर ने वास्तु के आचार्यों में विश्वकर्मा और मय दोनों का उल्लेख किया है और उनके परम्पर-विरोधी मतों की भी चर्चा की है, विरोध का निराकरण भी किया है। 'ईशानशिवगुरुदेवपद्धति' में मय को असाधारण महत्त्व दिया गया है। वास्तु की परम्परा के अनुसार वह असुरों का शिल्पी है, जैसे विश्वकर्मा देवों का वास्तुकार। ईसा पूर्व आठवीं-सातवीं सदियों में असुर देश (असीरिया) में वास्तु का अद्भुत विकास हुआ था।[१] असुर, निनेवे आदि के राजप्रासाद और शव-समाधियाँ अनेक देशों के लिए आदर्श बनी थीं। बड़े कुतूहल का विषय है कि असुर देश के निनेवे नगर में लेयार्ड[२] ने जो खुदाई की है उसमें गोलाई और शिखरमंडित कब्रें मिली हैं।[३]

---

१ हाल : दि ऐन्शेन्ट हिस्ट्री आफ़ द फ़ार ईस्ट, पृ० ५१५.

२ निनेवे ऐण्ड इट्स रिमेंन्स; हिस्टोरियन्स हिस्ट्री, पृ० ५४७-४८.

३ देखिए, हैवेल : ए हैण्डबुक आफ़ इण्डियन आर्ट, चित्र न० २०६, पृ० ७२ के सामने हैवेल मन्दिरों के शिखरों और स्तूपों का आरम्भ मेसोपोटामिया से मानते हैं। दे० वही।

इनमें शिखरवाला अभिप्राय तो नागर मंदिर से सर्वथा मिलता है। उन्हें देखकर कोई भी कह सकता है कि दोनों के विन्यास और क्रिया समान हैं। नीचे चौकोर आधार और दीवारें, ऊपर झुकी हुई रेखाओंवाला शिखर।

नागर आदि शैलियों के सम्बन्ध में एक महत्त्व की बात स्मरण रखने की यह है कि उनके वास्तु में ब्राह्मण, बौद्ध, जैन का भेद नहीं रखा गया है। उनका विधान धर्मपरक अथवा सांप्रदायिक है ही नहीं, सारा वास्तु मात्र भारतीय है। दक्षिण, उत्तर, मध्य की तीन विशिष्ट शैलियाँ हैं जिनसे स्थानीय शाखाएँ फूटी हैं और प्रांतीय वन गये हैं। उनमें निश्चय निजी स्थानीय विकास है पर वे सभी अपनी लक्षणाओं से प्रधान शैलियाँ स्पष्टतः प्रगट करते हैं। और उन्हींके वीच जव कभी शैलीभिन्न परम्परा के, जैसे उत्तर में द्राविड़ और दक्षिण में नागर, मंदिर आ जाते हैं तब उनका अन्तर प्रत्यक्ष झलक जाता है।

इन्हीं प्रांतीय मंदिरों के साथ प्रांतीय संस्कृतियाँ भी अनेक प्रकार से बँधी रही हैं। इनके मंडपों का उपयोग साधारणतः नाटकों के रंगमंच के अर्थ में किया गया है। पिछले काल की शिव, विष्णु आदि की धार्मिक लीलाएँ भी, जिनका सीधा सम्बन्ध प्राकृतों और जनबोलियों से रहा है, वहाँ खेली गई हैं। फिर धीरे-धीरे संस्कृत के स्तोत्रों के पश्चात्, अथवा पिछले काल में, प्राचीन भाषाओं के उदय होने पर हिन्दी आदि में लिखे स्तोत्रों द्वारा इन देवकुलों में आराधना की गई है। कालान्तर में जो श्रावण मास में सावनी आदि गाने की परिपाटी चली वह प्राचीन होती हुई भी भाषा की दृष्टि से नई थी और उसके उत्सवों में हिन्दी आदि के ही भजन गाये जाने लगे थे। हिन्दी भजन के उदय और प्रसार का इन मंदिरों से खासा सम्बन्ध है। उसके विकास में मंदिरों के वातावरण का घना योग रहा है। दक्षिण के अलवारों का साहित्य तो वड़े परिमाण में उस

संपर्क से बना और निकला। इसी प्रकार महाराष्ट्र, बंगला, मध्यदेश सर्वत्र, विशेषकर वैष्णवों की परम्परा में, मराठी, बंगला, हिन्दी में भजनों की रचना हुई। वहाँ उनका निरन्तर गायन हुआ और वे परिमाण तथा माधुर्य दोनों में सम्पन्न हुए। भजन का भक्ति से और भक्ति का मंदिरों से कितना सम्बन्ध है, कहना न होगा।

वास्तुसम्बन्धी विविध निर्माणों में दो प्रधान भेद किए जा सकते हैं: १. धार्मिक और २. लौकिक। धार्मिक भेद के अन्तर्गत भी शिल्प के अनेक प्रकार उपलवध हैं जिनके विशेष उपभेद स्तूप, चैत्य, विहार, मंदिर और स्तम्व हैं। लौकिक परम्परा में राजप्रासाद, दुर्ग, सार्वजनिक आवास आदि आते हैं। इनका उल्लेख हम बाद में करेंगे। पहले धार्मिक वास्तु-प्रकारों पर विचार कर लेना समीचीन होगा। उनमें भी वस्तुतः स्तूप, चैत्य आदि का ऐतिहासिक अनुक्रम से अध्ययन पहले होना चाहिए था, परन्तु चूँकि उनकी शैलियों का उल्लेख पहले हो चुका है, मंदिर के शिल्प और वितरण पर विचार हम पहले करेंगे।

**धार्मिक मंदिर**

चौकोर गर्भगृह के ऊपर झुकी रेखाओं से संयुक्त पिरामिडनुमा विमान शिखरवाले नागर मंदिर नर्मदा के दक्षिण इने-गिने ही हैं। उनका प्रसार हिमालय और विन्ध्याचल के बीच ही है। उनकी, जैसा पहले कहा जा चुका है, अपनी-अपनी स्थानीयता बन गई है। पंजाब-हिमालय, कश्मीर, राजपूताना, पश्चिमी भारत, गंगा की घाटी, मध्य प्रदेश, उड़ीसा, बंगाल आदि विविध प्रदेशों में अपनी-अपनी शैली के प्रायः ६०० ई० और १३०० ई० के बीच हज़ारों मन्दिर बने जिनका नीचे संक्षेपतः उल्लेख करेंगे।

पंजाब-हिमालय के मंदिरों की ही पर्वतीय संज्ञा है क्योंकि उनका विस्तार पंजाब प्रांत के हिमालयवर्ती मसरूर, कांगड़ा, कुलू, बाजौड़ा, हाट आदि के प्रदेशों में है। इनमें सबसे विशिष्ट आठवीं-नवीं सदी के एक चट्टान में कटे मसरूर और काँगड़ा के मंदिर

है। मंडप और पत्र-कलशमंडित स्तम्भोंवाले नवीं सदी के मंदिर बैजनाथ में हैं। हाट, बाजौड़ा और कुलू के विश्वेश्वर मंदिर संभवतः दसवीं सदी के बने हैं। चम्बा के अनेक स्थानों में अभिराम मंदिर बने जो आज भी अपने सौन्दर्य के धनी हैं। इनमें ब्रह्मौर और चत्राढ़ी के विशेष दर्शनीय हैं। इन सभी मंदिरों में अधिकतर शिव का परिवार मूर्त है। ये मंदिर कुछ और प्राचीन, संभवतः आठवीं सदी के हैं। कुमायूं और अलमोड़े ज़िलों में भी प्रायः तभी के सुन्दर पर्वतीय मंदिर विद्यमान हैं। मसरूर और काँगड़ा के पर्वत के मंदिरों को छोड़ शेष सभी पत्थर की ईंटों के बने हैं।

इनकी तरह का एक ही चट्टान का नागर शैली का बना बस एक और मंदिर हिमालय के प्रसार से बाहर है, धमनार ( राजपूताने ) में। वह धर्मनाथ का वैष्णव मंदिर है। लगभग ८०० ई० के गुजरात और राजपूताने के नागर मंदिरों में स्थानीयता के कारण शैली में तनिक अंतर पड़ गया है। उनके स्तम्भ अद्भुत कौशल और विविध काल्पनिक अभिप्रायों से उत्खचित हैं। अधिकतर उनकी छतें बहुमूल्य संगमरमर की बनी हुई हैं जिनसे असाधारण सुन्दर कोरी लटकनें लटकी हुई हैं। माउन्ट आबू के संगमरमर के बने दो जैन मंदिर इस शैली के सर्वोत्तम उदाहरण हैं। उनकी दीवारों, छतों और स्तम्भों पर तनिक भी भूमि नहीं बची जो अभिराम उत्खचनों से न भर दी गई हो। इनमें आदिनाथ का मंदिर १०३१ ई० में राजमंत्री विमल ने बनवाया, दूसरे को ठीक दो सौ वर्ष बाद १२३० ई० में तेजपाल ने बनवाया। दोनों के निर्माण-काल में इतना अंतर होते हुए भी उनका परस्पर सादृश्य आश्चर्यजनक है। ये सभी मंदिर वास्तुकार्य के विस्मय हैं और दृश्यों की भाववत् कोमलता, छवि और माधुर्य तथा डिज़ाइनों की अनन्त सम्पदा में अनुपम हैं।

जोधपुर के ओसिया गाँव में आठवीं-नवीं सदी का बना सूर्य का सुन्दर मंदिर है। उसका शिखर खजुराहो और आबू के

मंदिरों के अभिराम शिखरों से टक्कर लेता है। लगता है जैसे वही उनका अनुकार्य रहा हो। ओसिया में अनेक मंदिर हैं, पर्याप्त ऊँचे, कम-से-कम बारह-पंद्रह, जैन और ब्राह्मण दोनों।

कश्मीर और नेपाल के नागर मंदिर भी वस्तुतः पर्वतीय परम्परा के ही हैं। कश्मीर की वैसे चम्बा आदि के मंदिरों से स्वतंत्र अपनी परम्परा है जो बाद में मध्य पंजाब अथवा पश्चिम के मंदिरों पर भी उतर आई है। इस प्रकार के मंदिर साधारणतः लघ्वाकृतिक हैं यद्यपि उनमें शालीनता लाने के लिए जब-तब विशाल दीवारों से घिरा प्रांगण जोड़ दिया गया है। ऐसे मंदिर ७५० ई० और १२०० के बीच बने हैं। इनमें प्रधान कश्मीर के प्रसिद्ध दिग्विजयी सम्राट् ललितादित्य (७२४-६०) का बनवाया आठवीं सदी का मार्तंड मंदिर है। सूर्य के मंदिर इस देश में अपेक्षाकृत कम हैं। उन्हीं अल्पसंख्यक मंदिरों में मार्तंड का यह मंदिर केवल ६० फुट लम्बा और ३८ फुट चौड़ा है। उसके दोनों ओर दो पक्ष जोड़ दिये गये हैं। उसका आँगन घेरने-वाली प्राचीरें अवश्य भीतर से २२० फुट लंबी और १४२ फुट चौड़ी हैं। दीवारों में ८४ खंभे बने हैं। ऊपर की छत उड़ गई है। खंभे सर्वथा ग्रीक-दोरिक परम्परा के हैं।[१] मेहराबें तिकोनी हैं। अवन्तिवर्मा (८५५-८३) के समय के बने वन्तुपुर (अवन्तिपुर) के मंदिर इससे कहीं अधिक अलंकृत हैं।

नेपाल के छोटे से देश में भी दो हज़ार से अधिक मंदिर हैं। उनकी शैली वस्तुतः भारतीय शैली से इतनी प्रभावित नहीं जितनी चीनी से। छत तो उनकी ठोस है पर दीवारें प्रायः नहीं के बराबर हैं। खम्भों के बीच झिलमिली-सी दीवारें खड़ी हैं।

उड़ीसा और गंगा की घाटी के मंदिर आकार-प्रकार में अभिनव संपदा लिये खड़े हुए। उड़ीसा के सर्वोत्तम मंदिर पुरी ज़िले में हैं। नवीं-दसवीं और तेरहवीं सदी के बीच बने भुवनेश्वर

१ स्मिथ : हिस्ट्री०, पृ० ४६, चित्र १७.

के मंदिरों की संख्या कई सौ है। अनुपम मूर्तियों से अलंकृत भुवनेश्वर के मंदिर अपनी शैली में अप्रतिम हैं। इनमें प्राचीनतर मंदिरों के शिखर छोटे, प्रायः सपाट हैं। उनके मंडप ठोस नीची छतवाले कमरे मात्र हैं। परन्तु क्षितिजाकार और ऊर्ध्वाकार रेखाओं के संयोग ने उनमें पर्याप्त शालीनता भर दी है। मुक्तेश्वर का मंदिर भुवनेश्वर के इस प्रकार के मंदिरों में विशिष्ट है। यह ९५० ई० के लगभग बना। उस श्रेणी के मंदिरों में प्राचीनतम परशुरामेश्वर है, आठवीं सदी के मध्य का। भुवनेश्वर के मंदिरों में सबसे उन्नत और शालीन लगभग १००० ई० का बना लिंगराज का मंदिर है। उसके वर्गाकार मंडप की छत काफ़ी ऊँची है और गर्भ-गृह के विमान का शिखर आकाश में सीधा दूर तक उठता चला गया है, सर्वथा सीधी रेखाओं में जो केवल चोटी पर पहुँच कर ही झुकी हैं। आधार पर और अन्यत्र आश्चर्यजनक सुन्दर आकृतियाँ मूर्त हैं जो मन्दिर के अलंकरण का कार्य करती हैं। इसी अलंकृत शैली का दूसरा प्रसिद्ध मन्दिर बारहवीं-तेरहवीं सदी का बना राजरानी के नाम से प्रसिद्ध है। उसके स्तम्भ विशेष विशालता लिये हुए हैं जो और मन्दिरों से भिन्न हैं।

उड़ीसा के मंदिरों की चूड़ामणि कनारक (कोणार्क) का 'काला पगोडा' है, सूर्य का मंदिर। भारत के सुन्दरतम मंदिरों में उसकी गणना है। बड़े यशस्वी शिल्पियों ने उसकी मूर्तियों की काया कोरी होगी और उसके शालीन कलेवर को खड़ा किया होगा। अभी शायद वह मंदिर पूरा भी न हुआ था कि छोड़ दिया गया। उसका शिखर अब भी अपूर्ण है और अब तो समुद्र की लवणाक्त वायु ने उसके कलेवर को भी ढीला कर दिया है। अबुल फ़ज़ल ने इस मंदिर की भूरि-भूरि प्रशंसा की है। आश्चर्य की बात तो यह है कि इसका निर्माणकाल कला की दृष्टि से प्रायः असफल था। इसका निर्माण केसरी कुल के राजा नरसिंह ने १२४० और १२८० के बीच कराया था। इसके अलंकरण की अभिरामता, ग्रहों की गति, रथचक्रों का छन्दस्, अश्वों की शक्ति वास्तु की मर्यादा

की सीमायें खींच देते हैं। इस काल का बना पुरी का जगन्नाथ का मंदिर प्राणहीन है, यद्यपि उड़ीसा के मंदिरों में पूजा की दृष्टि से वही अकेला जीवित है और भारत के बृहत्तम मंदिरों में गिना जाता है।

मध्य देश के प्रायः वीच बने खजुराहो के मंदिर-समूह भी अपनी भव्यता, शिल्पशक्ति और कायिक दिव्यता में बेजोड़ हैं। भुवनेश्वर के समूह में विविधता और संख्या के साथ-साथ ही आकृति और सौन्दर्य की शालीनता है। बुन्देलखंड के इस मंदिर-समूह की महिमा उससे कुछ घटकर है। खजुराहो के मंदिरों पर भी भुवनेश्वर, कोणार्क और पुरी के मंदिरों की ही भाँति यौन चित्रार्घ बने हुए हैं और उनके बाह्यालंकरणों की संख्या और छवि भी अमित है। चंदेल राजाओं ने अपनी इस मानस राजधानी को अद्‌भुत मनोयोग से सजाया। प्रायः १००० ई० के बने सुन्दरतम मंदिरों की संख्या बीस से ऊपर है। इनमें कन्दरिया महादेव (कण्डार्य) का मंदिर तो अनुपम भव्य है। इसके बाह्या-लंकरणों की आकृतियों के अंग-अंग में भंगिमा भरी है।

इसी वर्ग और प्रसार के ग्वालियर के मंदिर भी हैं। उसी काल सास-बहू का प्रसिद्ध वैष्णव मंदिर वहाँ बना था। 'तेली का मंदिर' भी विष्णु का ही है, और यद्यपि शैली इसकी साधारणतः नागर है, इसकी छत पीपानुमा होने के कारण पुरी के बैताल देवल की भाँति द्राविड़ शैली में बनी है। मध्य भारत के प्रायः सारे प्रसार में नागर शैली के मंदिर खजुराहो की परम्परा में इस काल बने।

उत्तर भारत में, विशेषकर गंगा की घाटी में, अनेक मंदिर ईंटों के भी बने। इस प्रकार का प्राचीनतम गुप्तकालीन मंदिर कानपुर के ज़िले में भीतरगाँव का है जिसका उल्लेख पहले किया जा चुका है। उसकी प्रत्येक ईंट अभिराम साँचे में ढली है। उसी की परम्परा में बोधगया का मंदिर भी है, जो आज तक खड़ा है, ऊँचा, असाधारण वैमानिक शिखरसम्पन्न, असामान्य

शालीन। दक्षिण बिहार में कोंच का मंदिर भी ईंटों का है, संभवतः आठवीं सदी का बना। मध्य प्रदेश के सिरपुर का मंदिर भी ईंटों का ही है और उस प्रदेश के देवालयों में सुन्दरतम है। इन मंदिरों के चौकठ, बाजू और स्तम्भ पत्थर के हैं, चित्रखचनों से भरे, विशाल और भारी। मीरपुर ख़ास का दर्शनीय स्तूप भी ईंटों का ही है, प्रायः इसी पूर्व-मध्य काल का बना। यही मंदिर भुवनेश्वर और खजुराहो के मंदिरों के अनुकार्य बने।

बंगाल के मंदिरों की ओर संकेत किये बिना उस काल के नागर मंदिरों का प्रसंग समाप्त नहीं किया जा सकता। उस काल तक मुसलमान भारत में बस चुके थे और उनका शिल्प देशी वास्तु को प्रभावित करने लगा था। बंगाल के मंदिरों पर उनका पर्याप्त प्रभाव पड़ा। उनकी झुकी कोर्निस वहाँ की सुन्दर कुटियों की बाँस की वलभियों के अनुकरण में बनी। उनके शिखरों की ऊर्ध्वगत रेखाओं का झुकाव निजी शैली का परिणाम है। उनमें प्रधान विमान के चारों ओर चार, आठ अथवा सोलह छोटे विमानों का परिवार होता है। दिनाजपुर ज़िले के कान्तोनगर का मंदिर इसी परम्परा की कृति है।

## द्राविड़

द्राविड़ (दाक्षिणात्य) शैली के मंदिर कृष्णा, तुंगभद्रा, नासिक और कुमारी अन्तरीप के बीच बने, तन्जौर, मदुरा, कांची, हम्पी, विजयनगर आदि में। उन्हें चोलों, पांड्यों, पल्लवों और विजयनगर के राजाओं ने बनाकर अपने नाम अमर किये।

दक्षिण के मंदिर अकेले या परिवार रूप में होते हैं, विशाल गोपुरम् (द्वार) वाले, प्राचीरों, प्रांगणों वाले जिनमें तालाब, आदि बने होते हैं। अनेक वार तो, जैसे पहले लिखा जा चुका है, इन मंदिरों के द्वार ही इतने ऊँचे और अलंकृत होते हैं कि वे प्रधान मंदिर के विमान को ढक लेते हैं। परन्तु तन्जौर, गंगेकोंडपुरम् और कांजीवरम् के मंदिर इतने ऊँचे और उनके

गोपुरम् इतने अनुकूलाकृतिक हैं कि दोनों का सम्बन्ध वास्तु की रमणीयता को बढ़ाता है, घटाता नहीं।

इस द्राविड़ शैली का आरम्भ ईसा की सातवीं सदी में हुआ जब मामल्लपुरम् (मद्रास से ३५ मील दक्षिण) में पहला पर्वतीय वर्ग का 'रथ' धर्मराजरथ बना। धर्मराजरथ को साधारणतः सात पगोडा कहते हैं। उनका निर्माण पल्लव राजाओं ने कराया। उनमें से कुछ के शिखर गुम्बजदार हैं, कुछ के पीपानुमा। इस प्रकार के मंदिरों के विकास की दूसरी मंज़िल उन्हीं पल्लवों ने अपनी राजधानी कांची (कांजीवरम्) में सर की। वहाँ भी मंदिरों की परम्परा खड़ी हुई। इनमें दो प्रधान मंदिर कैलाशनाथ और वैकुण्ठ वेरुमल नरसिंहवर्मन् के प्रपौत्र राजसिंह के पुत्रों ने बनवाये। गुम्बजनुमा छतवाला प्रसिद्ध मुक्तेश्वर का मंदिर वहाँ आठवीं सदी के पूर्वार्द्ध में बना।

तन्जौर के चोलों का अध्यवसाय भी मंदिर-निर्माण में स्तुत्य रहा। प्रतापी राजराज और उसके पुत्र राजेन्द्र ने अपने पराक्रम से जो अतुल वैभव जीता उसे वास्तु के अभिप्रायों पर चढ़ा दिया। तन्जौर के विशाल बृहदीश्वर, सुब्रह्मण्य आदि मंदिर उन्होंने ९८५ और १०३५ के बीच खड़े किये। इन मंदिरों की काया असाधारण भूमि घेरे हुए है। इनके प्रांगण, प्रदक्षिणाभूमि, परवर्ती कमरे, प्राचीर और गोपुर द्वार सभी असाधारण हैं।

द्राविड़ मंदिरों की शैली के विकास की अन्तिम मंज़िल सोलहवीं सदी से आरंभ होती है। इसी काल विशेषतः जाति मंदिर (अनेक संख्या में परिवार-मंदिर) अपना अपरिमित संसार लिये खड़े हुए। इस प्रकार के विशाल मंदिर-परिवारों की संख्या तीस से ऊपर है। रामेश्वरम्, तिन्नेवेली, मदुरा आदि में इनका निर्माण हुआ था। मदुरा का प्रसिद्ध मंदिर स्थानीय सामन्त राजा तिरुमल नायक (१६२३-५९) ने बनवाया। इस प्रकार के मंदिरों में असाधारण लंबे ढके बरामदे होते हैं। रामेश्वरम् का बरामदा तो ४००० फुट लंबा है। इनकी भीतर-बाहर की दीवारें अनन्त

मूर्तियों से भरी होती हैं परन्तु अपनी कायिक शोभा में भुवनेश्वर आदि के अलंकरणों के सामने वे निश्चय नगण्य हैं। इस परंपरा का एक मंदिर अपनी शैली के परिवार के बाहर दकन में खड़ा हुआ। वह एलोरा के दरीगृहों में विख्यात कैलाश मंदिर है, पर्वतीय, उस शैली का सबसे विस्मयजनक वास्तु। उसे आठवीं सदी के राष्ट्रकूट राजा दन्तिदुर्ग और कृष्ण ने बनवाया। उसमें लगे अध्यवसाय, श्रम और व्यय का अनुमान कर मनुष्य चकित रह जाता है। है यह पल्लव शैली का विकास, पर इसकी अलंकार संपदा और मूर्तियाँ दक्षिण के सारे मंदिरों की मूर्तियों में सुन्दर हैं। बीजापुर ज़िले में बादामी और पट्टदकाल के मंदिर भी इसी प्रकार के हैं पर वे कटे नहीं, पत्थर की ईंटों से बने हैं। बेलारी (मद्रास) ज़िले के हंपी गाँव के चतुर्दिक पन्द्रहवीं, सोलहवीं सदियों के विजयनगर के भग्नावशेष हैं। वहाँ द्राविड़ शैली का एक निजी स्थानीय रूप विकसित हुआ है। मंदिर सर्वथा दाक्षिणात्य शैली के हैं, स्तम्भ-मंडपों और गोपुर-द्वारों से युक्त, परन्तु उसके राजप्रासादों की निर्माण-शैली मुस्लिम वास्तु से अनेक प्रकार से प्रभावित है।

## वेसर

वेसर शैली उत्तर और दक्षिण की शैलियों का सम्मिलित विकास है। दोनों के संमिश्रण से वह बनी है। जिस प्रकार शैली रूप में उसका उन दोनों के बीच स्थान है उसी प्रकार स्थान की दृष्टि से भी वह दोनों की मध्यवर्ती है। उसके मंदिर उत्तर और दक्षिण के बीच दकन में मिलते हैं। उसे कुछ वास्तु-विशारदों ने चालुक्य शैली भी कहा है परन्तु यथार्थतः वह पिछले चालुक्य मंदिरों की ही शैली है। पूर्वकालीन चालुक्य शैली इससे भिन्न दाक्षिणात्य है। फिर होयसल मंदिरों की भी यही शैली होने से इसे मात्र चालुक्य कहना उचित नहीं जान पड़ता। वस्तुतः उस दिशा में होयसलों ने अधिक प्रयास किया और यदि एक राजकुल

से ही उस शैली का नाम संबद्ध होना हो तो होयसल राजकुल उस नाम का अधिक अधिकारी हो सकता है। वेसर शैली के सुन्दरतम नमूने मैसूर राज्य में हलेविद और वेलूर में हैं।

इस शैली के मंदिरों का आधार ऋद्‌चित्रादर्घो से उमगा रहता है। उसके अनेक पहल होते हैं, रूप उसका तारा सा होता है, उसका विमानशिखर छोटा और फैले कलश से मंडित होता है। तिपलूर तालुक ( मैसूर ) के गाँव नुग्गेहल्ली का विष्णु मंदिर उसका कांतिमय उदाहरण है। सोमनाथपुर वाले मंदिर से उस शैली की तारकाकृति स्पष्ट हो जाती है। वेलूर के प्रसिद्ध मन्दिर का निर्माण होयसल नरेश वोट्टिग ने १११७ ई० में कराया था। पहले वह जैन था पर वाद में वैष्णव हो गया और उसी लगन का परिणाम यह अभिराम मंदिर था। इस शैली के सर्वोत्तम मंदिर हलेविद में वने, इस काल से कुछ वाद। होयसलेश्वर और केदारेश्वर के जोड़ के मंदिर इस शैली में दूसरे नहीं वने। केदारेश्वर तो एक वट की जड़ों के नींव में घुस आने से गिर गया है पर होयसलेश्वर पहले की ही भाँति शालीन खड़ा है। उसकी काया पर इंच भर भूमि नहीं वची जो मूर्तमंडनों से भर न दी गई हो। उनसे भिन्न कोई स्थान नहीं जहाँ आँखें ठहर सकें। सात-सात सौ फुट की अटूट पंक्ति तक अलंकरणों की परंपरा चली गई है। इस प्रकार के मंदिरों में साधारणतः दो-दो मंदिर होते हैं जो पास ही पास खड़े परस्पर जुड़े रहते हैं। सोमनाथपुर वाले वास्तु पिंड में तीन-तीन मंदिर एक साथ जुड़े हैं। मैसूर के मंदिरों की एक विशेषता यह है कि उनकी अलंकार मूर्तियों के निर्माता-कोरकों के नाम उनके नीचे लिखे हुए हैं जिससे उनके कलाकारों का पता चल जाता है। इससे कला के अध्येता और शिल्प के इतिहास का कार्य सुगम हो जाता है। यह रीति उत्तर के मंदिरों में तो नहीं ही चली, दक्षिण के अन्य मंदिरों पर भी इसका अभाव है। होयसलेश्वर मंदिर पर इस प्रकार के वारह हस्ताक्षर हैं, वेलूर के मन्दिर पर चौदह, प्रत्येक दूसरे से भिन्न।

सोमनाथपुर के मन्दिर पर भी आठ विविध शिल्पियों के हस्ताक्षर हैं जिनसे पता चलता है कि उनमें से एक मल्लितम्म ने अकेले चालीस मूर्तियाँ कोरीं।

## स्तूपादि का इतिहास

### स्तूप

स्तूप, चैत्य और विहार अधिकतर, कम से कम पिछले काल में, एक ही परंपरा के हैं। स्तूप और चैत्य दोनों का उद्देश्य प्रायः एकसा था। दोनों ही अति प्राचीन काल में मृत्यु और शव-समाधि से संपर्क रखते थे, बाद में दोनों भिन्न उद्देश्यों की पूर्ति करने लगे। यहाँ पहले हम स्तूप पर विचार करेंगे।

स्तूप पहले केवल मृत्यु संबंधी थे और उनका उपयोग शव अथवा मृतक की अस्थियाँ रखने में होता था। भारत के प्राचीनतम स्तूप साधारणतः केवल एक प्रकार के टीले हैं। ऐसी एक समाधि, जो आठवीं-सातवीं ई० पू० की है, उत्तर-वैदिक काल की, उत्तर विहार के लौड़िया नन्दनगढ़ में मिली थी।[१] वैदिक काल में मृतक को समाधि देने की भी प्रथा थी और ऋग्वेद के मृत्यु प्रकरण में एक मन्त्र ऐसा भी है जो पृथ्वी से प्रार्थना करता है कि शव को कोमलतापूर्वक वह अपनी कोख में स्थान दे। उसकी मिट्टी उसे अपने भार से न दबाए।[२] जूवो दुब्रुइल का कहना है कि मालाबार की खुदाई में चट्टान खोद कर मध्यवर्ती स्तम्भ पर टिकी वर्तुलाकार जो अस्थिसमाधि मिली है वह खोखला स्तूप ही है और वैदिक काल की है।[३] वेडसा और कुषाणकालीन स्तूप उत्तरी सीरिया

---

[१] कुमारस्वामी : हिस्ट्री आफ़ इण्डियन ऐण्ड इण्डोनेशियन आर्ट, पृ० १०.

[२] ऋग्वेद, १०, १८, १०-११.

[३] वैदिक ऐंटिक्विटीज़, पांडिचेरी और लन्दन, १९२२; लांगहर्स्ट; राककट टूम्ब नियर कालीकट, ए० एस० आई०, ए० आर०, १९११-१२; लोगन : फ़ाइण्ड आफ़ एन्शेन्ट पाटरी इन मालाबार, इं० ऐ०, ८; मालाबार, मद्रास, १८८७.

के मरथ की फ़िनीशी मृतक समाधियों से मिलते हैं।[१] स्तूप अपने उद्देश्य के विचार से मिस्री पिरामिडों से और ठोस बनावट के रूप में बाबुली ज़ग्गुरत से बहुत मिलते हैं। कुछ अजब नहीं कि पिरामिडों और ज़ग्गुरत के वास्तु का प्रभाव इन पर पड़ा हो। यह महत्व की बात है कि जिस रूप में हम स्तूपों को जानते हैं, विशाल ईंटों के रूप में, वे अशोक के बाद ही बने जब सिन्ध और पश्चिमी पंजाब प्रायः सौ वर्ष तक ईरान के अधिकार में रह चुके थे और जब बाबुल, असुर और मिस्र भी ईरान के प्रान्त थे। कुछ आश्चर्य नहीं कि स्तूप का वर्तमान रूप, अशोक की कृतियों की ही भाँति, ईरानी माध्यम से प्रभावित हुआ हो।

इसमें संदेह नहीं कि अपने प्रारंभिक रूप में स्तूप केवल मृत्यु और मृतक आवास से संबंध रखता रहा है। चम्पारन ज़िले के नन्दनगढ़ की मृतक समाधि अथवा टीला का उल्लेख किया जा चुका है। प्राचीनतम स्तूप मिट्टी के इसी प्रकार के मृतक के ऊपर उठाये ठोस टीले हैं। बाद में वे बग़ैर पकाई ईंटों के भी बनने लगे और वही उनका प्रकृत रूप बन गया। पहले उनका उद्देश्य केवल अस्थिसंचय था, बाद में वे निर्वाण अथवा महत्वपूर्ण घटनाओं आदि के स्मारक भी बन गये और तब उनका निर्माण बिना उन्हें अस्थि-स्थापना के लिये खोखला बनाये ज़ग्गुरत की भाँति केवल ठोस पत्थर, ईंट या मिट्टी का होने लगा। वह केवल भक्तिकार्य था। अशोक के संबंध में जो दस हज़ार से अस्सी हज़ार तक के स्तूप बनवाने की किंवदन्ती है वह ऐसे ही स्तूपों का संकेत करती है। फ़ाह्यान लिखता है कि विहारों में मौद्गलायन, सारिपुत्र और आनन्द तथा अभिधर्म, विनय, आदि के लिए स्मारक स्तूप बनाने की प्रथा चल गई थी। ये स्तूप वस्तुतः वेदी के रूप में बना दिये जाते थे। मध्य काल (पाल काल) के मिट्टी आदि के सांचे में ढले छोटे-छोटे स्तूप सामने पतले ऊँचे स्तम्भनुमा स्तूपाकृति लिये

---

[१] कुमारस्वामी : हिस्ट्री०, पृ० १२.

हुए हैं। पूरा ठीकरा इस प्रकार स्वयं स्तूप की आकृति का होता है और उस पर स्तूप की मूर्ति भी उभरी होती है।

हिन्दू समाधि, लगता है, स्तूप के रूप में विकसित न हो सकी, क्योंकि जितने स्तूप अथवा उनके भग्नावशेष आज हमें उपलब्ध हैं वे सभी बौद्धों अथवा जैनों के हैं। वस्तुतः जैनों के स्तूप भी नष्ट हो चुके हैं, बौद्धों के ही अपनी शालीनता लिये खड़े हैं और अपनी आकृति और स्वरूप का हमें परिचय देते हैं। बुद्ध की मृत्यु के कुछ ही काल बाद से अपने वर्तमान रूप में शुरू होकर पिछले काल तक वे लगातार बनते चले गये थे। इनमें विशेष महत्त्व के अनुमानतः अशोक के बनवाये सारनाथ सांची, भरहुत के और कनिष्क के बनवाये पेशावर के हैं।

स्तूपों की आकृति साधारणतः अर्ध वर्तुलाकार है, ऊंची ठोस दिखती। नेपाली सीमा पर बना पिप्रहवा का स्तूप, जो सम्भवतः अशोक से भी प्राचीन और शायद बुद्ध के कुछ ही काल बाद का बना है, व्यास में धरातल पर ११६ फ़ुट है, ऊँचाई उसकी केवल २२ फ़ुट है। सांची के बड़े स्तूप का व्यास आधार पर १२१.६ फ़ुट है, ऊँचाई साढ़े ७७ फ़ुट और उसके पत्थर की वेष्टनी (रेलिंग) की ११ फ़ुट है। उत्तर भारत के अनेक स्तूप २०० से ४०० फ़ुट तक ऊँचे बताये जाते हैं। सिंहल (लंका) के जेतवनाराम दगाबा की ऊंचाई २५१ फ़ुट है।

प्राचीन स्तूप भीतर से खोखले या ठोस कच्ची ईंटों के बने हैं और पत्थर की रेलिंग से घिरे हुए हैं। मिट्टी की ईंटों से बने होने पर भी अक्सर उन्हें पक्की जुड़ाई से ऊपर से ढक देते हैं। सांची और सारनाथ के स्तूप इसी प्रकार के हैं। स्तूपों के नीचे आधार होता है जो मेधि कहलाता है। मेधि की भूमि रेलिंग और स्तूप के बीच प्रदक्षिणाभूमि का काम देती है। मेधि पर सोपानमार्ग से चढ़ते हैं। स्तूप के ठोस मध्यासीन भाग को अंड अथवा गर्भ कहते हैं जो गुम्बजाकार होता है। उसके ऊपर हर्मिका होती है जिससे ऊपर निकली हुई धातुयष्टि नीचे अंड

को भेदती हुई गहरी चली जाती है। यह यष्टि ऊपर के छत्र अथवा छत्रों का दंड बन जाती है। चोटी पर कलश बना होता है जिसे वर्षस्थल कहते हैं। यह स्तूप का साधारण रूप है, वैसे उसके आकार-प्रकार में पीछे परिवर्तन होता गया है।

वेदिका (रेलिंग) के भी, जो स्तूप को घेरती है, अनेक भाग होते हैं। उसका आधार आलम्बन कहलाता है, बीच-बीच में स्तम्भ (थब) होते हैं जिनसे होकर अथवा जिन तक वेदिका दौड़ती है। स्तम्भों में सुराख होते हैं जिन्हें सूचीमुख कहते हैं, उन्हीं में वेदिका की सूची (पड़ो दौड़ती तिपहली पत्थर की वाड़) प्रवेश करती है। सबसे ऊपर की वाड़ 'उष्णीष' (पगड़ी-शीर्ष) कहलाती है। इस वेदिका में चारों दिशाओं में चार तोरणद्वार बने होते हैं। तोरण एक, अथवा एक के ऊपर एक तीन तक, होते हैं। समूची वेदिका और तोरण लकड़ी से बने होने का आभास उत्पन्न करते हैं। उनका विकास बाँस की बनावट से हुआ भी है।

सारनाथ का 'धर्मराजिका' स्तूप सम्भवतः अशोक का ही बनवाया हुआ है। कम से कम उसकी वेदिका पर तो मौर्य पालिश अभी तक लक्षित है और वहाँ के स्तंभ और उसके प्रस्तरीय टेकनीक में कोई अन्तर नहीं है। वह सम्भवतः बुद्ध के प्रथम प्रवचन—धर्म-चक्रप्रवर्तन—की भूमि पर स्मारक-स्वरूप खड़ा हुआ। भरहुत और सांची के स्तूप भी अशोककालीन ही माने जाते हैं यद्यपि उनकी वेदिकायें (रेलिंग) शुंगकाल (ईसवी पूर्व द्वितीय और प्रथम शती) में बनीं। भरहुत की वेदिका खंड रूप में कलकत्ते के इंडियन म्यूज़ियम में सुरक्षित है। इन वेदिकाओं पर उभरी यक्ष-यक्षियों, नागराजों, देवताओं की दीर्घाकृतियाँ असाधारण आकर्षण की बनी हैं। उनके नीचे उनके नाम भी खुदे हुए हैं। उनके अतिरिक्त अनन्त मात्रा में नर-नारियों के वृत्तगत मस्तक, कमल आदि के प्रतीक उन पर उत्कीर्ण हैं। अभी महायान के उदय न होने के कारण बुद्ध की प्रतिमा नहीं बनी थी और उसकी उपस्थिति का बोध बोधिवृक्ष,

छत्र, धर्मचक्रप्रवर्तन, पदचिह्न, पादुका आदि के रूप में ही कराया जाता था। ये प्रतीक वहाँ अत्यन्त आकर्षक बने हैं। जातक चित्रों के अनुकार्य (नकलें) दर्शक को बुद्ध के जीवन की अनेक घटनाओं से परिचित कराते हैं। उस पर बने गज-मृग-वानरों की सजीवता तो संसार की समूची कला में अलभ्य है। भरहुत रेलिंग के स्तम्भों पर बनीं एक विशेष प्रकार की नारी-मूर्तियाँ वृक्ष की शाखा पकड़े वृक्ष के नीचे खड़ी हैं। इनका नाम भारतीय कला-समीक्षा में वृक्षिका, शालभंजिका, यक्षी, यक्षिणी आदि पड़ गया है। इनकी परम्परा कुषाणकालीन रेलिंगों पर और सुथरी और सजीव हुई। बोधगया वाली वेदिका भी भरहुत की ही परम्परा में है। सांची (भोपाल के पास) की रेलिंगों की परम्परा भी यही है पर उनके अर्धचित्रों का छन्दस् (रिदम) इनसे भी तीव्रतर हो गया है। उनकी आकृतियों की विविधता बढ़ गई है और जीवन अनेक सोतों से फूटकर बह चला है। वहाँ मानव (अथवा कला) का सामूहिक रूप प्रस्तुत हुआ है। 'टीम स्पिरिट' में अनेकानेक मानव पशु वहाँ प्रदर्शित हुए हैं। समूचे जलूसों का उत्खचन हुआ है और उनकी गतिमानता दर्शक को आकुल कर देती है। सांची की मूर्तिकला का उल्लेख हम यथा-स्थान करेंगे, यहाँ मात्र उसके स्तूपों का उल्लेख इष्ट है। उसके स्तूप इस देश के स्तूपों में प्रायः सबसे अच्छी दशा में हैं और उसके रेलिंग, तोरण भी प्रकृत अवस्था में अभिराम खड़े हैं। पहले जो स्तूप के अवयवों का वर्णन किया गया है उनका उदा-हरण सांची का विशाल स्तूप ही है।

कुषाण काल (पहली से तीसरी सदी ईसवी तक) की कला के तीन प्रधान केन्द्र थे, मथुरा, सारनाथ और अमरावती। इनमें पहले दो तो कुषाण साम्राज्य के अन्तर्गत थे, तीसरा बाहर था, आन्ध्र-सातवाहनों के साम्राज्य में। उसी काल अनेक स्तूप (गांधार शैली की वेष्ठनी लिये) अफ़गानिस्तान (जो कुषाणों के अधीन था) की भूमि पर बने। उस दिशा का सबसे महत्वपूर्ण,

वस्तुत: कनिष्क के शासन का सबसे अधिक उल्लेखनीय, वास्तु उसका पेशावर वाला स्तूप था जिसका वर्णन चीनी यात्रियों ने किया हैं।[१] उनके वर्णन के अनुसार उसकी कुल ऊँचाई ६३८ फ़ुट थी—आधार, पाँच मंज़िलों का, १५० फ़ुट, अंड (स्तूप) तेरहमंज़िला ४०० फ़ुट और ऊपर का लौह-स्तम्भ (लौह-यष्टि) अनेक सुनहरी तांबे की छतरियों से युक्त ८८ फ़ुट। मथुरा के बौद्ध और जैन स्तूप तो नष्ट हो चुके हैं परन्तु उनकी वेदिकाओं के टूटे खंड मथुरा और लखनऊ के संग्रहालयों में सुरक्षित हैं। उन पर बनी अपार मूर्तिसंपदा भारतीय कला-परम्परा में निजी स्थान रखती है, अनुपम और अतुलनीय है। भरहुत की यक्षी परम्परा वहाँ से इन पर भरपूर विकसित हुई है। पर वह मूर्ति-कला का क्षेत्र है और उसका उल्लेख यथास्थान करेंगे।

मद्रास के गुन्टूर ज़िले में कृष्णा के दक्षिण तट पर खड़ा अमरावती का छोटा-सा कस्बा आज भी उस ऐतिहासिक जदुई नगर का नाम वहन करता है जिसकी अभिराम कला-सम्पदा निकट के धरनीकोट से खोदकर निकाली गई है। उसका प्राचीन स्तूप अपने मूलरूप में संभवत: दूसरी सदी ई० पू० में बना था यद्यपि उसकी मूर्तिराशि अधिकतर कुषाण काल में बनी। स्तूप की पूजा तो प्राय: बारहवीं सदी तक होती आई थी। अठारहवीं-उन्नीसवीं सदी में लालची ज़मींदारों ने, उसकी संगमरमर की पट्टियों के लालच से, उसे नष्ट कर दिया। उसकी रेलिंग आदि की प्रतिमाएँ मद्रास और लन्दन के संग्रहालयों में संग्रहीत हैं। आंध्र अभिलेखों से प्रकट है कि उसकी रेलिंग दूसरी सदी ईसवी में बनी। स्तूप का बाहरी आवरण और वेदिका संगमरमर की

---

१ सुंग-युन : क-नि-सि-क, बील का अनुवाद, पृ० १०३-४; फ़ाह्यान—'फ़ो-कुओ-की', अध्याय ७, (बील, पृ० ३२); हुएनत्सांग —'सि-यु-की', खंड २, बील, १, पृ० ६६; वाटर्स, १, पृ०२०४; अल्बेरूनी के पेशावर के विहार के लिए देखिए अनुवाद, सचाऊ खंड २, पृ० ११.

बनी हैं जिन पर उस काल की मूर्तिकला के आश्चर्यजनक आदर्श उत्कीर्ण हैं। इतनी संमोहक देहयष्टि कभी कहीं पत्थर के पृष्ठ से नहीं उभारी गई। अमरावती के स्तूप की रेलिंग उस परिवार की मुकुटमणि है, व्यास में १९२ फ़ुट, परिधि में ६०० फ़ुट, ऊँचाई में १३-१४ फ़ुट।

गुप्तकाल में भी प्रायः सर्वत्र ही स्तूप बने। अधिकतर वे गन्धार प्रदेश, मथुरा आदि में थे। मध्य देश के पूर्वी भाग में उनमें से दो आज भी खड़े हैं, एक सारनाथ में, दूसरा पटना के पास राजगिर में। सारनाथ का धमेख (धर्माख्य) संभवतः छठी सदी ईसवी का है। वृत्ताकार ऊँचा अंड बिना आधार के जैसे धरती फाड़कर उठ आया है। उसके ऊपर वर्तुलाकार ईंट का संभार १२८ फ़ुट ऊँचा है। दूसरा राजगिर की जरासन्ध की बैठक का, उससे कुछ बाद का है। इसी प्रकार के पत्थर में कटे कुछ स्तूप अजन्ता आदि के चैत्यगृहों में भी हैं।

स्तम्भों की यह परम्परा पिछले काल तक लगातार चलती रही थी। उनमें से कुछ सांची के स्तूपों (जिनमें बुद्ध के शिष्य सारिपुत्र और मौद्गलायन की अस्थियाँ संचित हैं) की भाँति अस्थि रखने के लिए खोखले बने थे, कुछ केवल स्मारक रूप में ठोस। पीछे साधारणतः पूजा के लिए ही उनका निर्माण होने लगा। तीर्थस्थान पर जाते ही बौद्ध लोग अपने निजी दो-दो, चार-चार, दस-दस फ़ुट ऊँचे स्तूप खड़े कर लेते थे। दसवीं-ग्यारहवीं सदियों में उनके प्रतीकात्मक साँचे में ढले उभरे मिट्टी-चूने के ठीकरे भी स्तूप की आकृति के अपनी भूमि पर स्तूप की आकृति उभारे प्रस्तुत हुए।

## चैत्य

चैत्य शब्द 'चो' धातु से बना है जिसका अर्थ है चयन करना, राशि करना, एक के ऊपर एक को लादना। इसी से 'चित्य' बना जिसका अर्थ वेदी था। उसका संबंध धीरे-धीरे आचार्य, महान्

व्यक्तियों आदि के स्मारकों से हो गया। इसके अतिरिक्त अन्य पवित्र वस्तुओं के साथ भी इस शब्द का उपयोग होने लगा। चैत्य वृक्ष न्यग्रोध, पीपल आदि उन वृक्षों की संज्ञा हुई जिनकी पूजा होती थी। चैत्य वृक्षों की ओर अथर्ववेद तक में संकेत हुआ है। इन वृक्षों का भी कला में वेदिकावेष्टित (रेलिंग से घिरा) चित्रण हुआ है। पहले लिखा जा चुका है कि चैत्यों का स्तूपों के साथ घना संबंध रहा है। अनेक बार तो चैत्य शब्द का प्रयोग वहाँ हुआ है जहाँ स्तूप का होना चाहिये था, अर्थात् दोनों पर्याय की भाँति प्रयुक्त हुए हैं, पवित्र स्थलों के अर्थ में। इसी अर्थ में अनाथपिंडिक ने सारिपुत्र की अस्थिपेटिका रखने के लिए चौ-मंज़िला चैत्य बनवाया। उसके शिखर पर छत्र बना था। स्पष्टतः यह स्तूप का रूप है। दुल्वा भी इस शब्द का इसी अर्थ में प्रयोग करता है। उसके अनुसार भिक्षु के शव को घास और पत्तियों से ढक कर उस पर चैत्य का निर्माण होना चाहिये। अजन्ता, एलोरा में और अन्यत्र भी गुम्बजनुमा कमरे में बने स्तूप के साथ समूचे वास्तु का नाम चैत्य है, देवालय के अर्थ में। इसी अर्थ में, देवा-यतन, देवगृह, देवालय के अर्थ में, रामायण, महाभारत आदि में भी इस शब्द का प्रयोग हुआ है।

चैत्य का संबंध शव समाधि से आरंभ में रहा है, इसका संकेत पहले भी किया जा चुका है। जुवो दुब्रुइल द्वारा खोजी हुई मालावार की चट्टान में खुदी मृतक समाधि इसी प्रकार का चैत्यस्तूप है। एशिया माइनर के दक्षिणी समुद्रतट पर लीडिया के पिनारा और नैन्थस में जो पाषाणमय शव-समाधियाँ बनी हैं वे भारतीय चैत्यों से वहुत मिलती हैं।[१] इस प्रकार आरंभ में निश्चय स्तूप की ही भाँति चैत्य भी महापुरुषों की अस्थिसंचायक समाधि, गह्वर, कक्ष आदि को ही व्यक्त करता था।

परन्तु यह अर्थ सदा उस शब्द का नहीं रहा। धीरे-धीरे वह

---

१ कुमारस्वामी : हिस्ट्री०, पृ० १२.

संघ के पूजागृह को व्यक्त करने लगा जिसमें प्रतीक स्तूप अथवा बुद्ध की प्रतिमा (महायान के उदय के पश्चात्) आदि रहते थे। उसका अपना विशिष्ट वास्तु तब विकसित हुआ। उसमें गर्भ, दाहिने बायें के स्तम्भों से विभाजित भाग, आदि, सभी प्रस्तुत हुए। बीच में उसके एक ठोस स्तूप होता था और यह समूचा प्रासाद पर्वत की चट्टानों में काट कर बनाया जाता या लकड़ी और ईंटों का बनता था। अधिकतर पर्वत में बने चैत्य गोल लंबी ऊँची सुरंग के से होते थे। स्तूप के चारों ओर प्रदक्षिणा-भूमि होती थी। प्राचीन विहारों और चैत्यों में, भाजा को छोड़ कर, कहीं मूर्तियाँ नहीं हैं।

संघ की बैठकों के सम्बन्ध में जब उसके सदस्य विचार-विनिमय आदि के लिये एकत्र होते थे, तब उनके आवास आदि के साथ ही चैत्यगृह की आवश्यकता पड़ी। उसका सम्बन्ध बौद्धों के सामूहिक पूजन से है और इस रूप में वह ईसाई चर्च के बहुत निकट आ जाता है। साधारणत: गुम्बजनुमा छत के नीचे स्तूप अथवा प्रतिमापरक कोई वास्तु-निरूपण होता था। भिक्षु आते थे, आचार्य के प्रवचन सुनते थे, प्रतीक की प्रदक्षिणा करते थे। उनके आवास के लिये तब फूस आदि की, बैलगाड़ी की छाजन की सी, छत बना लेते थे। बस वही प्रतीक और संघ दोनों के आवास के लिये जो गृह बना वही चैत्यगृह कहलाया। ठीक इसी प्रकार का एक चैत्यगृह हैदराबाद के वालद्रुग ज़िले में तेर (प्राचीन नगर) नामक स्थान में है, भारत के प्राचीनतम चैत्यगृहों में से एक। वह ईंट और पलस्तर का बना है, गाँव की झोंपड़ी-जैसा द्वार पूर्व की ओर है, उसके ऊपर एक खिड़की है, जिसका निर्माण इसलिये हुआ था कि सूर्य का प्रकाश वह दूर भीतर तक फेंक दे। हाल मंडपनुमा था, बैलगाड़ी की छाजन-सा।

ई० पू० तीसरी-चौथी सदी से ही चैत्यगृह बनते चले आये थे। अनेक तो पर्वत की चट्टानों में खोद कर बनाये गये हैं। अशोक के समय के चैत्य छोटे और सादे हैं। अजन्ता का हीनयानी चैत्य-

गृह उसी काल का है, आठपहले खंभों पर उसकी छत रुकी है। खंभे, दीवारें, छत आदि सभी पहाड़ को काट कर बनाये गये हैं। ये दरीगृह (गुफाएँ) अजन्ता की प्राचीनतम गुहागृहों में से हैं, इससे ये लकड़ी की निर्माण-पद्धति में बने हैं। अशोक के बनाये कुछ दरीगृह बराबर की पहाड़ियों में हैं, लोमश ऋषि, सुदामा आदि नामों से विख्यात। उन्हें उसने आजीवक साधुओं के लिये बनवाया था। उनकी दीवारों पर मौर्य पालिश चढ़ी हुई है।

बंबई और पूना के बीच पश्चिमी घाट की पहाड़ियों में कार्ले का सुन्दरतम चैत्यगृह है। हीनयान संप्रदाय का यहाँ आदर्श वास्तु है, लगभग पहली सदी ई० पू० का। उसका निर्माणकार्य संभवतः अशोक के जीवन-काल में ही आरंभ हो गया था। परन्तु ईसवी सन् के बाद तक उसमें काम लगा रहा था, जैसा उसकी महायानी मूर्तियों से प्रगट है। उसके द्वार के दोनों ओर एक-एक स्तम्भ थे। उनमें से एक ही सोलहपहला स्तंभ अब बच रहा है। यह स्तम्भ आकृति में अशोक के, ईरानी कला से प्रभावित, स्तम्भों से मिलता है। सामने पहले मंडपयुक्त तीनद्वारी थी। हाल में खुलनेवाला मध्य द्वार संघ के सदस्यों के लिये था और शेष दोनों गृहस्थ उपासकों के लिये थे, जिससे वे बायें द्वार से प्रवेश कर बगैर संघ के कार्य में विघ्न डाले, चैत्य, स्तूप या प्रतीक की प्रदक्षिणा कर, दाहिने द्वार से बाहर निकल जायँ। इस प्रकार के तीन द्वार प्रायः सभी चैत्यगृहों में होते थे।

मुख्य द्वार के ऊपर का धूप (सूर्य) वातायन (खिड़की) चैत्य के भीतर दूर तक प्रकाश पहुँचा देता था। उससे छन कर आया प्रकाश न केवल पूजास्थली को प्रकाशित करता था वरन् गृह के कोने तक उसका आलोक पहुँचता था। इस खिड़की का बाहरी आकार पीपल की पत्ती-सा है। अनेक बार तो यह वातायन अलंकरण मात्र रह जाता होगा। द्वार का सारा सामना दीवार में इसी पीपलपत्र के प्रतीक-चित्रण से भर दिया गया है। चैत्य-

गृह की लंम्बाई-चौड़ाई १२४, ४३½ फ़ुट है। प्रदक्षिणा-भूमि को स्तूप और हाल से पंद्रह-पंद्रह स्तम्भों की दो पंक्तियाँ पृथक् करती हैं। स्तम्भ पारसिक हैं, जैसे बाहर के स्तम्भ। अन्तर यही है कि वे आठपहले हैं और उनके मस्तक पर सिंह के स्थान में गजारूढ़ देवमिथुन हैं। चैत्य के पीछे के सातों स्तम्भ बिना शीर्ष या आधार के हैं। छत गुम्बजाकार है।

इसी प्रकार के चैत्यगृह पश्चिमी भारत के अनेक स्थलों में थे। भाजा, कोंदाने, पीतलखोरा, बेडसा, नासिक, कन्हेरी के दरीगृह विशेष प्रसिद्ध हैं। इन सबका वास्तु प्रायः एकसा ही है, जैसा कार्ले का। ये सभी चैत्य साँची से स्तूपों के बाद के हैं। अजन्ता के दरीगृहों में ४, ९, १०, १९ और २६ तो चैत्य हैं, शेष भिक्षुओं के निवास के लिये विहार।

## विहार

स्तूप, चैत्यगृह और विहार तीनों बौद्ध जीवन के प्रधान अंग थे, तीनों वास्तु के विशिष्ट प्रकार थे, तीनों परस्पर सम्बन्धित थे। स्तूप और चैत्य दोनों, जैसा पहले बताया गया है, प्राचीन काल में शव-समाधि थे, फिर धीरे-धीरे स्तूप घटनाओं के स्मारक बने और चैत्य देवालय। विहार वह स्थल था जहाँ बौद्ध संघ निवास करता था, एक प्रकार का मठ। स्थविर, आचार्य आदि के नेतृत्व में संघ के भिक्षु धर्म की साधना करते थे। साथ ही उनका निवास था, साथ ही श्रवण-वाचना थी। साथ रहने से परस्पर व्यवहार, आचार आदि की भी आवश्यकता पड़ी। व्यवस्था की रक्षा के लिये उन्हें संघ का सम्मिलित आदेश मानना होता था। संघ की शक्ति बुद्ध की मृत्यु के बाद और भी बढ़ गई। उसका निर्णय अनुल्लंघनीय हो गया। यह निर्णय संघ अपने अधिवेशनों में किया करता था। उसके अधिवेशनों की कार्यविधि राजनीतिक संघों और गणोंकी क्रिया-प्रणाली पर अवलंबित थी। शाक्यों और लिच्छवियों के संथागारों की ही भाँति बौद्ध संघ की बैठकें भी उनके विहारों के

संथागारों में होती थीं और निर्णय छन्द या मतग्रहण द्वारा लिया जाता था। निर्णायक बहुमत होता था।

संघ, जैसा पहले कहा जा चुका है, कालान्तर में बड़ा प्रबल हो गया। बौद्ध राजाओं पर जो उसका प्रभाव रहा होगा उसकी कल्पना तो की ही जा सकती है, अन्य धर्मावलंबी राजाओं को भी उसके त्रास का भाजन बनना पड़ता था और जब संघ सद्धर्म की वैध नीति में असफल होता था तब जब-तब देश और राजा के विरुद्ध अपने सुरक्षित विहारों में षड्यंत्र करने से भी नहीं चूकता था। इतिहास में कम-से-कम दो प्रमाण इस स्थिति की पुष्टि करते हैं। एक तो उसका षड्यंत्र द्वारा अशोक के कुल से मगध की गद्दी छीन ब्राह्मण राजकुल की स्थापना करनेवाले शुंग सम्राट् पुष्यमित्र के विरुद्ध ग्रीक-बौद्ध मिनान्दर (मिलिन्द) को उस पर चढ़ा लाना था जिसके परिणामस्वरूप पुष्यमित्र ने पाटलिपुत्र और जलन्धर के बीच के सारे विहार जला डाले और ग्रीकराज की राजधानी साकल (स्यालकोट, पंजाब) में घोषणा की—"यो मे श्रमणशिरो दास्यति तस्याहं दीनारशतं दास्यामि[1]"—जो मुझे एक बौद्ध भिक्षु का सिर देगा उसे मैं सौ सोने के दीनार दूंगा। दूसरा उन गुप्त सम्राटों के विरुद्ध षड्यंत्र था जो ब्राह्मण और वैष्णव धर्म के पोषक थे। इसी नीति से क्रुद्ध कर शैव शशांक ने संघ के अनेक विहार अग्नि की लपटों को समर्पित कर दिये और बोधगया के बोधिवृक्ष को कटवाकर उसकी जड़ में अंगार रखवा दिये कि वह चैत्यवृक्ष फिर पनप न सके।

यह स्थिति उस विहार में साधारण ही संगठित हो सकती थी जहाँ केवल संघ का अनुशासन था। विहार के अपने भवन आदि थे जो उपासकों के अनुदानों से सदा संपन्न रहते थे। बौद्धचैत्यों और तीर्थस्थानों से विहार सदा संलग्न रहते थे। इसीसे नासिक, अजन्ता, बेडसा आदि में सर्वत्र विहार बने हुए

---

[1] दिव्यावदान में अशोकावदान.

थे । विहार भी एक विशेष प्रकार के आवास थे जो अन्य सार्वजनिक गृहस्थ आवासों से भिन्न थे । उनका संक्षिप्त वर्णन नीचे किया जाता है ।

दूसरी-पहली सदी ई० पू० के भरहुत के एक अर्धचित्र में श्रावस्ती (गोंडा-वहराइच-की सीमा पर सहेट महेट) के जेतवन विहार के भिक्षुओं का अंकन हुआ है । उसी जेतवन विहार को फ़ाह्यान ने प्रायः आठ सौ वर्ष वाद देखा था । तव वह विहार अपने कायिक परिमाण में वहुत वढ़ गया था । उसके भवन सात-सात आठ-आठ मंज़िलों के थे । भरहुत वाले उत्कीर्ण दृश्य में आश्रम का रूप संचित है । एक ओर एक भिक्षु चैत्यवृक्ष को सींच रहा है, दूसरी ओर उपासक प्रणाम-मुद्रा में खड़े हैं । मूर्तिगत विहार दोमंज़िला है जैसे सिक्किम के विहार आज भी होते हैं । ऊपर की मंज़िल में चैत्य प्रतीक और भिक्षुओं का आवास है ।

प्राचीन विहार चैत्यगृह के चारों ओर बने छोटे कमरों का परिवार था । इन छोटे कमरों को कुटी भी कहते थे । सारनाथ के विहार में बुद्ध की कुटी का नाम पीछे मूलगन्ध-कुटी पड़ा और उसके विहार का मूलगन्धकुटी-विहार । उन कुटियों के बीच वड़े चैत्यगृह में ठोस स्तूप होता अथवा सम्प्रदायविशेष की पूजामूर्ति प्रतिष्ठित होती थी । हीनयान विहार के चैत्यों में सामने की दीवार पर अर्धचित्र में सम्प्रदाय का प्रतीक उभरा रहता था ।

ईंट-पत्थर से वने प्राचीन विहार तो अव न रहे, पर पर्वतों को काटकर बनाये प्राचीनतर विहार आज भी खड़े हैं । गोदावरी तट के प्राचीन नासिक का गौतमीपुत्र विहार हीनयान सम्प्रदाय का था । यह विहार कार्ले के चैत्यगृह का प्रायः समकालीन था । नासिक के उस विहार (लेण नं० ३) में भिक्षुओं के लिए छोटे-छोटे सोने के कमरे बने हुए हैं । विहार (वड़ा कमरा ४६ फ़ुट लम्वा और ४१ फ़ुट चौड़ा) के भीतर दीवारों से लगी तीन ओर पत्थर की बेंचें वनी हैं जिन पर बैठकर भिक्षु आचार्य के प्रवचन सुनते थे । हाल का द्वार एक बरामदे से होकर था ।

बरामदे के सामने ६ स्तम्भ हैं, कार्ले के स्तम्भों की आकृति के ही, सिवा इसके कि इनके मस्तक के देवमिथुन गजों पर न चढ़-कर वृषभों और सिंहों पर आरूढ़ हैं। वृषभ और सिंह अशोक के स्तम्भों के प्रिय प्रतीक थे, उससे पहले ईरानियों और असुरों के। सिंह, इसके अतिरिक्त, शाक्यसिंह बुद्ध का भी स्मारक था। प्रवचन के समय सिंह की भाँति दहाड़ने के कारण उनकी संज्ञा शाक्यसिंह हो गई थी।

निकट का ही नहपान विहार (नहपान शक राजा था),[१] लेण नं० ८, पहली सदी ई० पू० का है। उसके स्तम्भ तिकोने आधार और घट पर खड़े हैं और उनके शीर्ष घंटेनुमा आकृतियों से मंडित हैं। उसके भी ऊपर पिरामिड है जिस पर वृषभ है, कार्ले के स्तम्भों के अनुकरण में। वेडसा का पर्वतीय विहार भी प्राचीन है, लगभग द्वितीय सदी ई० पू० का। उसकी छत गुम्बजदार है और चैत्य के चारों ओर प्रदक्षिणा-भूमि है। कुटियों के द्वार चैत्यगृह में खुलते हैं। यह विहार प्रधान विहारों में से है।

इन सारे प्राचीन विहारों में दर्शनीय और उनमें प्रधान भाजा का दरीविहार है। इनमें सबसे प्राचीन भी सम्भवतः वही है। वह विहार पश्चिमी घाट की पहाड़ियों में पूना के पास है। उसकी मूर्तिसम्पदा असाधारण है। उसका प्लान भी सामान्य दरीविहारों का सा है। बाहर एक बरामदा, उसके पीछे दो द्वारों की एक दीवार, ऊपर चैत्य वातायन। भीतर बड़ा हाल जिसमें दो ओर भिक्षुओं के लिए कुटियाँ बनी हुई हैं। ऊपर का पहाड़ काटकर छत पीपानुमा कर दी गई है। उसकी दीवारें, स्तम्भ आदि कटाव की मूर्तियों से भरे हैं और मूर्तियाँ अनुपम गति और सजीवता लिए हुए हैं। इन्द्र, सूर्य, आदि के उभरे अंकन विशेष आकर्षक हैं[२]।

१ महाराष्ट्र के क्षहरात कुलका, देखिए, उपाध्याय : प्राचीन भारत का इतिहास, पृ० १०.

२ देखिए, कुमारस्वामी : हिस्ट्री., प्लेट ७ और ८.

सारे देश में बौद्ध विहार थे। बौद्ध भिक्षुओं की संख्या के अनुपात से ही उनकी संख्या भी प्रभूत होनी चाहिए। फ़ाह्यान और हुएनत्सांग दोनों चीनी यात्रियों ने उनकी प्रादेशिक संख्या दी भी है। अफ़गानिस्तान (उद्यान और गन्धार) में भी विहारों की संख्या पर्याप्त थी। वहाँ के विहार के बीच में भी चैत्यगृह होता था जिसके चारों ओर भिक्षुओं के लिए छोटे आवास बने होते थे।

चीनी यात्रियों ने इन विहारों के सम्बन्ध में (ईंट-पत्थर से बने विहारों के विषय में) एक विशेष बात यह कही है कि वे कई-मंज़िले हुआ करते थे। दोनों का कहना है कि विहार, छः-छः, आठ-आठ अट्टों तक बनते चले गये थे। विहार मठ के रूप में भिक्षुओं के आवास तो थे ही, साथ ही उनके लिए विद्यालय का कार्य भी करते थे। हुएनत्सांग ने अपने समय के बौद्ध विश्व-विद्यालय नालन्द का विस्तृत वर्णन किया है। वहाँ के विहार का वर्णन करता हुआ वह लिखता है कि भिक्षुओं का प्रत्येक आवास (विहार) चारमंज़िला था। संघ के हाल के स्तम्भों पर देवमूर्तियाँ बनी थीं और उसकी छत्रियों में इन्द्रधनुष के सातों रंग विद्यमान थे। सर्वत्र अर्धचित्र उत्कीर्ण थे और चौखटों का सौन्दर्य अकथनीय था। भीतर के रंग परस्पर मिलकर अनेक अन्य रंग उत्पन्न करते थे जिससे विहार का सौन्दर्य सहस्र गुना बढ़ जाता था। नालन्द पटने के निकट राजगिर से सात मील उत्तर बड़गाँव के पास है। वहाँ की खुदाई में जो भवन निकले हैं उनमें से एकाध छ:मंज़िले तक हैं, पर इस प्रकार निर्मित विहारों की छतें उड़ गई हैं और उनके भग्नावशेष मात्र जैसे-तैसे खड़े हैं। किन्तु मामल्लपुर का चौमंज़िला विहार चट्टान में कटा होने से आज भी खड़ा है और अपनी अद्भुत पिरामिडनुमा अनुपमेय आकृति से दर्शकों को चकित कर रहा है। यह विहार सातवीं सदी ईसवी का है। मामल्लपुर में एक और विहार उसी सदी का दो मंज़िलों का है जो उसी की भाँति मज़बूत है।

**स्तम्भ**

स्तम्भों का भी इस देश में पर्याप्त प्रयोग हुश्रा है, यद्यपि उनका वाहुल्य स्तूपों श्रथवा मन्दिरों का सा नहीं रहा है। दो प्रकार के स्तम्भों का साधारणतः पता चलता है जिन्हें धार्मिक श्रौर राजनीतिक या सामाजिक कहना उचित होगा। एक प्रकार के स्तम्भ तो वे थे जिनका उपयोग श्रशोक ने श्रपने धर्म, विचार श्रौर नीति के प्रचार में किया। कुछ लोग उसके स्तम्भों को धार्मिक विभाजन में न रख राजनीतिक परम्परा में रखना चाहेंगे। परन्तु श्रशोक स्वयं श्रपने स्तम्भों को 'धर्म-स्तम्भ' ही कहता है, इससे हमारा भी उसी नाम से उसे ग्रहण करना उचित होगा।

इन स्तम्भों से शुद्धतर, वस्तुतः विशुद्ध धार्मिक स्तम्भों की भी प्रचुरता इस देश में रही होगी, यज्ञ यूपों की। श्रनेक धार्मिक स्तम्भ ऐसे भी खड़े किये गए जिनका उद्देश्य देव-विशेष का महत्व प्रकाशित करना था। इस प्रकार के श्रनेक स्तम्भ श्राज भी इस देश में खड़े हैं। धर्मप्रधान देश में इनका न होना ही श्राश्चर्य की वात होती।

दूसरा वर्ग उन स्तम्भों का है जो धर्म से भिन्न राजनीति से सम्वन्धित हैं, जैसे कीर्त्तिस्तम्भ, लाटें, मीनारें श्रादि। इनके श्रतिरिक्त दुर्गों, मन्दिरों, सार्वजनिक श्रावासों, राजप्रासादों, साधारण घरों श्रादि में भी उनका उपयोग हुश्रा है, यद्यपि तव वे प्रधान वास्तु के श्रंग मात्र रहे हैं श्रौर उनकी श्रपनी स्वतन्त्र स्थिति नहीं रही है। पर निश्चय उनके योग से भवनों में शक्ति श्राई है श्रौर स्वाभाविक ही उनका शिल्प में विशिष्ट स्थान है। मन्दिरों के स्तम्भों श्रौर उनकी भव्य शिल्पकारिता की श्रोर तो ऊपर संकेत किया ही जा चुका है, भवन-वास्तु श्रादि के सम्वन्ध में भी उनका यथास्थान उल्लेख किया जाएगा। गृहों, उपवनों तथा प्रमदवनों (नज़रवागों) में उनका भी क्रीड़ाशैल के साथ ही साथ, उल्लेख मिलता है।

मयमत[१] में स्तम्भ के अनेक पर्याय, स्थाणु, स्थूण, पाद, जंघा, चरण, अङ्घ्रिक, स्तम्भ, तल्प और कम्प दिये हुए हैं। उनके अपने-अपने मान भी दिये हैं, पर उससे हमें यहाँ तात्पर्य नहीं है। अधिकतर इनमें से वास्तुविशेष के सहायक स्तम्भ मात्र हैं जिनका उद्देश्य उस शिल्पविशेष को बल देना था जिसमें उनका उपयोग होता था। हम यहाँ केवल ऐसे स्तम्भों का उल्लेख करेंगे जिनकी अपनी स्वतन्त्र सत्ता थी और जो धर्म, विजय आदि के स्मारक रूप में निरवलम्ब अपनी भूमि पर खड़े हुए। इस प्रकार के स्तम्भ प्राचीन काल से इस देश में प्रयुक्त होते आये हैं और प्रायः सभी प्रधान धर्मों ने सभी कालों में अपने-अपने प्रतीकों से मंडित शीर्षवाले निजी स्तम्भ खड़े किये हैं। उनका, और प्रायः केवल उनका ही, हम इस प्रसंग में उल्लेख करेंगे।

भारत में यज्ञों की परम्परा प्राचीन है, वैदिक। और यज्ञों में जो पशु-बलि होती थी उसमें भी किसी-न-किसी प्रकार के स्तम्भ या 'यूप' का प्रयोग होता था। ऋग्वेद में शुनःशेप अपने बलि-बन्धन खोलने के लिए रोता है[२]। प्रगट है कि पशु (अथवा जब मनुष्य की बलि होती थी तब मनुष्य) यूप से बाँध दिये जाते थे। यूप यज्ञस्तम्भ का विशेष नाम है। जिस अनुपात में यज्ञ होते थे उसी अनुपात में यूप भी बनते थे। सरस्वती का तट यज्ञों से प्रधूमित रहता था, इससे कुरुक्षेत्र के गाँवों की यूप-संख्या का अनुमान किया जा सकता है। वहाँ से वैदिक संस्कृति का केन्द्र जब हटा तब गंगा-यमुना के संगम पर प्रतिष्ठित हुआ, जिससे उस स्थल का नाम ही यज्ञों की प्रचुरता के कारण 'प्रयाग' पड़ गया। कालिदास ने 'रघुवंश' में रथ पर जाते हुए दिलीप और सुदक्षिणा के मार्ग के गाँवों के यज्ञ-यूपों को देखते

---

[१] १५, २.

[२] यही कथा ऐतरेय ब्राह्मण ७, ३ में भी सविस्तर दी हुई है.

जाने का उल्लेख किया है[१]। गाँव-गाँव में यूप थे, और एक-एक गाँव में अनेक। वस्तुत: उनके वाहुल्य से ही गाँव के पुण्य कर्मों का अटकल लगाया जाता था। परन्तु प्रगट है कि वे यूप लकड़ी आदि नष्टव्य पदार्थों से वनते थे जो आज तक खड़े नहीं रह सके और ऋतुओं की क्रूरता के शिकार हो गये।

पत्थर के प्राचीन स्तम्भवत् ऊँचे दो स्तूप मथुरा में मिले हैं। दोनों कुषाणकाल (पहली-तीसरी सदी ईसवी) के हैं। इनमें एक कनिष्क के पुत्र वासिष्क का है, मथुरा के निकट ईसापूर (गाँव) में मिला, कुषाण वर्ष २४ (७८+२४=१०२ ई०) का। इस पर शुद्ध संस्कृत में एक लेख भी खुदा है। दूसरा मथुरा के सामवेदी ब्राह्मण की कीर्ति व्यक्त करता है और प्राय: उसी काल का है। ये दोनों पूजा के लिए प्रतिष्ठित किये गए थे। एक यूप वे होते थे जिनसे वलि के पशु बाँध दिये जाते थे, दूसरे वे जो देव-प्रतिमा की भाँति यूप की मूर्ति मान कर पूजे जाते थे। ये दोनों ऐसी ही विशाल यूप-प्रतिमाएँ हैं। इनका मस्तक अश्व के मस्तक की भाँति ग्रीवा से शालीन झुका हुआ है। ये चौपहल हैं और इन पर पशुपाश की प्रतीक अर्गला वनी हुई है। इनके अति-रिक्त लकड़ी के भी कुछ यूप सुरक्षित हैं जिनसे पता चलता है कि अधिकतर लकड़ी के ही यूप बनते थे जो कालान्तर में नष्ट हो गये। गुप्तकाल के भी कुछ यूप मिले हैं जिनमें ३७१ ई० का एक, विष्णुवर्धन का, विजयगढ़ में है।

अश्वमेध की परम्परा भी इस देश में अति प्राचीन है। ऐति-हासिक काल में भी पुष्यमित्र शुंग, समुद्रगुप्त, कुमारगुप्त आदि ने अश्वमेध किये। समुद्रगुप्त के मेधाश्व की तो प्रतिकृति भी मिल गई है जो लखनऊ के संग्रहालय में रखी है। भारशिव नागों ने तो काशी में दस अश्वमेध किये जिससे वहाँ के प्रसिद्ध घाट का नाम ही 'दशाश्वमेध' पड़ गया जो आज तक प्रचलित

---

[१] रघुवंश : १,४४.

है। इन सभी राजाओं ने अपने-अपने यूप खड़े किये होंगे। अश्वमेधों की परम्परा तो पिछले कालों तक चलती रही थी। दक्षिण के अनेक राजाओं ने भी अश्वमेध किये। कन्नौज के गहड़वाल राजा जयचन्द के भी अश्व यज्ञ का उल्लेख हुआ है।

यूपों से भिन्न धार्मिक अथवा धार्मिक-राजनीतिक स्तम्भ, जिन्हें ऐसे राजा ने स्थापित किये जिसने विजयस्तम्भों के स्थान पर धर्मस्तम्भों को अधिक महत्व दिया, अशोक ने खड़े किये। धातु अथवा पत्थर सभी प्रकार के स्तम्भों में अशोक के स्तम्भ प्राचीनतम हैं। उनका सौन्दर्य शिल्प की परिधि पार कर विशुद्ध ललित कला की शालीनता प्राप्त कर चुका है। उन पर अपने अभिलेख लिखाकर उस महान् चिन्तक और क्रान्तिकारी युद्ध-विरोधी शान्तिपूजक सम्राट् ने राजनोति की परम्परा ही बदल दी। अनन्त काल पूर्व सहिष्णुता का अद्भुत परिचय अशोक ने दिया। अपने साम्राज्य की सीमाओं पर, घनी बस्तियों में उसने स्तम्भ खड़े किये और उनके साधन से अपने प्रेम और सौहार्द के सन्देश घोषित किये।

इस प्रकार कम-से-कम तीस स्तम्भ उसने स्थापित किए। इनमें से अनेक तो नष्ट हो गये, कुछ टूटे हुए मिले हैं, कुछ सम्भवतः अभी पृथ्वी में दबे है, कुछ जो मिले हैं बहुत अच्छी दशा में हैं। इनमें दस पर उसके अभिलेख खुदे हैं। ये चुनार के पत्थर के बने हैं। किसी में कहीं जोड़ नहीं है, समूचा स्तम्भ एक पत्थर का बना है। चम्पारन (बिहार) जिले के लौड़िया नन्दनगढ़ वाला स्तम्भ ३२ फ़ुट, ९$\frac{१}{७}$ इंच ऊँचा मोमबत्ती की भाँति गोदुमा नीचे मोटा ऊपर पतला होता चला गया है। आधार पर उसका व्यास ३५$\frac{१}{२}$ इंच है, ऊपर २२$\frac{१}{२}$ इंच। इसी परिमाण के कारण अशोक के स्तम्भों की सुन्दरता असाधारण हो गई है। मुज़फ़्फ़रपुर ज़िले (बिहार) के बखीरा नामक स्थान के स्तम्भ पर लेख नहीं है। वह सर्वथा सुरक्षित और प्रायः सभी से अधिक भारी है। ये स्तम्भ दक्षिण में

हैदराबाद और मैसूर तक मिले हैं। ५०-५० टन तक की तौल वाले इन स्तम्भों को हज़ार-हज़ार मील दूर, जंगल, पहाड़ और नदियाँ पार कर कैसे ले गये होंगे, विस्मयकारक है। निश्चय अशोक को असाधारण बुद्धि के इंजिनियरों का सहाय्य प्राप्त रहा होगा।

इन पर अभिलेख भी कुशलता से काटे गए हैं। प्राय: सभी अद्‌भुत शिल्प सौन्दर्य के आदर्श हैं। प्रगट है कि पत्थर काटकर लिखने की कला तब अपनी चोटी पर थी। सबसे सुन्दर लिखावट बुद्ध के जन्मस्थान लुम्बिनी (नैपाल की तराई में रुम्मिन्देई) में स्थापित स्तम्भ पर है, जो, लगती है, आज ही कट कर तैयार हुई है। वस्तुत: प्रस्तर शिल्प की यह मौर्यकालीन कला इतनी परिष्कृत और सुथरी हुई है कि अशोक की किसी कृति का जोड़ कहीं नहीं है। उसकी प्रत्येक कृति उस शिल्पकौशल की धनी है, प्रत्येक वास्तु पर कलाकारों ने शोभा लिखी है।

इन स्तम्भों के शीर्ष अधिकतर पशुओं की आकृति से मंडित हैं, सजीव और अननुकार्य। स्तम्भों की यष्टि की ही भाँति उनके शीर्ष भी समान पत्थर के बने हैं—सबसे ऊपर समूचा कोरा हुआ पशु है, उसके नीचे पट्टिका है, फिर यष्टि की चोटी पर पारसीक घंटी। पट्टिका की गोलाकार दौड़ती बाड़ पर चारों ओर चित्र उतखचित हैं, जैसे वृषभ, अश्व आदि के। शीर्ष का पशु गज, अश्व, वृषभ और सिंह में से कोई एक होता था। लुंबिनी के स्तम्भ पर अश्व था, संकिसा के स्तम्भ पर गज, रामपुरवा के दो स्तम्भों में एक पर वृषभ है, दूसरे पर सिंह। सारनाथ के स्तम्भ पर चार सिंह पीठ-से-पीठ मिलाये बैठे हैं। सारनाथ के स्तम्भ का शीर्ष, जो २४२ और २३२ ई० पू० के बीच कभी प्रस्तुत हुआ, परिष्कार, सौन्दर्य और शिल्पचातुरी में संसार की कृतियों में अनुपम है। उसके पशुओं की सजीवता, उसका विन्यास और क्रिया सभी दर्शक को चकित कर देते हैं। भारतीय

सरकार ने जो उसे अपना राजकीय अंक बना लिया है, उचित ही है।

अशोक के स्तम्भों अथवा उसके समूचे वास्तु का इतना कुशल कार्य कलासमीक्षक के लिए एक समस्या उपस्थित कर देता है। सुरुचि और परिष्कार की बात तो अलग, उनकी टेकनिक, विशेषकर उनके कांचवत् चमकते पालिश की, वह समस्या और उलझा देती है। इस प्रकार का निखार-परिष्कार और सर्वांग सुन्दरता जादू से एक दिन में अथवा एक शासनकाल में नहीं प्रस्तुत की जा सकती, वह सदियों की निष्ठा, प्रयोग और अभ्यास की परिणति होती है। आश्चर्य है कि न केवल वह पालिश अशोक के वास्त्वादर्शों पर ही आरम्भ होकर उनके साथ ही समाप्त हो जाती है (न उनके पहले कभी थी, न पीछे रही), वरन् स्तम्भों के निर्माण की समूची परिपाटी, मै उन पर लिखे अभिलेखों की पद्धति के, इस देश में नई थी। अशोक के पहले स्तम्भ बनते थे या नहीं इसमें सन्देह हो सकता है। पर यह निःसन्देह है कि वे पत्थर के कभी नहीं बने और उन पर या शिलाओं पर ही अभिलेख खुदवाने की परम्परा भी कभी न थी। इतने लम्बे अभिलेख कभी लिखे ही नहीं गये। पर पड़ोसी ईरान में दोनों परम्परायें थीं, शिला आदि पर लेख खुदवाने की भी[1] और पशुमंडित स्तम्भ खड़े करने की भी[2]। वह परम्परा दारा आदि ईरानी राजाओं ने निनेवे के असुरों से सीखी थी। वस्तुतः स्तम्भों की परम्परा तो उधर प्रायः २००० ई० पू० से

---

[1] दारयवौष के बेहिस्तून, नक्श-ए-रुस्तम के लेख ; उससे पहले के बाबुलियों के लेख दजला-फरात की घाटी में. मिले हैं।

[2] देखिए, अपादान के स्तम्भ, शिकागो के प्राच्य विभागीय संग्रहालय में सुरक्षित और पोप के सर्वे आफ़ इरानियन आर्ट में प्रकाशित ; उनसे पहले के मिस्री स्तम्भ हैं।

३५० ई० पू०[1] तक कभी टूटी ही न थी। और अभिलेख तो ई० पू० ढाई हज़ार वर्षों तक के लिखे हज़ारों पट्टियों पर समूची पुस्तकों के रूप में मिले हैं[2]। स्वयं दारा के अनेक स्तम्भ पशुशीर्ष वाले आज भी पर्सिपोलिस में खड़े हैं, अनेकों के शीर्ष-पशु खंडित-अखंडित यूरोप और अमेरिका के संग्रहालयों में प्रदर्शित हैं। उनकी पालिश तो इतनी चमकदार है कि उनमें मुंह देखा जा सकता है। अशोक अपने अभिलेखों का आरम्भ प्रायः उन्हीं शब्दों से करता है जिनसे दारा ने अपने लेखों का किया था। अशोक के पितामह चन्द्रगुप्त मौर्य का ईरानी दरबार की अनेक क्रियाएँ अपने दरबार में प्रचलित करना भी उस ओर संकेत करता है। ईरान का शासन प्रायः डेढ़ सौ वर्ष तक पश्चिमी पंजाब और सिन्ध पर रहा था और ये दोनों दारा के साम्राज्य का बीसवाँ प्रान्त[3] रहे थे और प्रति वर्ष उसे एक करोड़ के ऊपर कर देते थे[4]। इसी से अशोक ने न केवल सीमा-प्रान्त के अपने अभिलेख अरमई खरोष्ठी लिपि में लिखाए बल्कि कम-से-कम एक बार ईरानी भाषा का भी उनमें प्रयोग किया। उसने लिपि और लिपिकार के लिए भी ईरानी शब्दों का ही प्रयोग किया है। सिन्धु सभ्यता की कला का अशोक को पता न था क्योंकि उसका अभिराम शिल्प प्रायः डेढ़ हज़ार वर्ष पहले ही पृथ्वी के गर्भ में समा चुका था। इससे प्रगट है कि पारसीक शिल्प के ही अनुकरण में ये स्तम्भ बने, जहाँ स्तम्भों और उनकी पालिश की परम्परा थी, जहाँ बराबर प्रशस्ति आदि के अभिलेख सदियों-सहस्राब्दियों से लिखे जा रहे थे, और जब

---

[1] हम्मुराबी का स्तम्भ; जिस पर उसका सविस्तर विधान खुदा है। बाबुल, कीश, निनेवे, असुर आदि से प्राप्त ग्रन्थों का तो संग्रहालय ही खड़ा हो गया है।

[2] वही।

[3] उपाध्याय : द एंशेंट वर्ल्ड, पृ० १२२.

[4] उपाध्याय : प्राचीन भारत का इतिहास, पृ० ११२.

अपने देश में उनका नामोनिशान न था। हाँ, उस वास्तु को अशोक ने और परिष्कृत किया, उसका चरम विकास किया, यद्यपि आनेवाली सदियाँ उस भार को सम्हाल न सकीं और उस शिल्प की शैली मौर्य काल के वाद लुप्त हो गई।

अशोक के स्तम्भों के अतिरिक्त केवल एक बेसनगर वाले स्तम्भ का धार्मिक क्षेत्र में उल्लेख किया जा सकता है। आश्चर्य की बात है कि अशोक के पश्चात् पहला स्तम्भ-निर्माता भी विदेशी ग्रीक है। यह स्तम्भ सीमाप्रान्त के ग्रीक राजा अंतलिखित (अन्तिआल्किदस्) के ग्रीक राजदूत हेलियोदोर द्वारा स्थापित हुआ था। हेलियोदोर दिय का पुत्र था और विदिशा के शुंगराज भागभद्र के पास भेजा गया था। वह वैष्णव हो गया था और उस स्तम्भ के लेख में अपने को 'भागवत' कहता है। कम कुतूहल का विषय यह नहीं है कि इस देश के लोकप्रिय वैष्णव धर्म का पहला स्तम्भ एक विदेशी ग्रीक ने खड़ा किया। वह स्तम्भ ई० पू० दूसरी सदी में 'वसुदेव' के नाम पर 'गरुड़-स्तम्भ' के रूप में खड़ा हुआ। उस पर मौर्य कला का परिष्कार तो नहीं है पर आकृति उसकी निश्चय मौर्य-पारसिक स्तम्भों की है। नीचे यष्टिदंड है, उसके बीच में फुल्लों एक घेरा है, ऊपर शीर्ष के तीन भाग हैं। घंटीनुमा अभिप्राय, चौकी और पशु के स्थान पर समूचे ताड़पत्रों का शिल्पगत रूप[1]। इसके बाद इस प्रकार के धार्मिक स्तम्भों की स्थापना की परम्परा अधिकतर समाप्त हो गई।

राजनीति के क्षेत्र में भी अनेक स्तम्भ स्थापित हुए। साहित्य में उनका उल्लेख अनेक बार हुआ है। कालिदास ने रघु की दिग्विजय के संबंध में लिखा है कि सुह्मों-बंगों को परास्त कर उसने गंगा के डेल्टा में विजयस्तम्भ खड़े किये (निचखान

[1] कुमारस्वामी : हिस्ट्री०, पृ० ३४; स्मिथ : हिस्ट्री आफ़ फ़ाइन आर्ट, पृ० ६५, चित्र ३०-३१.

जयस्तम्भान्)[१] । स्तम्भ स्थापित कर उन पर प्रशस्ति लिखवाने की प्रथा साधारण हो गई थी। आज भी इस प्रकार के अनेक स्तम्भ खड़े हैं। समुद्रगुप्त ने अपनी प्रशस्ति के लिए अलग स्तम्भ न बनवाकर प्रयाग वाले अशोक के स्तम्भ पर हो अपने युद्धों और दिग्विजय का विवरण खुदवा दिया। एक ही स्तम्भ पर एक के शान्ति के संदेश और दूसरे के रक्तरंजित युद्धों के विवरण खुदे हैं!

गुप्त सम्राटों के अपने खड़े किये भी अनेक स्तम्भ हैं। इनमें प्रधान दिल्ली से थोड़ी दूर पर मेहरौली गाँव में कुतुबमीनार के पास खड़ा है। वह लोहे का 'गरुड़ध्वज' चन्द्रगुप्त द्वितीय विक्रमादित्य का है। उस पर लिखा है कि किस प्रकार चन्द्र (इसे कुछ लोगों ने चन्द्रगुप्त से भिन्न दूसरा राजा भी भ्रमवश माना है)[२] ने अपने शत्रुओं के संघ को बंगाल में नष्ट कर सिन्धु नद के सातों मुखों (पंजाब की सातों नदियों) को लाँघ वह्लीकों (वह्लीक, वाख्त्री) को परास्त किया[३]। इस देश में अकेला यही एक स्तम्भ लोहे का मिला है। पर इसकी धातु इतनी अच्छी है कि डेढ़ हज़ार वर्ष आँधी-पानी में खड़े रहने पर भी यह किसी प्रकार खराब नहीं हुआ। उसमें जंग नहीं लगी। उसे भ्रमवश लोग दिल्ली के तोमर राजा अनंगपाल की कीली भी कहते हैं।

स्कन्दगुप्त के समय के दो स्तम्भ हैं, एक गोरखपुर (उत्तर प्रदेश) के काहाँव में, दूसरा उत्तर प्रदेश के गाज़ीपुर ज़िले के सैदपुर भितरी में। सैदपुर वाले स्तम्भ पर बड़ी ललित शैली में काव्यबद्ध प्रशस्ति लिखी है। निर्मदातीर के पुष्यमित्रों का आक्रमण

---

१ रघुवंश, ४, ३६.

२ देखिए, स्मिथ : अर्ली हिस्ट्री आफ़ इण्डिया। गुप्त सम्राटों के अध्याय वाला तत्संबंधी प्रसंग, फ़ुटनोट; हरप्रसाद शास्त्री का दृष्टिकोण भ्रमपूर्ण है।

३ तीर्त्वा सप्तमुखानि येन समरे सिन्धोर्जिता वह्लिका : फ़्लीट, का० ० इ०, ३, नं० ३२, पृ० १४१, श्लोक १.

निष्फल करने का उसमें उल्लेख है[१]। युवा स्कन्द ने, उसके अनुसार, युद्धकाल में साधारण सैनिक की भांति अनेक रातें रूखी भूमि पर सोकर काटी थीं[२]। ४८४-८५ ई० का ही एक स्तम्भ ४३ फ़ुट ऊँचा मध्य प्रदेश के सागर ज़िले के एरण में है, 'विष्णु का ध्वज।' उससे १३ मील दक्खिन-पच्छिम पथरी में ४७ फ़ुट ऊँचा एक और स्तम्भ है। उसके ऊपर का अभिलेख पश्चात्कालीन गुप्तलिपि में था जो अब मिट गया है[३]।

हूणों के विजेता मालवा के राजा यशोधर्मन् का मन्दसौर में एक स्तम्भ है जिस पर हूणों को परास्त करने और अनेक देश जीतने का उल्लेख है[४]। पिछले काल में चित्तौर में भी पंद्रहवीं सदी के मध्य गुजरात और मालवा की सम्मिलित सेनाओं को हराने के स्मारक में राणा कुम्भा ने अपना प्रसिद्ध नौमहला कीर्तिस्तम्भ[५] बनवाया था। उसीके पास बारहवीं सदी का छोटा जैन-स्तम्भ भी है। साधारणतः चित्तौर वाला विशाल स्तम्भ कीर्तिस्तम्भ ही कहलाता है पर संभवतः वह कुम्भस्वामी वैष्णव मन्दिर के साथ-साथ उसके स्मारक स्वरूप १४४० ई० में आठ वर्षों में बन कर तैयार हुआ था।

मुस्लिम काल में मीनारों का बनना तो साधारण बात हो गई थी। इन्हीं मीनारों पर चढ़ कर मुअज़्ज़िन नमाज़ के लिए आज़ान दिया करता था। इसी विचार से सारी मस्जिदों में ऊँची मीनारें बनी हुई हैं। अहमदाबाद की मुहाफ़िज़ ख़ाँ की मस्जिद की मीनारें, लाहौर के वज़ीर ख़ाँ की मस्जिद की मीनारें, ताज की मीनारें उसी प्रकार की ऊंची धार्मिक मीनारे हैं। मस्जिदों

---

१ पुष्यमित्रांश्च जित्वा।

२ क्षितितलशयनीये येन नीता त्रियामा।

३ स्मिथ : हिस्ट्री आफ़ फ़ाइन आर्ट०, पृ० १७५.

४ वही।

५ कुमारस्वामी : हिस्ट्री०, प्लेट ७७, चित्र २५१.

से अलग, विशाल मुस्लिम मीनार दिल्ली-मेहरौली की कुतुब की है। यह सर्वथा स्वतंत्र खड़ी है जो पहले लगभग २५० फ़ुट ऊँची थी। आज भी उसकी ऊँचाई कुछ कम नहीं है और संसार की मस्जिद के वास्तु से असंलग्न मीनार के रूप में मीनारशिल्प में अनुपम है। उसे सुल्तान अल्तमश ने १२३२ ई० में बनवाया था। मीनार की वास्तु-क्रिया प्रधानतः हिंद शिल्पियों द्वारा प्रस्तुत हुई थी। सारे मुस्लिम जगत् में इस सी सुन्दर दूसरी मीनार नहीं है। इसका सम्बन्ध भ्रमवश लोग सुल्तान कुतुबुद्दीन से करते हैं पर वास्तव में इसका नाम बग़दाद के महान् सूफ़ी सन्त कुतुबुद्दीन के नाम पर पड़ा था।

मुस्लिम काल के कीर्तिस्तम्भों में एक प्रसिद्ध अलाउद्दीन खिलजी का बनवाया दौलताबाद (देवगिरि) के यादव दुर्ग के द्वार पर है। अलाउद्दीन ने देवगिरि के यादव राजा को परास्त कर इसका निर्माण अपनी विजय के स्मारक में कराया था। अब यह प्रायः दुर्ग के वास्तु का भाग बन गया है।

अन्य वास्तु से संलग्न स्तम्भों की संख्या तो अनन्त है। मंदिरों के पास सामने दीपस्तम्भ भी बनाने की परम्परा थी। एलोरा के कैलाश मन्दिर के सामने का दीपस्तम्भ असाधारण सुन्दर है। काठियावाड़, गुजरात आदि में पिछले काल बने चालुक्य वेसर शैली के मन्दिरों के साथ कीर्तिस्तम्भों का निर्माण मन्दिरों के वास्तु का, परन्तु उससे असंलग्न, विशेष अंग बन गया था। चित्तौर का कुम्भस्वामी वाला कीर्तिस्तम्भ, जिसका उल्लेख अभी हुआ है, इसी वर्ग का है। दक्षिण के विशाल मन्दिरों का एक विशेष अंग स्तम्भों की परम्परा है। वस्तुतः यह परम्परा दरीमन्दिरों से आरंभ हुई थी। अजन्ता, एलोरा, एलिफ़ेंटा, कार्ले, कन्हेरी आदि सभी दरीमन्दिरों में, मन्दिर या उसके बरामदों में स्तम्भों की ऋद्ध परम्परा खड़ी है। अजन्ता और एलोरा के कुछ वास्तुस्तम्भ तो ग़ज़ब के सुन्दर हैं। उनके ऊपर बने अलंकरण भी अतीव सुन्दर हैं। जब कलावन्त कोरी हुई नारी

मूर्तियों का शृंगार कर चुके तब भी उनके पास मुक्ता आदि की इतनी अनन्त संपदा बच रही कि उन्हें इनको इन पत्थरों के स्तम्भों पर बिखेर देना पड़ा। इस प्रकार स्तम्भों के अलंकरण तो अपनी संमोहक सूक्ष्मता में और पीछे मध्यकाल के मन्दिरों में प्रस्तुत हुए। दकन के वेसर मन्दिर साधारणतः सहस्र स्तम्भों के मन्दिर कहलाते हैं क्योंकि उनके शरीर में सच्चे-झूठे सैकड़ों पतले स्तम्भ बने रहते हैं। इसी प्रकार के स्तम्भों वाला एक मन्दिर हैदराबाद राज्य में वारंगल का है। इन स्तम्भों के ऊपर विविध प्रकार के पत्थर में कटे हार तो वस्तुतः शिल्प में सुईकारी का महत्व प्रस्तुत करते हैं। कश्मीर के मार्तंड मंदिर के स्तम्भ तक्षशिला के यवन (ग्रीक) भवनों के स्तम्भों की भाँति दोरिक शैली में बने हैं। इस प्रकार अशोक के ईरानी सौन्दर्य वाले स्तम्भों की ही भाँति, कश्मीर के इन मन्दिरों को ग्रीक शैली का स्तम्भयोग मिला। स्तम्भों की यह परम्परा दुर्गों और राजप्रासादों की भी शक्ति बढ़ाती रही। उनके कटाव का काम साधारण भवनों के सौंदर्य का भी वर्धक हुआ।

भाषा और साहित्य से भी स्तम्भों का कोई सम्बन्ध हो सकता है, इसकी साधारणतः कल्पना नहीं की जाती। परन्तु वस्तुतः इतिहास इसका साक्षी है कि उनका प्रभाव उस क्षेत्र में पर्याप्त रहा है। वे स्वयं किसी प्रकार साहित्य के प्रेरक नहीं रहे हैं सिवा इसके कि जब-तब मन्दिरों के स्तम्भों आदि का भी गान प्रसंगतः देवता के स्तोत्रों में हुआ है। आशय उन पर खुदे अभिलेखों से है। अशोक के शिला और स्तम्भ-लेखों की महिमा अपार है। तत्कालीन प्राकृतों (और जन-बोलियों), विशेषतः पाली भाषा, को उन अभिलेखों ने प्रभूत प्रभावित किया होगा। वस्तुतः प्राकृतों के तो वे प्रायः प्राचीनतम रूप ही हैं। प्रान्तों के स्तम्भों पर अशोक ने स्थानीय बोलियों का ही प्रयोग किया है। इतना भावुक, इतना प्रसादपरक, इतना हृदय से निकल कर सीधा मर्म को छूनेवाला दूसरा जन-साहित्य कभी नहीं लिखा

गया। स्तम्भों (और शिलाओं) के ये अभिलेख न केवल उसके द्योतक बल्कि उसके एकमात्र संक्षिप्त रूप हैं। भाषा और साहित्य पर उस काल इनका कितना प्रभाव पड़ा होगा इसका अनुमान किया जा सकता है। प्राचीन और अर्वाचीन साहित्य में इन अभिलेखों के साहित्य से अधिक उदार, सहिष्णु और शालीन कुछ भी नहीं है। हम्मुराबी और रामसेज़ के अभिलेख, असुरनज़ीर-पाल और दारा के अभिलेख अशोक के इन लेखों के सामने फीके और बर्बर लगते हैं। मानवीयता इनमें वाणी की वेदना और परोपकार के उल्लास से मुखरित हुई है। भाषा के विचार से भी उत्तर-पश्चिमी भारत में तत्कालीन फ़ारसी (अरमई) साहित्य और भाषा को इन्होंने भावगुरुता और सहिष्णु भाईचारे का गौरव दिया होगा। उस काल की दारासम्बन्धिनी भाषा में सिवा युद्धेतिहास और रक्तिम जीवन के कुछ और न था। ठीक उसके विरुद्ध युद्धविरोधी अपनी मानवीयता की व्यापक मुद्रा उस साहित्य पर इन अभिलेखों ने अंकित की। लिपि के रूप में भी पहली वार ब्राह्मी और अरमई की परस्परविरोधी लिपि का इस बड़ी मात्रा में इन अभिलेखों ने प्रयोग किया।

इसी प्रकार गुप्तकालीन स्तम्भों ने भी तत्कालीन साहित्य का उन्नत रूप हमारे सामने रखा है। कम लोगों को पता है कि उस काल की (चौथी-पाँचवीं सदी) ग्रंथेतर अभिराम काव्य-सम्पदा इन स्तम्भों पर लदी पड़ी है। काल की परिधि पार, आज तक संस्कृत काव्य और गद्य की रक्षा कर उसे हम तक पहुँचाने का श्रेय इन्हीं स्तम्भों को है। इन स्तम्भों की कुछ पंक्तियाँ यहाँ संक्षेपतः उद्धृत की जाती हैं जिनसे इनके माधुर्य का अटकल लगाया जा सकता है। गुप्त सम्राट् समुद्रगुप्त के प्रयाग वाले स्तम्भलेख में कवि हरिषेण कहता है :

आर्यो हीत्युपगुह्य भावपिशुनैरुत्कर्णितैः रोमभिः
सभ्येषूच्छ्वसितेषु तुल्यकुलजम्लानाननोद्ववीक्षितः।

स्नेहव्यालुलितेन वाष्पगुरुणा तत्वेक्षिणा चक्षुषा
य: पित्राभिहितो निरीक्ष्य निखिलां पाह्येवमुर्वीमिति ।

इसी प्रकार समुद्रगुप्त के पुत्र चन्द्रगुप्त द्वितीय विक्रमादित्य (३७५-४१४ ई०) के मेहरौली लौह-स्तम्भ की पंक्तियाँ हैं :

यस्योद्वर्तयत: प्रतीपमुरसा शत्रून्समेत्यागता-
न्वंङ्गेष्वाहववर्तिनोऽभिलिखिता खंगेन कीर्तिर्भुजे ।
तीर्त्वा सप्तमुखानि येन समरे सिन्धोर्जिता वाह्लिका
यस्याद्याप्यधिवास्यते जलनिधिर्वीर्यानिलैर्दक्षिण: ।

कुमारगुप्त द्वितीय (४७३-७४ ई०) के काल के लेख से संगृहीत निम्नलिखित छन्द कितना मधुर है—

चतुस्समुद्रान्तविलोलमेखलां सुमेरुकैलासबृहत्पयोधराम् ।
वनान्तवान्तस्फुटपुष्पहासिनीं कुमारगुप्ते पृथिवीं प्रशासति ।।

स्कन्दगुप्त विक्रमादित्य के सैदपुर भितरी वाले स्तम्भलेख में हूणों का उल्लेख इस प्रकार है—हूणैर्यस्य समागतस्य समरे दोर्भ्यां धरा कम्पिता । भीमावर्तकरस्य । 'जिसकी भुजाओं के हूणों के साथ टकरा जाने से धरा कम्पित हो गई थी, आवर्त बन गया था ।' उसी स्तम्भलेख में उल्लेख है कि किस प्रकार विचलित कुललक्ष्मी को स्थायी करने के लिए स्कन्दगुप्त ने रातें ज़मीन पर सो-सोकर बितायीं—

विचलितकुललक्ष्मीस्तम्भनायोद्यतेन
क्षितितलशयनीये येन नीता त्रियामा ।

यह सारा काव्य-वैभव महाकवि कालिदास की परम्परा में है । इतना सुस्वादु, इतना प्रांजल काव्य इन स्तम्भों के साधन से जनता की दृष्टि में निरन्तर जाता रहा होगा । ग्रंथों की सुगमता सबको न थी । हाथ से लिखे जानेवाली ग्रंथप्रतियों की संख्या बहुत परिमित होती है । उनका लाभ तब सभी को उठा सकना कठिन था परन्तु स्तम्भ आदि अभिलेख, जहाँ वे उपलब्ध थे, इस दृष्टि से बड़े काम की वस्तु हो सकते थे । इससे स्तम्भों की महत्ता जानी जा सकती है । धर्म का विकास अथवा पुण्य का

लाभ प्रतिष्ठाताओं का उनसे चाहे जितना हुआ हो, इतिहास के पुनर्निर्माण में चाहे वे जितने सहायक हुए हों, उनका यह साहित्य सम्बन्धी लाभ उस काल में निश्चय हुआ है। उस काल के साहित्य और भाषा पर ये पर्याप्त प्रकाश डालते हैं।

## आवास

मनुष्य जो निरन्तर अपनी वन्य स्थिति से दूर समाज की ओर बढ़ता आया है वही सभ्यता का राजपथ बन गया है। प्रकृति की बनाई गुफाओं से निकल कर उसने धीरे-धीरे अपने आवास बनाए जिनके चारों ओर उसके जीवन के प्रतीक खड़े हुए। धीरे-धीरे उसके नागरिक विकास की यही मंज़िलें बनीं। घरों के समूह वैदिक काल में ग्राम कहलाये और उन्हींके बड़े समूह विशेष योजना से बनकर नगर हुए। ग्राम और नगर शत्रुओं के भय से रक्षा के लिए दीवारों से घेर दिए गए जिससे वे दुर्ग बन गए।

## ग्राम

निश्चय ग्राम (गाँव) पहले खड़े हुए, कुटियों और झोंपड़ियों के दल। कुटियाँ अधिकतर तृणों और पत्तों की बनी थीं, ऊपर फूस से छाईं, जिनकी छाजन मिट्टी से पोत्ता कर दी जाती थी। इस देश की जनता विशेषतः गाँवों में रहती आई है और यद्यपि समाज का नेतृत्व रामायण-महाभारत काल से, उपनिषदों-ब्राह्मणों के काल से, नगरों में रहा है, जीवन व्यवस्थित गाँव की परम्परा में ही हुआ है। और ये गाँव सभी प्रकार से परिपूर्ण थे। निवासियों की आवश्यकता की सभी वस्तुएँ गाँव में ही उत्पन्न हो जाती थीं, उनकी पूर्ति करनेवाले सामाजिक पेशे सभी वहाँ वर्तमान थे। वर्ण धर्म ने उस दिशा में विशेष सहायता की। वस्तुतः उसी धर्म के अनुकूल ग्राम की सामाजिक व्यवस्था हुई और ग्राम स्वयं वर्ण धर्म का पोषक हुआ। अन्न, रुई आदि

गाँव में ही उत्पन्न हो जाते थे, गाँव के जुलाहे परिधान प्रस्तुत कर देते थे। ब्राह्मण, नाई, कुम्हार, बढ़ई, लुहार, सुनार, कहार सभी उपलब्ध थे। इस प्रकार गाँव को बाहर के सहाय्य की अपेक्षा न थी और वह सभी प्रकार से, संस्कृति की एकता से भिन्न, संसार से पृथक् था। उसका संसार अपना था। उसकी व्यवस्था, उसका रूप बहुत-कुछ वैसा ही था जैसा आज है। सदियों-सहस्राब्दियों के दौरान में समाज के जीवन और रूप में चाहे जितना अन्तर पड़ा हो, गाँव आज भी प्रायः वैसे ही हैं जैसे पहले थे।

साधारणतः कुतूहल की बात है कि प्राचीन गाँवों के भग्नावशेष आज हमारे सामने नहीं हैं यद्यपि नगरों के हैं। गाँवों के अवशेष एक तो इस कारण नहीं हैं कि अवशेष मरी और परिसमाप्त वस्तुओं के हुआ करते हैं और हमारे गाँव आज भी मरे नहीं, भोंड़े, गंदे, अच्छे, बुरे अपने पुरातन रूप में खड़े हैं। उनका सिलसिला सदा चलता चला आया है और हम आज के ही गाँवों में प्राचीनतम भारतीय गाँव के दर्शन कर सकते हैं। दूसरा कारण प्राचीन वास्तु की नश्वरता है। वास्तु-सामग्री जो गाँवों के निर्माण में प्रयुक्त हुई थी, अधिकतर वह मिट्टी और लकड़ी की थी और शीघ्र नष्ट हो गई।

परन्तु भारतीय शिल्पशास्त्रों में ग्राम, नगर, दुर्ग के निर्माण की जो पद्धति दी हुई है उससे उनकी वास्तु, प्रकार, व्यवस्था आदि पर प्रकाश पड़ता है। यहाँ हम मानसार आदि के आधार पर प्राचीन ग्राम के रूप का संक्षेप में वर्णन करेंगे। ग्राम समूह को कहते हैं, गृहों या कुलों के समूह को। यही कुलों या मानवों का समूह विशेष स्थिति में संग्राम (युद्ध) के शब्दरूप और अर्थ में प्रयुक्त हुआ।

मानसार ने गाँव के मांगलिक रूप पर बड़ा ज़ोर दिया है और उसके निर्माण की भूमि के शुभाशुभ पर विचार किया है।

जल की सुगमता, भूमि की उर्वरता आदि सभी का विचार कर ग्राम की नींव डाली जाती थी। साधारणतः गाँव में, अन्य वीथियों (गलियों) के अतिरिक्त एक-दूसरे को काटनेवाले पूर्व से पश्चिम और उत्तर से दक्षिण जानेवाले दो मार्ग होते थे। इनमें पहले को राजपथ और दूसरे को वामन कहते थे। इन्हीं के दोनों ओर मकान खड़े होते थे। गाँव के चारों ओर प्रदक्षिणार्थ जानेवाले मार्ग को मंगलवीथी कहते थे। गाँव के बीच में, जहाँ दोनों मार्ग एक-दूसरे को काटते थे, वट के नीचे गाँव की विविध सभाएँ हुआ करती थीं। जहाँ कहीं संभव हो सकता था, ईंट, पत्थर, या लकड़ी का इस अर्थ मंडप भी बन जाता था।

गाँव छोटे-बड़े सभी प्रकार के होते थे। उनके दंडक आदि आठ प्रकार मानसार में दिये हुए हैं। दंडक माप-विधि की ओर संकेत करता है। ग्राम और नगर के अपने-अपने माप और क्षेत्र-फल थे। दंड आठ फ़ुट के बाँस का नाम था और गाँवों का परिमाण पाँच-पाँच सौ दंड अर्थात् चार-चार हज़ार वर्ग फ़ुट तक था। नगर बीस-बीस हज़ार दंड (प्रायः तीस वर्ग मील) तक के होते थे। इनमें से प्रायः तिहाई भूमि आवास आदि बनाने के काम आती थी शेष कृषि, चारागाह आदि के अर्थ में प्रयुक्त होती थी। चारागाह सभौती थे समूचे गाँव के एकजाई। ऐसे ही गाँव के वन मार्ग आदि भी एकजाई थे। गाँव या नगर चौकोन होते थे, वर्गाकार नहीं। पूर्व से पश्चिम नदी, झील आदि के तीर लम्बे बसते थे। उनको मिट्टी, ईंट और पहाड़ी प्रदेशों में पत्थर की दीवार से रक्षा के लिए घेर लेते थे जिससे उनकी 'पुर' या 'दुर्ग' की संज्ञा सार्थक होती थी। पुर प्रारंभ में नगर का पर्याय नहीं था, इस प्रकार के घेरे का ही नाम था, और इस अर्थ में वह दुर्ग का भी प्रायः पर्याय ही था क्योंकि दोनों का भाव प्रवेश की दुरूहता प्रस्तुत करता है। प्राकार आदि के गुरुतर, शक्तितर प्रयोग के कारण बड़े गाँव अथवा नगर 'पुर' कहलाने लगे। इसी घेरे के अभाव से नगर भी जब-तब 'दुर्ग'—दुर्गम्य—कहलाने लगा

ग्रौर प्राचीरगत नगर, राजप्रासाद, किले ग्रादि का भी द्योतन करने लगा।

गाँव के वीच ग्रौर जब-तब चारों कोनों पर वाज़ार या दूकानें रहती थीं। उसके पूर्वोत्तर ग्रादि दक्षिण-पश्चिम कोनों में तालाब होते थे जिनके तीर गाँव के प्रधान देवालय होते थे। गौण देवताग्रों के मंदिर गाँव से बाहर वनते थे। मानसार ने विविध देव-मंदिरों के लिए सविस्तर व्यवस्था दी है। उस ग्रंथ के ग्रनुसार गाँव में पाठशाला, पुण्यशाला, धर्मशाला ग्रादि की भी व्यवस्था थी। यात्रियों ग्रादि के ठहरने के लिए धर्मशाला गाँव के दक्षिण-पूर्व में ग्राम द्वार के पास ही वनती थी।

मानसार ने विविध प्रकार के गृहों के विविध मान दिये हैं। नौ-नौ मंज़िलों के घरों की व्यवस्था दी है। प्रकट है कि ये ग्रट्टालिकाएँ गाँव की न थीं, नगर की थीं, ग्रभिजात श्रीमानों की। ग्राम में भी ग्रभिजात श्रीमानों के ऐसे भवन हो सकते थे। निचली श्रेणीवालों ग्रौर वर्णहीनों के लिए उसकी स्पष्ट व्यवस्था है कि वे एक मंज़िल से ऊँचा मकान किसी स्थिति में न बनायें। उसका उल्लेख है कि एक मार्ग के मकान यथासंभव समान ऊँचाई के हों ग्रौर समानसंख्यक महलों का मान भी यथासंभव समान ही हो। सामने, मध्य ग्रौर पीछे के कमरों का धरातल एक ही होना चाहिये ग्रौर गृह का द्वार प्रायः बीच में सामने होना चाहिये। द्वार के दोनों ग्रोर एक-एक वेदिका होनी उचित है। उत्तर भारत के मकानों में द्वार के दोनों ग्रोर इस प्रकार की वेदियाँ साधारणतः बनी होती हैं। भरहुत ग्रादि की प्राकार वेष्टनियों (रेलिंगों) पर मौर्य-शुंगकालीन गाँव के घरों के ग्रर्द्ध-चित्र बने हैं। बंगाल की झोपड़ियों की भाँति उनका रूप है, तृण ग्रथवा ईंट-मिट्टी की सामग्री उनमें लगी जान पड़ती है। छतें उनकी वीच से उठी कुछ गोल-सी हैं।

## नगर, पुर

आज भारत में प्राचीन नगरों के अनेक भग्नावशेष उपलब्ध हैं जिनसे मानसार, अर्थशास्त्र आदि में दी हुई नगर-निर्माण व्यवस्था की पुष्टि हो जाती है। ग्रामों की ही भाँति नगर भी परकोटों से घिरे होते थे। इसी कारण, जैसा ऊपर कहा जा चुका है, उनकी संज्ञा 'पुर' हुई। इन पुरों की शक्ति का अनुमान ऋग्वेद की उन ऋचाओं से होता है जिनमें मृध्रवाक्, अयज्वन्, अदेवयु, शिश्नदेवा दासों और दस्युओं के लौह दुर्गों और पुरों को ऋषि इन्द्र से वज्र द्वारा नष्ट कर देने की प्रार्थना करता है। प्रमाणतः द्रविड़ों के पकाई मिट्टी के मकान गाँव में तृणगृहों में रहनेवाले आर्यों को लोहे के बने हुए प्रतीत हुए।

यद्यपि यहाँ मोहनजोदेड़ो, हड़प्पा आदि सैन्धव सभ्यता के नगरों का सविस्तर उल्लेख न अभीष्ट है न आवश्यक, मोहनजोदेड़ो के नगर पर एक दृष्टि डाल लेना अनुचित न होगा। उस नगर की सड़कें परस्पर समानान्तर और दिशा-विरोधी दो रूप से चलकर एकदूसरे को काटती थीं। पथों पर दोनों ओर साधारणतः दोमंज़िले पकाई ईंटों के मकान खड़े थे। मकानों में रहने-सोने के कमरों के अतिरिक्त स्नानागार, कुएँ, छत पर जाने के सोपान मार्ग आदि थे। घर की नाली गंदा जल बाहर निकाल देती थी जिसे सड़क की नाली नगर के बाहर बहा ले जाती थी। नगर की सारी नालियाँ एक साथ नगर के बाहर मिलकर आदमक़द नाली में गिरती थीं जो अपना जल बाहर के उपवनों में उगल देती थीं। सड़कों पर कूड़े के पात्र बने थे। नगर के बाहर स्नान के लिए पक्की ईंटों के लम्बे-चौड़े कृत्रिम तालाब थे, जिन्हें कुएँ के जल से भर और खाली कर दिया जाता था। उनके चारों ओर कपड़े बदलने के लिए बरामदे और कमरे आदि बने थे।

ये नगर ईसा से दो हज़ार वर्ष पहले ही बने थे जो उस

समय के लगभग नष्ट हो गये। बाद का नगर निर्माण प्रायः ग्राम की वास्तु-सामग्री से हुआ—मिट्टी लकड़ी आदि से—जिसे काल ने निगल लिया। साधारणतः इस बीच का काल आर्यों की प्राचीन सभ्यता का माना जाता है। आर्यों के आवास स्थल गाँव थे। नगर निर्माण उन्होंने द्रविड़ों से सीखा और उनके नगर अपेक्षाकृत बहुत पीछे खड़े हुए। यद्यपि आठवीं-सातवीं सदी ईसवी पूर्व अथवा और भी पहले के उनके नगरों अयोध्या, आसन्दीवन्त, इन्द्रप्रस्थ, हस्तिनापुर, अहिच्छत्र, काम्पिल्य, काशी के नाम हम प्राचीन साहित्य में पढ़ते हैं परन्तु इन नगरों में उतने प्राचीन काल की कोई वास्तु आज समूची खड़ी नहीं।

प्राचीनतम वास्तु अवशेष सिन्धु सभ्यता के अवशेषों के अतिरिक्त पटने से प्रायः १२० मील उत्तर-पूर्व राजगिर में हैं। वे प्रायः छठी सदी ई० पू० के राजगृह के प्राचीरों के अवशेष हैं। पत्थर के होने के कारण वे बच रहे हैं। उनके भीतर की 'जरासन्ध की बैठक' तत्कालीन बैठकों का आभास प्रस्तुत करती है। महाभारत के प्रसिद्ध बार्हद्रथ कुल की राजधानी गिरिव्रज को बुद्ध के समकालीन बिंबिसार ने छठी सदी ई० पू० में राजगृह नाम से फिर बसाया, प्रायः प्राचीन नगर से सटे ही हुए। राजप्रासाद की प्राचीन परिधि से तनिक बाहर निकल जाने और केवल वहाँ राजमहल रहने के कारण संभवतः नये नगर का, चतुर्दिक अभिजात आवास हो जाने पर, वह नाम पड़ा। प्रायः तभी की कौशाम्बी (इलाहाबाद ज़िले में कोसम) नगरी भी थी और यद्यपि उसकी प्राचीरें उतनी प्राचीन नहीं हैं, उसके भग्नावशेष की नींव भी उस काल के आधार पर रखी है। अधिकतर अवशेष तो वहाँ शुंगकालीन (द्वितीय शती ई० पू०) हैं परन्तु अभी हाल की खुदाई में उसकी प्राचीरों के भीतर बुद्धकालीन घोषिताराम विहार की अभिलिखित जो पट्टिका मिल गई है उससे उसकी भी प्राचीन रूप में, राजगृह के साथ समकालीनता स्थापित हो गई है। चौथी सदी ई० पू० के पाटलिपुत्र के भग्नावशेष पटना

शहर के निकट कुम्रहार गाँव में मिले हैं। प्रायः बुद्ध के समय ही उस नगर की नींव पड़ी थी। उसका जो आँखोंदेखा वर्णन चन्द्रगुप्त मौर्य की राजसभा में रहनेवाले सिल्यूकस के राजदूत मेगस्थनीज़ ने किया है वह वहाँ खुदाई में मिली सामग्री से प्रमाणित हो जाता है। उस पाटलिपुत्र के वर्णन से हम तत्कालीन भारतीय नगर की व्यवस्था का सही अनुमान कर सकते हैं।

मेगस्थनीज़ लिखता है कि वह भारत का सबसे बड़ा नगर है। उसकी लंबाई साढ़े नौ मील और चौड़ाई पौने दो मील है। वह नगर शोण और गंगा के संगम पर उनके कोण में बसा है। उसकी रक्षा ६०० फ़ुट चौड़ी और ३० हाथ गहरी खाई करती है। इसके अतिरिक्त नगर के चारों ओर लकड़ी की एक विशाल प्राचीर दौड़ती है। उसमें पाँच सौ बुर्जियाँ और ६४ द्वार हैं।

## दुर्ग

इस वर्णन से दुर्ग का भी अटकल लगाया जा सकता है। चौथी सदी ई० पू० के अनेक दुर्गों का उल्लेख सिकन्दर के इतिहासकारों ने किया है। मस्सग, संगल, मालव नगर के दुर्ग अपनी दुरूहता के कारण सिकन्दर की विजय में भारी अवरोध सिद्ध हुए थे। उस काल के उन दुर्गों का प्रशस्त वर्णन तो नहीं मिलता पर शिल्पशास्त्रों में दुर्गों के निर्माण की व्यवस्था है। नगर के-से उनके गोपुरद्वार, प्राचीर, बुर्जियों, अट्टों, तोरणों आदि का सविस्तर वर्णन मिलता है। वस्तुतः दुर्ग भी नगर की ही भाँति बनता था। उसके भी चारों ओर खाई और प्राचीरें होती थीं। पर्वतीय दुर्गों की दुरूहता कठिनाई से विजित हो पाती थी। इन प्राचीरों के ऊपर स्थान-स्थान पर संत्रियों के लिए छिपे स्थान बने होते थे। सारा नगर विपत्ति काल में दुर्ग में शरण ले सकता था।

इस देश के इतिहास के अनुपात से बहुत प्राचीन दुर्ग तो आज यहाँ उपलब्ध नहीं है, पर कुछ पिछले काल के दुर्गों के अवशेष

निश्चय खड़े हैं। बार-बार बसी दिल्ली का पुराना किला इसी प्रकार का है। यादवों की देवगिरि (आधुनिक दौलताबाद, औरंगाबाद और प्रसिद्ध एलोरा की गुफाओं के निकट) का दुर्ग, जिसे अलाउद्दीन ने जीता था और जो आज भी खड़ा है, उत्तर मध्यकालीन है। उसमें चक्करदार सोपान-मार्ग दुर्ग के भीतर बना है जिसकी चोटी पर एक बड़ा तवा रखा है। दोनों ओर से सोपान-मार्ग बन्द कर तवे पर आग जला सुरंग को भर देते थे, शत्रुसेना दम घुट जाने से मर जातो थी। उस दुर्ग की एक राह तो इस प्रकार सुरक्षित है, शेष तीन ओर से उसे खड़ा पहाड़ घेरे हुए है। ऊपर तालाब आदि सभी कुछ हैं जिससे आप-त्काल में कुछ भी छीजे नहीं और सारे नगर की रक्षा हो सके। कुछ आश्चर्य नहीं जो मुहम्मद तुग़लक ने उसे दिल्ली से अधिक सुरक्षित समझा हो।

ग्वालियर के कछवाहों (कच्छपघात) का दुर्ग उससे भी संभवतः पहले का है। पहाड़ी के ऊपर लंबे घेरे में वह प्रवल दुर्ग खड़ा हुआ था। वह भारत के खड़े किलों में मज़बूती में विशेष स्थान रखता है। इसको सर करना बड़ा कठिन हो गया था। चन्देलों का कालिंजर और गुहिलौतों का चित्तौर भी प्रायः तभी बने थे और शक्ति तथा दुरूहता में अजेय माने जाते थे। चित्तौर अपनी अमर गाथा सिर से उठाये आज भी खड़ा है। सासाराम के समीप विहार में रोहतासगढ़ का किला भी मध्यकालीन हिन्दू राजकुल का वनवाया हुआ बड़ा शक्तिमान है। शेरशाह ने उसे बड़ी चतुराई से जीता था। काशी के पास चुनार का किला पहाड़ी की चोटी पर कोट सा दौड़ गया है। एक ओर गंगा उसकी रक्षा करती है, दूसरी ओर पहाड़।

मुगलों से पहले के कुछ प्रबल दुर्ग दक्षिण में भी थे। इनमें देवगिरि (दौलताबाद) के दुर्ग का उल्लेख किया जा चुका है। दक्षिण जाने की राह में असीरगढ़ का किला उत्तर की सेनाओं

का प्रवल अवरोध था। उसकी शक्ति को अनेक विशेषज्ञों ने सराहा है। दक्षिण की प्राय: सभी रियासतें—बीजापुर, अहमदनगर, गोलकुंडा—अपने दुर्गों की अजेयता के लिए प्रसिद्ध थीं। गोलकुंडा का दुर्ग तो असाधारण प्रवल था। आज भी अपने खड़े-गिरे रूप में वह दर्शकों को अपनी दुरूहता से चकित कर देता है। उसे देखकर पता चलता है कि वस्तुत: उस खूनी काल में इन दुर्गों से कैसे संकट काटे जा सकते थे और कैसे इनको दृढ़ रखना आवश्यक था। गोलकुंडा का दुर्ग वस्तुत: समूचा नगर है। नगरों का निर्माण दुर्गों की विधि से हुआ करता था और दुर्गों का ऐसा जिससे उनमें सारा नगर आश्रय ले सके।

उत्तर के तीन असाधारण किले मुगलों ने वनवाये—आगरे, इलाहावाद और दिल्ली के। आगरे और इलाहावाद के अकवर ने वनवाये और दिल्ली का किला शाहजहाँ ने खड़ा किया। इलाहावाद का किला गंगा-यमुना के संगम पर है। विशेष मज़बूत और ऊंचा तो वह नहीं है पर जल की ओर से निश्चय सुरक्षित है। फ़तहपुर सीकरी के दुर्गगत अभिराम नगर को जल के अभाव ने जब वीरान कर दिया तव अकवर ने पास ही आगरे का दुर्जेय और सुन्दर किला वनवाया और उसने, जहाँगीर तथा शाहजहाँ ने उसे दर्शनीय इमारतों से भर दिया। दिल्ली का किला शाहजहाँ की निर्माण-कला का प्रमाण है। मुगलों ने अपने किले समतल भूमि पर नदियों के तट पर वनवाये। उन्हें अपने पराक्रम के कारण शत्रु का इतना डर न था जितना शत्रु को उनसे था। इससे रक्षा के अर्थ इतना नहीं जितना कला-भावना से उन्होंने अपने भवन और ये दुर्ग वनवाये। उनके से सुन्दर—आगरे और दिल्ली के किलों से—एशिया की भूमि पर दूसरे किले नहीं। उनके वाहरी और भीतरी दोनों शिल्प असाधारण सुन्दर हैं। उन्हींका यह परिणाम था कि दर्शनीय आमेर (अम्बर) का दुर्ग अपनी नई सजधज के साथ खड़ा हुआ। इन दुर्गों के भीतर के भवन तो सौन्दर्य में अप्रतिम हैं ही फ़तहपुर सीकरी में तो अकबर ने नगर-

निर्माण की कला को चरमसीमा तक पहुँचा दिया। वहाँ उसने नगर, दुर्ग और राजप्रासाद तीनों को एकत्र कर दिया था।

**राजप्रासाद**

प्राचीनतम राजप्रासाद, जिसका वर्णन मिलता है, चन्द्रगुप्त मौर्य का है। राजगृह और कौशाम्बी के भग्नावशेष भी ऐसे नहीं बचे कि उनसे बुद्धकालीन राजप्रासादों के वास्तु का अनुमान किया जा सके। परन्तु कुम्रहार के भग्नावशेष और मेगस्थनीज़ के वर्णन से अशोक के पितामह चन्द्रगुप्त के महलों का एक चित्र मिल जाता है। मेगस्थनीज़ अपनी 'इंडिका' में लिखता है कि चन्द्रगुप्त का राजप्रासाद लंबे-चौड़े 'पार्क' में खड़ा था जिसमें अनेक मछलियों वाले सुन्दर तालाब थे, अभिराम बगीचे थे। सुनहले-रूपहले उस राजमहल के खंभे थे जिनकी चाँदी की कटी बेलों पर सोने के पक्षी बैठे थे। वह राजप्रासाद सूसा और एकबताना के महलों से कम शालीन न था। पाँचवीं सदी ईसवी में चीनी यात्री फ़ाह्यान ने भी उसे देखा था। वह उसे अशोक का महल कहता है। अशोक ने संभवतः उसमें कुछ परिवर्तन किये थे। उस पत्थर-लकड़ी के बने प्रासाद को देखकर फ़ाह्यान को लगा कि उसे मनुष्य नहीं बना सका होगा, देवों ने बनाया होगा। हुएन्त्सांग के समय तक वह जलाकर भस्म कर डाला गया था। इधर की खुदाइयों से कुम्रहार में उस प्रासाद के जो भग्नावशेष मिले हैं उनमें पत्थर के खंभों का हाल भी है जिनकी बनावट पर्सिपोलिस के राजप्रासाद के हाल जैसी ही है।

प्राचीन काल के राजप्रासादों का निर्माण बड़े पैमाने पर होता था। उनमें चित्रशाला, संगीतशाला, नाट्यमंडप सभी होते थे। कालिदास ने अपने ग्रंथों में राजप्रासादों और अट्टालिकाओं का जो वर्णन किया है, उसके आधार पर उनका रूप खड़ा किया जा सकता है। उससे प्रकट है कि राजप्रासाद भीतर और बाहर

दो विशिष्ट भागों में बँटा होता था [१]। उसके भीतरी भाग का महाकवि ने 'कक्ष्यान्तराणि[२]', 'गृहंरहः'[३], 'गर्भवेश्म'[४] आदि अनेक पदों से संकेत किया है। प्रासाद ऊपर-नीचे अनेक मंज़िलों के होते थे। वे अट्ट (ऊपर का कमरा), तोरण, अलिन्द, आँगन, सभागृह, कारागार, न्यायालय, बराम्दे (मणिहर्म्यपृष्ठतल) जो चन्द्रमा की किरणों से चमकती संगमरमर की छतों पर खुलते थे, प्रमदवन (नज़रबाग) आदि से संयुक्त होते थे[५]। उनके विमान-प्रतिच्छन्द[६], मणिहर्म्य[७], मेघप्रतिच्छन्द[८], देवच्छन्दक[९] आदि अनेक नाम होते थे जो उनके विविध प्रकारों को सूचित करते थे। कवि के विमानप्रतिच्छन्द प्रकार के महल का उल्लेख मत्स्यपुराण में विमानच्छन्द नाम से हुआ है।[१०] उस पुराण के अनुसार इस प्रकार का प्रासाद आठपहला और अनेक बुर्जियोंवाला ३४ हाथ चौड़ा होता था। मणिहर्म्य का उल्लेख कौटिल्य के अर्थशास्त्र

---

१ शाकुन्तल, ५, ३; कुमारसम्भव, ७, ७०; ८, ८१; रघुवंश, १४, ४२; विक्रमोर्वशी, पृ० २६.

२ कुमारसम्भव, ७, ७०.

३ वही, ८, ८१.

४ रघु० १६, ४२.

५ वही, १६, ४२; ५, ७५; १६, ६ और ११; १६, २—तल्प; तोरण—वही, १, ४१; ७, ४; कु० ७, ६३; उ० मे०, १२; अलिंद—शाकु०, पृ० १५६; माल०, पृ० ७८; उत्तरमेघ ६; शाकु०, पृ० २२३; रघु०, १७, २७; सदोगृह, ३, ६७; माल०, पृ० ६४, ७६; विक्र०, पृ० २६; शाकु०, पृ० १८५; उ० मे०, १७; मणिहर्म्यपृष्ठतल—विक्र०, ६५; प्रमदवन—वही, ४, ५४.

६ उत्तरमेघ, ६.

७ विक्र०, पृ० ६४ और ६५.

८ शाकु०, पृ० २१३; २२; २२८.

९ विक्र०, पृ० २६.

१० ५, २५, ३२, ३३, ४७, ५३.

में भी हुआ है। उसका स्फटिक रूप सम्भवतः संगमरमर को व्यक्त करता है। उसकी छत तक पहुँचने के लिए सोपानमार्ग चाँदनी में गंगा की तरंगों (गंगातरंगशिशिरेणस्फटिकमणिशिला-सोपानेन)[१] सा चमकता था। मानसार ने मेघप्रतिच्छन्द का मेघकान्त नाम से उल्लेख किया है जो दसमहला प्रासाद था।[२] देवच्छन्दक भी प्रायः इसी प्रकार का महल था। इन महलों की ऊँचाई का संकेत कालिदास ने अभ्रंलिह, अभ्रंलिहाग्र[३] (गगन-चुंबी) आदि शब्दों से किया है। तलों की ऊपरी छत विमानाग्र-भूमि,[४] पृष्ठतल आदि कहलाती थी। उनकी ऊँचाई का अनुमान उनके नाम के साथ संबंधित 'विमान' पद से ही लगाया जा सकता है।

प्रासाद साधारणतः दो भागों में विभक्त थे। भीतर का भाग अन्तःशाला कहलाता था जिसमें अन्तःपुर (अवरोध, शुद्धान्त) शयनागार आदि होते थे और बाहर के भाग में संन्यासियों आदि से मिलने के लिए अग्निगृह, सभागृह, न्यायगृह, कारागृह, आँगन आदि होते थे। महल के चारों ओर, अथवा मुखद्वार के समीप या महल के पीछे प्रमदवन(उद्यान) होता था।[५] उसके एक भाग में पक्षियों को पालने का प्रवन्ध था, पशुओं का संग्रहालय, तालाव, बावड़ी आदि होते थे।[६]

एक विशेष प्रकार के महल—समुद्रगृह[७] —का उल्लेख सर्वत्र मिलता है। प्रगट ही यह ग्रीष्मकाल के उपयोग के अर्थ में शीत-प्रासाद था। कामदग्ध प्राणियों को प्राचीन नाट्यकार साधारणतः

---

[१] वि०, पृ० ६५.

[२] २८, १६-१७.

[३] उ० मे०, १; रघु०, १४, २९.

[४] उ० मे०, ६.

[५] वि०, पृ० ५४.

[६] माल०, पृ० ८५.

[७] वही, पृ० ७२, ४८, ८०.

इसी भवन में ले जाते हैं। इस प्रकार के भवन के चारों ओर यंत्रधाराएँ[1] (फ़व्वारे) चलती रहती थीं जिससे प्रासाद का वातावरण शीतल हो जाया करता था। समुद्रगृह का उल्लेख मत्स्यपुराण, भविष्यपुराण और बृहत्संहिता में हुआ है।[2] मत्स्यपुराण[3] के अनुसार वह भवन सोलहपहला और दो तलों का होता था।

राजप्रासादों से भिन्न अन्य अट्टलिकाएँ सौध[4], हर्म्य[5] आदि कहलाती थीं। सौध संज्ञा पलस्तर और चूना किये प्रासादों की थी। 'सुधा' चूना को कहते हैं। मानसार ने हर्म्य को साततला प्रासाद माना है[6]। कालिदास ने भी उज्जयिनी के ऊँचे प्रासादों का उल्लेख सौध और हर्म्य नाम से किया है[7]। नगर और राजप्रासादों अथवा सार्वजनिक आवासों के द्वार तोरणों से मंडित होते थे। तोरण की भूमि अनेक चित्रों से उत्खचित होती थी। कुषाण और गुप्तकाल में उनका रूप अधिकतर मकर का होता था, जिससे उनका नाम ही मकरतोरण पड़ गया था। शुंगकाल (साँची) और कुषाणकाल के तोरणों के दोनों ओर हाथी आदि पर चढ़ी नारीमूर्तियों का अलंकरण होता था। अलिन्द (वारजे) तोरण से युक्त होते थे। ऊपर की बुर्जियों और उच्चतम कमरे को भी अट्ट कहते थे; वस्तुतः ऊपर के कमरे का नाम तल्प भी था। प्राचीन प्रासादों में वातायनों (खिड़कियों)

---

१ देखिए, उपाध्याय : इण्डिया इन कालिदास, पृ०२४७-४८.

२ मत्स्य०, अध्याय २६९, श्लोक ३८, ५३; भविष्यपु०, १३०, २४; आचार्य : इण्डियन आर्किटेक्चर, पृ० ११६.

३ आचार्य : वही, पृ० ११६.

४ इण्डिया इन कालिदास, पूर्ववत्।

५ वही।

६ २५, २९.

७ पू० मे०, ३८, २०; उ० मे० १.

के अनेक उल्लेख मिलते हैं। खिड़कियों के वातायन,[१] आलोक-मार्ग[२], जालमार्ग[३], गवाक्ष[४] आदि अनेक नाम थे। ये उनके प्रकारों को भी ध्वनित करते हैं। वातायन खिड़की का साधारण नाम था। आलोकमार्ग ऐसी खिड़की थी जहाँ बैठकर बाहर के दृश्य देखते थे। जब ऐसी खिड़की में जालीदार कटाव का काम होता था तब उसे जालमार्ग कहते थे। गवाक्ष से स्पष्ट है कि इस प्रकार की खिड़की गाय (अथवा वृषभ) के नेत्र की शक्ल की होती थी। वातायन का साधारण अर्थ तो वैसे कोई खिड़की हो सकती है जिससे वायु भीतर प्रवेश कर सकती हो, पर उसके लिए बड़ी खिड़की को ही कुछ लोगों ने वातायन माना है जिससे उसका भी एक विशेष (बड़ा) प्रकार ध्वनित होता है। प्रासादों के स्नानागारों में यन्त्र से चलनेवाली जलधारा का भी प्रबन्ध था जिससे उनको यन्त्रधारागृह कहते थे। उनमें स्फटिक, संगमरमर आदि की फ़र्श बनी होती थी। यन्त्रप्रवाह और यन्त्र-धारा से तात्पर्य दौड़ते नलों से है। इस प्रकार का प्रबन्ध अकबर ने फतहपुर सीकरी के अपने महलों में किया था। कालिदास ने रघुवंश में ग्रीष्म के आनन्ददायक धारागृहों का वर्णन इस प्रकार किया है—

यन्त्रप्रवाहैः शिशरैः परीतान्रसेन धौतान्मलयोद्भवस्य।
शिलाविशेषानधिशय्य निन्युर्धारागृहेष्वातपमृद्धिमन्तः॥[५]

राजप्रासाद के बाहरी भाग में घुड़साल, गजसाल आदि बने होते थे। घोड़ों और हाथियों को बाँधने के लिए खूंटे मन्दुर[६] कहलाते थे।

---

[१] रघु०, ६, २४; ८, १२, २१; १४, १३; उ० मे०, २५; ऋतु०, ५, २.
[२] रघु०, ७, ६; वि०, ६३.
[३] रघु०, ६, ४३; ७, ९; पू० मे०, ३२, उ० २७.
[४] रघु०, ७, ११; १६, ७; उ० मे०, ३५; माल०.
[५] रघु०, १ , ४६.
[६] रघु०, १६, ४१.

पहले राजप्रासाद ईंट आदि के बना करते थे परन्तु पंद्रहवीं सदी से राजपूताना, बुन्देलखंड आदि में वे पत्थर के बनने लगे। उस काल मध्यभारत में बने और आज भी खड़े ३०-४० राजमहल सुन्दरता और आकर्षण की दृष्टि से तत्कालीन वास्तु के अभिराम उदाहरण हैं। ग्वालियर किले के सुन्दर (गूजरी और दूसरे) महल राजा मानसिंह (१४८६-१५१८) के बनवाये हुए हैं। बाहरी प्राचीर की ऊँची बुर्जियाँ बराबर उठती चली गई हैं। उनके गुम्बजों पर पहले सुनहरे ताँबे की चादरें चढ़ी थीं। भीतर की दीवारों पर मीनाकारी की पट्टियाँ गड़ी हैं जिन पर वृक्षों, मानवों, गजों, सिंहों, हंसों आदि के चित्र अंकित हैं। गूजरी महल भी अत्यन्त सुन्दर है। बीरसिंह देव के बनवाये दतिया और ओड़छा के शालीन महल, सूरजमल के दीग के महल और बाग, मानसिंह और जयसिंह के बनवाये अम्बर (आमेर) के महल और जयपुर के हवामहल, उदयपुर के अनेकानेक प्रासाद (बड़ी पोल, त्रिपोलिया द्वार, राई आँगन, चीनी का चिनामहल, बड़ा महल, अमर विलास, करनविलास, गुल-महल, जगमन्दिर द्वीप, जगनिवास), जोधपुर के हृदयहारी पुराने राजप्रासाद सोलहवीं और अठारहवीं सदियों के बीच बने। उनमें हिन्दू-मुसलमान दोनों शैलियों का सुघड़ योग है। कुछ राजपूत राजाओं ने तो अपने पूर्वजों की समाधियों पर विशेष प्रकार की छतरियाँ भी खड़ी कीं जो मुसलमान कब्रों से प्रभावित थीं।

### सार्वजनिक आवास

साधारणतः राज्य की ओर से बननेवाले आवश्यक भवनों का विभाग 'वार्ता', 'सेतुबन्ध' आदि कहलाता था। अशोक ने यात्रियों के लिए दूर बाहर जानेवाले वणिक्पथों पर फलों और छायावाले पेड़ लगवा दिये थे। प्राचीन काल के पिछले मुसल-मान काल तक सड़कों पर प्याऊ बैठाने और यात्रियों के लिए धर्मशाला, सराय आदि बनवाने की प्रथा थी। पुण्यशाला एक

प्रकार का पूजागृह थी, चैत्यों से मिलती-जुलती, संभवतः उन्हीं की परम्परा में, उनसे ही विकसित। मानसार में ग्राम-निर्माण योजना में धर्मशाला गाँव के दक्षिण-पूर्व भाग में प्रवेश-द्वार के पास ही बनवाने का विधान है।

साधारण नागरिकों के आवास उनकी आर्थिक स्थिति के अनुसार छोटे-बड़े हुआ करते थे। झोपड़ियों को उटज और पर्णशाला कहते थे जो अधिकतर तृण की बनी होती थीं। साधारण मकान भवन, गृह आदि कहलाते थे। उनका रूप साधारणतः इस प्रकार था: चौकोन आकृति, भीतर आँगन चारों ओर बरामदों की दीवारों से घिरे हुए। अनेक कमरे जो बरामदों में खुलते थे। कमरे सोने, रहने, खेलने (क्रीडावेश्म),[1] स्नान और सामान रखने (सारभाण्डभूगृहे गुहायामिव[2]—छिपे हुए कमरे जो गुफा के-से लगते थे) के। तोरणवाले बारजे और खिड़कियाँ। बाहर-भीतर की दीवारें अधिकतर चित्रित।[3] बाहर के द्वार के दोनों ओर शुभार्थ शंख, पद्म, इन्द्र-धनुष[4] आदि चित्रित कर लिये जाते थे।

## वापी, तड़ाग, दीर्घिका, कूप आदि

वापी, तड़ाग, कूप आदि बनवाने के दृष्टान्त भारतीय अभिलेखों में अनन्त मिलते हैं। ऐसा करना बड़ा पुण्य-कर्म समझा जाता था और अधिक संख्या में राज्य और राज्येतर व्यक्ति इन्हें खोदवाकर प्रस्तुत करते थे। अन्यत्र मोहनजो-देड़ो के स्नान-तड़ागों का वर्णन कर आये हैं। खेतों को सींचने के लिए नहरों आदि का निकालना भी सरकार के वार्ता-सेतुबन्ध के

---

[1] विक्र०, २, २२; ५, २२.

[2] माल०, पृ० ६३, ६४.

[3] सद्मसु चित्रवत्सु। रघु०, १४, १५ और २५; सचित्राः प्रासादाः उ० मे०, १.

[4] सुरपति धनुश्चारुणा तोरणेन; उ० मे०, १२, १७.

अधीन था। उससे राज्य की आय विशेष होती थी और किसानों की खेती में समृद्धि। खारवेल के द्वितीय शती ई० पू० के हाथी-गुम्फावाले अभिलेख में मगध के नन्दराज द्वारा खुदवायी पनाली का उल्लेख हुआ है (नन्दराज उद्घाटितं प्रणाली तिवस सत पूर्वम्)।[१]

उससे भी पहले अशोक के समय में उसके सौराष्ट्र प्रांत के शासक यौनराज तुषास्प ने गिरनार पर्वत पर दो नदियों को बाँध कर सिंचाई के अर्थ एक सुन्दर ह्रद (झील) बना दिया था।[२] उसका बाँध प्रायः चार सौ वर्ष बाद १५० ई० में टूट गया। गिरनार के अपने अभिलेख में शकक्षत्रप रुद्रदामन् ने लिखवाया है कि उसने अपनी प्रजा पर बगैर कोई नया कर लगाये राज्य के खर्च से वह बाँध बँधवा दिया।[३] स्कन्दगुप्त विक्रमादित्य के उसी गिरनार पर्वत के लेख से प्रगट है कि वह बाँध नदियों की बाढ़ से फिर टूट गया और सारा समीपवर्ती भूखण्ड उस बाढ़ से डूब चला। तब स्कन्दगुप्त ने भी उस कृत्रिम झील को फिर से बाँधा।[४] स्कन्दगुप्त का तत्संबंधी लेख अत्यंत सुन्दर पद्य में खुदा हुआ है।

राजा भोज आदि पिछले काल के राजाओं ने भी अनेक तालाब खुदवाये। मन्दिरों की ही भाँति तालाबों से भी नगर और राजधानी को सजाने की प्रथा थी। राजाओं के अतिरिक्त साधारण गृहस्थ भी तालाब, वापी, कूप आदि खुदवाते थे जो बड़ा पुण्य-कार्य माना जाता था। गाँव और नगर इनसे भरे हुए हैं। मन्दिरों के साथ भी, विशेषकर दक्षिण में, सुन्दर बँधे हुए तालाब खुदवाये जाते थे। मुस्लिम राजाओं ने भी झील और

---

१ ए० इ०, २०, १९३०, पृ० ७१; जायसवाल: जे० बी० ओ० आर० एस०, १९१८, १९२७, १९२८.

२ उपाध्याय: प्राचीन भारत का इतिहास, पृ० १५५.

३ वही, पृ० २११-१२; ए० ई० ८, पृ० ३६-४९.

४ ए० इ०, ८, पृ० ३६-४९; उपाध्याय: प्रा० भा० इ०, पृ० २६१.

तालाब बनवाने की प्रथा कायम रखी। मालवा के सुलतानों ने एक-से-एक सुन्दर तालाब बनवाये। भोपाल और हैदराबाद के मुस्लिम राजकुलों की बनवाई झीलें अद्‌भुत विस्तार लिये हुए हैं। पर राणाओं का बनवाया उदयपुर का उदयसागर भी इस दिशा में अपना विशेष स्थान रखता है।

सड़क के किनारे के वापी, कूप आदि के अतिरिक्त उद्यानों में विशेष सुन्दर रूप से उनका निर्माण होता था। उद्यान भी दो प्रकार के होते थे। एक प्रासादों से लगे नज़रबाग या प्रमदवन का उल्लेख ऊपर कर आये हैं। दूसरे प्रकार के उद्यान सार्वजनिक होते थे, नागरिकों के लिए, जो नगर के बाहर (नगरोपकण्ठोपवनानि) लगाये जाते थे। नगर के बाहर मथुरा, उज्जैन की भाँति वे एक-से-एक लगे दूर तक चले जाते थे (उद्यान परम्परा)।[१] दीर्घिका, वापी, कूप आदि दोनों प्रकार के उद्यानों में निर्मित होते थे। दीर्घिका पतला लम्बा तालाब थी और वापी बावली (ड़ी) को कहते थे। दोनों में संभवतः अन्तर बस इतना ही था कि दीर्घिका लम्बी होती थी और वापी गोल। कालिदास ने गृहदीर्घिका का उल्लेख किया है।[२] वापी के संबंध में वही कवि कहता है कि उसका सोपान मार्ग आलता लगे पावों से चलती सुन्दरियों के स्पर्श से लाल हो जाया करता था। दीर्घिकाओं में जल से लगी और जल के भीतर से उठती ढाल पर छिपे हुए कमरे बने थे जिनमें श्रीमान और राजा जलक्रीड़ा के समय विहार करते थे। कालिदास का व्याख्याता इनका उद्देश्य 'सुरत' और 'कामभोग' बताता है।[३] इस प्रकार के कमरे लखनऊ में पिक्चर गैलरी से लगे नवाब वाजिदअली शाह के बनवाये तालाब में भी हैं। मेघदूत की कदलीवेष्टित वापी से लगा एक

---

[१] रघु०, ६, ३५; १४, ३.

[२] वही, ६, ३७.

[३] रघु०, १६, ६ पर टीका.

क्रीडाशैल भी था।[१] उद्यानों में क्रीड़ाशैल बनवाने की प्राचीन काल में सामान्य परम्परा थी। पत्थर के ऊपर पत्थर रखकर दर्शनीय कृत्रिम पर्वत रच लिया जाता था। उसके पास ही एक स्फटिक स्तम्भ था जिसपर यक्षिणी का मयूर विराजता था और स्तम्भ के आधार से पक्षी की स्वर्ण-शृङ्खला बँधी[२] रहती थी। पक्षियों के लिए घर और उद्यानों में वासयष्टि बनाने की भी प्रथा थी।[३]

उद्यान में वारियंत्र (फ़व्वारे) भी बनते थे जो सदा घूमते (भ्रांतिमत्) रहते थे। भ्रांतिमत् वारियन्त्र से निरन्तर फेंकी जाती बूँदों को पकड़ने के लिए प्यासा मयूर सदा उसका चक्कर लगाया करता था।[४] फ़व्वारों का जल नीचे गिरकर पनालियों से बगीचे में बह चलता था जिससे वृक्षों, पौधों और लताओं के आलवाल (क्यारी) भर जाते थे।[५]

## मुस्लिम-वास्तु

इस्लाम के भारत में आने से हिन्दू मंदिरों और मूर्तियों की बड़ी हानि हुई। हज़ारों मंदिर ज़मीन में मिला दिये गये। अनेक बार अनेक स्थानों पर मंदिरों का बनना बन्द हो गया। परन्तु मुसलमान स्वयं स्थापत्य के शत्रु न थे। एक-से-एक इमारतें इस देश में उन्होंने बनवाई जो भारतीय गौरव का कारण बनीं। संसार के किसी अन्य मुस्लिम देश में इस्लाम की इतनी शालीन, इतनी भव्य इमारतें न बनीं। आनेवालों ने इस देश को अनेक प्रकार से बरबाद करके भी इसे अपना घर बनाया, अपने सारे सपने यहाँ सच्चे किये और नगर और राजधानियाँ एक नये प्रकार के वास्तु से चमक उठीं। दिल्ली, अजमेर, आगरा, जौनपुर,

---

१ उ० मे०, १४.

२ वही, १६.

३ वही; वि०, ३, २.

४ माल०, २, १२.

५ रघु०, १२, ३; उपवनविनोद, पृ० ७३.

गौड़, मालवा, गुजरात, बीजापुर, सासाराम, लखनऊ आदि में सुन्दर-से-सुन्दर किले, मस्जिदें, मक़बरे, इमामबाड़े बने जैसे इस देश ने कभी देखे न थे, जो अन्य मुस्लिम देशों की ईर्ष्या और आदर्श बन गये। और यह कार्य एक दिन में या मुसलमानों ने अकेले नहीं संपन्न कर लिया। उसमें अनेक युग लगे और हिन्दू-मुसलमान दोनों का श्रम, दोनों की मेधा लगी, तब उस नये वास्तु के पाये खड़े हुए। और ये पाये खड़े हुए पहले अधिकतर हिन्दू शिल्पियों की मेधा के आधार पर, हिन्दू-मुस्लिम समन्वित वास्तु के सहारे।

इतने भव्य और विस्मयकारक वास्तु का संक्षिप्त विवरण न देने से निश्चय भारतीय वास्तु का अध्ययन अधूरा रह जाएगा, इससे यहाँ उसके प्रति संकेत मात्र करेंगे।

कुतुबुद्दीन ने दिल्ली और अजमेर में मक़बरे बनवाये। उनमें हिन्दू राज लगे और उन्होंने उन्हें अनेक लक्षण हिन्दू वास्तु के दे दिये। ग्यारह मेहराबोंवाली दिल्ली की कुतुब मस्जिद शक्ल में मुस्लिम है, बनावट में हिन्दू। कुतुबमीनार का उल्लेख अन्यत्र हो चुका है। उसकी सविस्तर क्रिया हिन्दू स्थपतियों के योग का परिणाम है। कुतुबमीनार भारत की वास्तु विभूतियों में से है, २५० फुट के लगभग ऊँची, संसार की मीनारों में अकेली। वस्तुतः मीनार मुस्लिम वास्तु की मौलिक देन है। कुतुब मस्जिद के दखिन सुलतान अलाउद्दीन खिलजी ने १३१० में एक शालीन दरवाज़ा खड़ा किया। हिन्दू-द्वेषी होते भी उसकी उस कृति पर हिन्दू प्रभाव की छाप पड़ ही गई!

जौनपुर को शर्की सुलतानों ने नगर को सुन्दर इमारतों से भर दिया। वहाँ एक विशिष्ट मुस्लिम शैली का प्रचलन हुआ। जौनपुर की मस्जिदों में सबसे सुन्दर और शालीन अताला है जो १४०८ ई० में खड़ी हुई। उसका दरवाज़ा, हाल आदि तो निस्संदेह मुस्लिम शैली के हैं परन्तु शेष सारा शिल्प हिन्दू है। हिन्दू-मुस्लिम सम्मिलित शैली में बनी यह मस्जिद तुगलकी

विशालता लिये हुए भी असाधारण सुन्दर है। बंगाल के सुल्तान भी जौनपुर के सुल्तानों की ही तरह दिल्ली से स्वतंत्र हो गये थे। वहाँ उन्होंने अपनी स्थानीय शैली का आरंभ किया, अधिकतर बाँस की बनावटवाली शैली का। गौड़ की मस्जिद तो 'गौड़ का रतन' कही गई है यद्यपि उसकी शैली भिन्न है।

मांडू मालवा की राजधानी थी, पठानों की। वहाँ के सुल्तानों ने वास्तु के उत्तमोत्तम आदर्श वहाँ स्थापित किये। परन्तु प्रान्तीय मुस्लिम शिल्प में सुन्दरतम वास्तु गुजरात का है। वहाँ की मस्जिदों पर हिन्दू कला का गहरा प्रभाव है। लगता है कि मुस्लिम धर्म के अनुकूल आवश्यक परिवर्तन कर वस्तुतः वे मस्जिदें मध्यकालीन हिन्दू-जैन मंदिरों के अनुकरण में बनीं। गुजरात और दक्षिणी राजपूताना के मंदिरों के अलंकरण की समूची समृद्धि उनपर बरसा दी गई। गुम्बजों और मेहराबों के सिवा सारी वास्तु-क्रिया उनकी हिन्दू है। खम्भात की प्रधान मस्जिद का द्वार तो लगता है जैसे हिन्दू मंदिर का मंडप है। धोल्का की हिलाल खाँ काज़ी की मस्जिद की छत शुद्ध हिन्दू मंदिर की पिरामिडनुमा छत है और हिन्दू मंदिरों की दीवारों की भाँति उसकी भूमि भी अलंकरणों से भर दी गई है। इस शैली के सुन्दरतम उदाहरण अहमदाबाद में हैं। वहाँ की प्रसिद्ध जामा मस्जिद की छत हिन्दू शैली में बनी है। अहमदाबाद की सुन्दरतम इमारत महाफ़िज़ खाँ की मस्जिद है। उसकी मीनारें आकर्षक कटाव से भरी हैं, सर्वथा हिन्दू शैली में, और उन्हें देखते ही राणा कुम्भा का चित्तौरवाला विजयस्तम्भ याद आ जाता है।

दक्षिण की मुस्लिम रियासतें भी अपनी वास्तु-शैली के लिए बहुत प्रसिद्ध हुईं। उनकी शैली भी हिन्दू-मुसलमानों की घुली-मिली शैली से प्रभावित होने से सर्वथा वंचित न रह सकी।

गुलबर्गा, बीदर, गोलकुंडा, हैदराबाद, सभी अपनी विशिष्ट वास्तु-शैली के लिए प्रसिद्ध हुए। बीजापुर की इमारतें निजी विशेषता रखती हैं। इब्राहिम आदिलशाह द्वितीय (१५७९-

१६२६) का मक़बरा पर्याप्त आकर्षक है और मुहम्मद आदिल-शाह के प्रसिद्ध गोल गुम्बज का आकार में संसार के गुम्बजों में दूसरा नंबर है। उसे वास्तु-विशारद शिल्प-क्रिया का आश्चर्य मानते हैं। भीतर से वह १७८ फ़ुट ऊँचा है।

बिहार में भी एक स्थानीय शैली का सूर सुल्तानों के शासन में उदय हुआ। शेरशाह ने सासाराम में झील के बीच अपना मक़बरा बनवाया। शालीनता और भव्यता में उत्तर भारत की प्रारंभिक मुस्लिम इमारतों में उसकी-सी कोई नहीं। उस पर भी हिन्दू वास्तु का खासा प्रभाव है। भीतर के द्वारों में मेहराब के स्थान पर सपाट पड़ी पट्टी है, मेहराब नहीं।

बाबर ने मुगल साम्राज्य की इस देश में नींव डाली और एक नई शैली का जन्म हुआ। नितान्त नाज़ुक और आकर्षक शैली का। कला के प्रायः सभी क्षेत्रों में मुगलों ने अद्भुत अनु-राग दर्शाया। बाबर की बनवाई अनेक इमारतों में अब केवल पानीपत की बड़ी मस्जिद और सम्भल (रुहेलखंड) की जामा मस्जिद ही बच रही हैं।

अब तक इस देश की मुस्लिम इमारतें हिन्दू वास्तु के प्रभाव से मुक्त हो चुकी थीं पर अकबर फिर एक बार उस ओर झुका। आगरे के किले में उसने अनेक महल हिन्दू शैली में बनवाये। हुमायूँ का दिल्ली का मक़बरा, जो ताजमहल का आभास और बारीकी लिये हुए है, अकबर ने ही ईरानी शैली में बनवाया था। फ़तेह-पुर सीकरी का नगर बसाकर उसने नगर-निर्माण में एक विस्मय खड़ा कर दिया। उसका बुलन्द दरवाज़ा बुलन्दी में संसार के उच्चतम द्वारों में गिना जाता है। उस नगर की अभिराम शैली, उसके भित्ति-चित्र, सभी कुछ अकबर की महान् मेधा की उपज थे। आगरा के निकट सिकन्दरा में जहाँगीर ने अकबर का आली-शान मक़बरा बनवाया। उसके शासनकाल की दूसरी इमारत, श्वेत संगमरमर की, एतमादुद्दौला की कब्र है।

पर भारत का सबसे शालीन निर्माता तो शाहजहाँ हुआ।

उसका बनवाया उसकी मलका आरज़ूमन्द बानू बेगम (मुमताज-महल) का संगमरमर का मक़बरा ताजमहल संसार की सुन्दरतम कलाकृति है। विन्यास और क्रिया उसकी अद्भुत हैं। उस-सा अभिराम, उस-सा शालीन, उस-सा आकर्षक वास्तु स्थपति ने कभी न रचा। कुछ विस्मय नहीं जो ताज संसार के आश्चर्यों में गिना गया हो। मोती मस्जिद और जामा मस्जिद भी उसीकी बनवाई हैं, दोनों एक-से-एक सुन्दर। पर ताज तो शिल्प को सुईकारी है। उस पर अमित धन व्यय हुआ, निःसीम श्रम लगा। परन्तु उनसे जो बना वह संसार का अनजाना था, इतिहास का अनजाना।

अध्याय दो

## मूर्तिकला

### मूर्ति विज्ञान

संसार में मूर्ति का प्रतीक जितना शक्तिशाली रहा है उतना अन्य कोई प्रतीक नहीं। त्रास और कुतूहल से भगवान और धर्म का उदय हुआ परंतु उनसे बहुत पूर्व मूर्ति की काया सज गई थी। भगवान का उदय हो चुकने पर भी व्यक्तिगत संबंध के लिए एक माया चाहिए थी और मानव ने जैसे प्रेम और श्रद्धा मानव अथवा व्यक्ति के प्रति ही विकसित किए थे उस दिशा में भी उसे कुछ अपना-सा ही चाहिए था और प्रतिमा अपने ही अनुरूप उसने रच डाली। आत्मीयता मूर्त हुई।

प्राथमिक चिंताकुल मानव की इस प्रकार मूर्ति पहली अभिसृष्टि थी। प्रशांत सागर से अतलांतिक तक सारी भूमि मूर्ति पूजती और उससे डरती थी। भय जब स्थायी हो गया तब उससे मानव परचा और उसको धीरे-धीरे सुन्दरतर करने लगा, प्रिय आत्मीय जैसा। मूर्ति में कला बसी। भारत के इतिहास में भी मूर्ति उतनी ही पुरानी है जितना पुराना उसका जाना हुआ इतिहास है। हमारी प्राचीनतम सभ्यता के भग्नावशेष सिंधु

घाटी में मिले हैं, हड़प्पा, मोहेनजो-देड़ो आदि में। परन्तु आश्चर्य है कि वह सभ्यता कला के शैशव से हमारा परिचय नहीं कराती, उसकी पराकाष्ठा से कराती है। एक-से-एक सुन्दर मूर्तियाँ, एक से-एक मर्महर मुहर, एक-से-एक अभिराम प्रतीक बनते हैं और सहसा सारा छिन्न-भिन्न हो जाता है, उमंगता जीवन अपनी संधियों से विखर जाता है। सभ्यता की शृंखला सहसा टूट जाती है।

फिर प्रायः डेढ़ हज़ार वर्ष बाद भारतीय रंगमंच का पर्दा उठता है और उस पर चंद्रगुप्त मौर्य और अशोक आ खड़े होते हैं। उनकी सुथरी निखरी कला असाधारण प्रौढ़ता लेकर आती है और उसके विकास की मंज़िलें ढूंढ़कर भी हम नहीं पाते। ऐसा नहीं कि बीच का काल सर्वथा अनुर्वर रहा हो। प्राङ्मौर्य काल में निश्चय कला से संबंधी प्रयास हुए हैं, बर्तन-भांड की भूमि पर्याप्त निष्ठा से कोरी चिकनाई गई है। और जब-तब मूर्तियों का निर्माण भी हुआ है जिसका पता इक्के-दुक्के मिल जानेवाले प्रतीकों से लग जाता है। उदाहरणार्थ, सातवीं-आठवीं सदी ई० पू० के लौड़िया नंदनगढ़ की मृतक समाधि में मिली नग्न नारी की स्वर्ण प्रतिमा प्रकट करती हैं कि किसी-न-किसी मात्रा में निश्चय उस दिशा में सफल प्रयास होते रहे हैं। परंतु निःसंदेह वह प्रयास इतना प्रभूत प्रसवक नहीं जितना मौर्यकाल अथवा उससे शीघ्रपूर्व का युग है। शीघ्रपूर्व का वह काल मिट्टी के ठीकरों पर उभरे चित्रों का विशेष धनी है। इनके अतिरिक्त पत्थर की मूर्तियाँ भी बनीं जो विशालकाय यक्षों-यक्षिणियों की हैं। पारखम, वेसनगर आदि के यक्ष-यक्षिणियों की मूर्तियाँ इसी प्रकार की हैं, शक्ति की सीम, पूजा के लिए रचीं। उनमें मनसा देवीवाली मूर्ति अब तक मथुरा में पूजी जाती है।

जो भी हो, भारत ने मूर्तिकला को विज्ञान का पद प्रदान किया है। सौन्दर्य, समाधि, कल्पना और भावबोधकता में उसका किसी अन्य देश की कला समता कर सकती है, यह कहना

आसान नहीं है। अन्य कलाओं में सौन्दर्य की कमी नहीं, व्यंजना की भी असीम क्षमता है, व्यापक प्रभाव की भी वह धनी है पर ये सारी प्रवृत्तियाँ एकत्र कम मिलती हैं, इस मात्रा में तो कहीं नहीं जिस मात्रा में यहाँ मिलती हैं। और सचेत ज्ञान से हो अथवा छवि के आकर्षण से भारत ने मूर्ति का त्याग नहीं किया, विपत्तियों के बावजूद। उपासना अब तत्वबोध को स्थान दे चुकी है।

## विविध शैलियाँ और प्रकार

भारतीय मूर्तिकला में भी अन्य देशों की कलाओं की ही भाँति युग के साथ कला की शैली बदलती गई है। इन बदलते लक्षणों से हम युगविशेष की कला पहचान सकते हैं। इससे शैलियों के अध्ययन के लिए हमें इतिहास के युगों की ओर संक्षिप्त संकेत करना होगा। कला का इतिहास युगों के इतिहास से संबद्ध है। मूर्तिकला के विचार से इस देश के इतिहास के युग इस प्रकार हैं : प्राङ्मौर्य, मौर्य, शुंग, शक-कुषाण, गुप्त, पूर्व-मध्य, उत्तर-मध्य, प्रागाधुनिक, वर्तमान।

इनके अतिरिक्त एक ही काल में दो शैलियाँ भी चलती रही हैं, जैसे शक-कुषाण युग के मध्य ही गांधार (यवन) शैली का चरम विकास हुआ। इसी प्रकार उससे पूर्व देशी कला के बीच मौर्य युग की असाधारण राजकीय कला अपनी विशिष्ट छवि और अनुपम पालिश परिष्कार लिये सहसा इस धरा पर आ उतरी। अब हम इन विविध युगों की कलाओं का संक्षेप में नीचे वर्णन करेंगे।

## प्राङ्मौर्य

प्राङ्मौर्य युग चौथी सदी ईसवी पूर्व से पहले का है। उसकी ओर संकेत किया जा चुका है। उस काल की सामग्री को तीन

सभ्यता की सामग्री है, प्राय: २००० ई० पू० से पहले की। उसका वर्णन यहाँ अभीष्ट नहीं। केवल इतना कह देना पर्याप्त होगा कि कांसे की नर्तकी, पत्थर के नर्तक, साँचों की उभरी मुहरों के पशुओं की आकृतियाँ अपने दमखम और शक्ति में आज की ताज़गी लिये हुए हैं। उनकी गतिमानता कला के जिज्ञासुओं को चकित कर देती है। उनका छंद अद्भुत आकर्षक है। उनका व्यक्तित्व स्मृति पर बरबस उठ आता है। मनुष्य और पशु, पशु और औषधि जैसे एक ही काया में सिरजे गए हैं। अनेक बार तो उन्हें एक में ही सटे, एक में से एक निकले आते देख कर लगता है जैसे उन्हें आज के किसी सर्रियलिस्ट (अतियथार्थवादी) ने सिरजा है।

अगला युग केवल इस बात का बोध कराता है कि कला जहाँ-तहाँ साँस ले रही है और सर्वथा मरी नहीं। लौड़िया नन्दनगढ़ वाली स्वर्ण-प्रतिमा, जिसका उल्लेख ऊपर किया जा चुका है, इसी युग की है। उससे अगला युग मौर्य काल के ठीक पहले का है, प्राय: पाँचवीं सदी ई० पू० का। इस काल की मूर्तियाँ दो प्रकार की हैं : मिट्टी और पत्थर की। मिट्टी की पूजार्थ बनाई मूर्तियाँ हाथ से ही बना ली गई हैं। इनके अतिरिक्त कुछ नागरिक प्रसाधनों से भी मंडित हैं। पत्थर की मूर्तियों की विशालता का उल्लेख ऊपर कर आये हैं। जिस निपुणता और कौशल से मुद्राओं के वृषभों की शक्ति सिन्धु सभ्यता के साँचों के उभार में मूर्त होती थी वह कब की भुलाई जा चुकी है। उसका स्थान अब पत्थर ने ले लिया है पर पत्थर की कलाकारिता मोहेनजो-देड़ो और हड़प्पा की प्रस्तर मूर्तियों की सजीवता से सर्वथा भिन्न है, स्थूल और भोंड़ी। पारखम आदि की यक्ष मूर्तियों में शक्ति कायिक विशालता और स्थूलता से भरी गई है। रूपायन का आकर्षण उनमें तनिक नहीं।

भागों में विभक्त किया जा सकता है। इनमें पहली तो सिंधु

## मौर्य

इसी पृष्ठभूमि से मौर्यकाल की कला सहसा उभर आती है। उसका रूपायन, आवयवीय यथार्थता, आकर्षण-सौंदर्य सभी अभूतपूर्व हैं। अशोक के स्तंभों के शीर्ष पशुमंडित हैं। सिंह, गज, वृषभ, अश्व आदि उन पर बने हैं। पत्थर घर्षण और लेप से दर्पणवत् चिकना कर दिया गया है। पशुओं के अंगांग पत्थर के होकर भी जैसे साँचे से ढल कर निकले लगते हैं। लगता है जैसे वे पत्थर के नहीं धातु के बने हों। उस जगत् में उनका-सा कुछ भी नहीं है। फिर भी उनका विकास (चूँकि अपने यहाँ डेढ़ हज़ार वर्ष से उनका-सा कुछ भी नहीं है और पिछले युग को कला-कारिता उनसे प्रकृतिभिन्न प्राणभिन्न है) पड़ोस के अनुकार्य से हुआ है, अपादान के ईरानी वृषभों के अनुरूप, उन्हीं की परंपरा में। वही अवयवकारिता, वही प्रस्तर परिष्कार, वही पालिश। संभवतः ईरानी कलावंतों का भारतीय प्रतीकों-अभिप्रायों के रूपायन में योग मिला।

सारनाथ के स्तंभशीर्ष के सिंह इस देश की मूर्तिकला में अकेले हैं। उन-सा न पहले कुछ था न पीछे कुछ हो सका। उनकी शालीनता, प्रकृतिविरुद्ध शांत मुद्रा उस अशोक की राजनीति के अनुरूप ही थी जिसने ऐश्वर्य और राजत्व की परंपरा ही बदल दी। उचित ही था कि भारतीय सरकार उस शीर्ष की आकृति अपनी मुद्रा में ढाल ले। वह पालिश जो अशोक के स्तंभों पर, उनके शीर्ष पशु आकृतियों पर, उसके दरीगृहों (बराबर) की दीवारों पर थी, मौर्यकाल के पश्चात् जो खोई तो फिर इस देश की भूमि पर न लौटी। उसका विकास ईरान की मूर्तियों का दर्पणस्वच्छ पालिश से हुआ था। अशोक के पशु ईरान और असुर देश की पशु-परंपरा में है: निनवे-खोरसाबाद के मानवमस्तक वृषभों की परंपरा में, अपादान के स्तंभशीर्ष वृषभों की परंपरा में। अशोक की पत्थरवाली मूर्तिकला पशुओं की

ग्रंगांगीय यथार्थता, उनकी शांत मुद्रा, निष्कंप शालीनता ग्रौर ग्रनुपम पालिश से पहचानी जाती है।

मौर्यकालीन मिट्टी के ठीकरों की रूपकारिता सर्वथा स्वदेशी है। उसकी रूपसज्जा भरी ग्रौर ग्रनन्त है, ग्रधिकतर नारी की सजी उभरी हुई मूर्ति, ग्रनेक-ग्रनेक चुन्नटोंवाला घाँघरा पहने, केशों का छत्र धारण किए। ग्रौर इस ग्रभिराम निधि की ग्रनन्तता सिद्ध है। सांचे का उपयोग भरपूर होने लगा है। उभरी हुई ग्राकृतियाँ जैसे पहचानी हुई लगती हैं।

## शुंग युग

कला की ग्राकृति, उसकी शैली बदल जाती है। उसकी प्रकृत यथार्थता का स्थान प्रतीकता ले लेती है। ग्राकृतियों का ग्रपना मान, ग्रपना ग्रादर्श निरूपित होता है। ग्रौर यह कला जिस ग्राधार से उठती है उसका इतिहास रक्तरंजित है। मौर्यों के पिछले राजा ग्रपने पूर्वजों का पौरुष कायम न रख सके। उनकी क्लीवता ग्रौर सांप्रदायिक संकीर्णता ने वक्षु कांठे में बसे ग्रीक-यवनों को ग्रभियान का ग्रवसर दिया। ग्रौर फलस्वरूप जब शालिसूक सौराष्ट्र में बलपूर्वक प्रजा को जैन बना रहा था सिंध ग्रौर मध्यमिका (चित्तौर के निकट नगरी) में देमित्रियस (खारवेल के हाथी-गुम्फा लेख का दिमित) का 'धर्ममीत' कहकर स्वागत किया गया। मगध जीतकर गृहशत्रु से निबटने वह स्वदेश की ग्रोर लौटा। शत्रु प्रबल था उसके राज्य बाख्त्री से न हिला, उलटे काबुल ग्रौर पश्चिमी पंजाब पर भी उसने ग्रधिकार कर लिया। विवश होकर उसे सिंध ग्रौर पूर्वी पंजाब पर ही संतोष करना पड़ा। इस प्रकार पूर्वी पंजाब से भूमध्य सागर के तट तक, पार्थवों का छोटा राज्य बीच में छोड़, सारी भूमि ग्रीक-यवनों के ग्रधिकार में थी ग्रौर पुष्यमित्र शुंग के शासन-काल को छोड़ प्रायः डेढ़ सौ वर्षों तक पश्चिमी भारत गंगा से काबुल तक ग्रीक-यवनों के ही ग्रधिकार में बना रहा। यही

पुष्यमित्र शुंग, जो पहले मौर्यराज बृहद्रथ का पुरोहित और सेनापति रह चुका था, अपने राजा को मारकर मगध की गद्दी पर बैठा और इस प्रकार आगे का युग उसी के कुलनाम से शुंग युग कहलाया।

शुंग कला इस देश की सिंधु सभ्यता के बाद पहली राष्ट्रीय कला थी। प्रतीक स्थिर हो गये, रसात्मक सौंदर्य के मान स्थिर कर लिए गए, अनायास नहीं सचेत रूप से। सौंदर्य आवयवीय (अगांगों का) न रहा। अशोककालीन कला की प्राकृतिकता छोड़ दी गई। यथार्थ के अनुकरण से कलावंत विरत हुआ। उसकी मूर्तियाँ तनिक ठिगनी होने लगीं, सामने से कुछ चिपटी। कोर कर सर्वतोभद्रिका मूर्ति बनाने की अपेक्षा अधिकतर मूर्तियाँ उभार कर छंद परंपरा में, कथाप्रसंग में, अर्धचित्र शैली में रूपायित होने लगीं। वैयक्तिकता सामाजिकता में बदल गई। जातक आदि कथाएँ पत्थरों पर उभर आईं, व्यक्ति उन कथाओं के अंग बन गए। यक्ष-यक्षिणियों की उभरी अकेली मूर्तियों के नीचे उनके निजी नाम लिखे होने पर भी वे अकेली न थीं, कथा-परंपरा के अवयव थीं, अंग। उभरी चिपटी वृक्षिकाएँ शाल-भंजिकाओं की अग्ररूपिणी-सी वृक्ष के नीचे उसकी शाखा को छूती-सी खड़ी हुई। वाहन उनका वामन पुरुष था, मकर अथवा गज। उनके पदों के बीच शुंगकालीन धोती का त्रिकोणात्मक कोण भूमि को छूने लगा। हाथों-पैरों में कड़े भर गये, ग्रैवेयक और तारहारों से वक्ष ढक गया, केश मोती की लड़ियों से सज गये। पुरुषों की पगमध्य तिकोनी धोती के ऊपर उत्तरीय फबने लगा और उष्णीष (पगड़ी) की दोहरी ग्रंथि ललाट के ऊपर बिंबाकार मंडित हुई।

मूर्तिकला के क्षेत्र में प्रतीकों की जैसे बाढ़ आ गई। भरहुत और साँची के स्तूपों की वेष्टनी (रेलिंग) उसी शुंगकाल (१५० ई० पू०-७३ ई० पू०) में बनी। पुष्यमित्र आरंभ में बौद्ध-विरोध के कारण बौद्धों के प्रति असहिष्णु रहा था, परंतु शासन

प्रतिष्ठित हो जाने के पश्चात् उसने असाधारण सहिष्णुता की नीति बरती। अपनी नई रुचिरता, नई गतिमानता, नई आकृति बुद्धि के साथ जो संपदा अशोक के बाद मूर्ति क्षेत्र में शुंग काल में रूपायित हुई वह सदियों अप्रतिम रही। शुंगराज की पैतृक विदिशा नगरी के ही गजदंतकार कलावंतों ने अशोक के भरहुत और साँची के स्तूपों के चतुर्दिक वेष्टनी दौड़ाई और तोरणद्वार खड़े किए। इस वेष्टनी और तोरण पर जो मानव भावसत्ता का स्रोत फूट पड़ा है वह सर्वथा अलौकिक है। उभरी आकृतियाँ सजीव हो उठी हैं, गज, अश्व, कपि, मृग जैसे मानव की भाषा बोलते हैं, उसके भावसागर में डूबते-उतराते हैं। फुल्ले के भीतर प्रफुल्ल मानव मस्तक प्रसन्न अंकित है। साँची के तोरण पर, उसके द्वारस्तंभों पर भी, जीवन लहरा उठा है। स्तूप की सचेत गतिमान गजों द्वारा मानवीय पूजा, उनका आकृति आकुल परिवार, अशोक के जलूस की जनसंकुलता और अनेक अन्य दृश्य अपने वेग और अंकन की मानुष तीव्रता से दर्शक को जड़ बना देते हैं।

तब अभी बौद्धों में हीनयान संप्रदाय की महत्ता थी। बुद्ध की मूर्ति नहीं बनती थी। तथागत की उपस्थिति का बोध प्रतीकों से कराया जाता था—धर्मचक्र प्रवर्तित करते करों से। बोधिवृक्ष से, बुद्ध की पादुका से, छत्र से, स्तूप से और जातक कथाओं से भिन्न प्रतीक तब की बौद्ध कला में प्रायः यही थे। भरहुत की वेष्टनी पर एक अद्भुत सुन्दर कथा खुदी है। जेतवन ख़रीदने की कथा। बुद्ध को श्रावस्ती में जो उपवन सुन्दर लगा वह जेत का था। तथागत ने उसके सौंदर्य का वखान किया। उपासक सेठ अनाथपिंडद ने उसे ख़रीद कर संघ को दान कर देने की इच्छा प्रकट की। जेत से उसका मूल्य पूछा। जेत ने असंभव मूल्य माँगा—उतने सुवर्ण (सोने के सिक्के) जितने से माँगी हुई भूमि ढक जाय। अनाथपिंडद जब उतना धन देने को तत्पर हो गया तब जेत मुकर गया। अभियोग विचारार्थ न्याय सभा में पहुँचा,

जेत को अपना पहला मूल्य स्वीकार करना पड़ा। सेठ ने जेतवन की भूमि सोने से पाट कर मूल्य चुका दिया और जेतवन संघ को दान कर दिया। वही चित्र भरहुत की वेष्टनी पर अंकित है। बैलगाड़ियाँ सिक्कों से भर-भरकर आ रही हैं, सिक्के भूमि पर बिछाए जा रहे हैं। थके खुले बैल आराम कर रहे हैं। इस प्रकार जीवन और साहित्य की कथाएँ इन कलाकृतियों में उतर आई हैं, अनेक प्रतीकों ने साहित्य में स्थान पाया है। जातकों की कथाओं का कला में असीम मूर्तन साहित्य और कला के इस घने संपर्क और आदान-प्रदान को व्यक्त करता है।

शुंग कला के केन्द्र श्रावस्ती, भीटा, कौशांबी, मथुरा, बोध-गया, पाटलिपुत्र, भरहुत, सांची आदि थे। बोध गया में भी वेष्टनी अंकन उसी काल का है। मथुरा में अनेक शुंगकालीन उभरी मूर्तियाँ मिली हैं, अनेक जातक कथाएँ भी, स्तंभों पर उत्कीर्ण। वहाँ की एक स्तंभ-यक्षी तो विशेष आकर्षक है, प्रायः तीन ओर से कोरी हुई आकृतिवाली, नर्तन के लिए जैसे भूमि पर पग मारने को उद्यत। इसी प्रकार वहाँ की बलराम की पहली हल-मूसल धारी मूर्ति लखनऊ के संग्रहालय में रखी है।

शुंग काल की मृण्मूर्तियों की संपदा भी अपार है। कुछ अनोखी नारी मूर्तियाँ तो पाटलिपुत्र में मिलीं जो पटना के संग्रहालय में सुरक्षित हैं। कौशांबी में तो उस काल की असंख्य मृण्मूर्तियाँ मिली हैं जिनकी वेशसज्जा अत्यंत सुन्दर है। अकेली खड़ी नारी मूर्ति के ठीकरे तो अनन्त संख्या में उपलब्ध ही हैं, वहाँ से अनेक ठीकरे ऐसे भी प्राप्त हुए हैं जिन पर ऐतिहासिक चित्र उभरे हुए हैं। ऐसा एक मिट्टी का अर्धचित्र उदयन का है। चंडप्रद्योत महनसेन की कैद से उसकी कन्या अपनी प्रेयसी वासवदत्ता के साथ वह उज्जयिनी से गज पर भाग रहा है। प्रद्योत की सेना उसका पीछा कर रही है। आगे उदयन से चिपकी वासवदत्ता बैठी है, पीछे बैठा उदयन का अनुचर नकुली से स्वर्ण-मुद्राएँ बरसा रहा है जिन्हें पीछा करनेवाले सैनिक

उठाने में लगे हैं और गज भागा जा रहा है। इसी पुरानी कथा की ओर कालिदास ने अपने मेघदूत के 'उदयनकथाकोविदग्रामवृद्धान्'[१] में संकेत किया है। कला और साहित्य इतने समकक्ष थे कि दोनों में समान प्रतीकों का अंकन हुआ। यह उदयन की कथा इतनी लोकप्रिय थी कि इसका संस्कृत साहित्य में बार-बार चित्रण हुआ। भास का नाटक 'स्वप्नवासवदत्ता' तो केवल इसी प्रसंग को लेकर लिखा गया। एक और ठीकरा गाड़ी की आकृति का है जिसमें पिकनिक हो रही है। थालियों में फल आदि खाद्य-पदार्थ रखे हैं और लोग बैठे हैं। कौशांबी में इस प्रकार के अनेक ठीकरे मिले हैं। एक अन्य प्रकार की गाड़ियों में अधिकतर मेढ़े जुते हैं। अत्यन्त सुन्दर मेढ़ों और मकराकृतियों का वहाँ बाहुल्य है। ये और नारीअंकित ठीकरे सभी साँचे में ढाले हुए हैं, खाली भूमि सर्वत्र खिले फूलों से भर दी गई है। शुंग ठीकरों पर फूलों का बड़ा उपयोग हुआ है। नारी आकृतियाँ भी, जो ठीकरों पर उभरी हुई हैं, कमलदंड धारण किए हुए हैं। इन आकृतियों की प्रसन्न मुखमुद्रा तो देखते ही बनती है। उस काल के बच्चों को खिलौनों की कितनी संपदा प्राप्त थी और वह संपदा भी कितनी सुरुचि से प्रस्तुत थी। ये ठीकरे पीछे से सपाट हैं और इनके सिरे छिदे हुए हैं जिससे लगता है कि दीवार पर चित्रों की भाँति नागरिक इन्हें टाँगते भी थे। मिट्टी कलांकन तो शुंग काल में पत्थर से कहीं अधिक हुआ। शुंगकालीन स्थानों में मिट्टी हटाते ही ढेर-के-ढेर ठीकरे निकल पड़ते हैं। शक-कुषाणयुगीन कला का वर्णन करने से पूर्व शुंग काल की चँवरधारिणी की ओर संकेत कर देना अनुचित न होगा। पत्थर की सर्वतोभद्रिका कोरी नारीमूर्ति चँवर धारण किए प्रकृत ऊँचाई में भंगिम मुद्रा में खड़ी है। उसे दीदारगंज की चँवरधारिणी कहते हैं और वह पटना के संग्रहालय में सुरक्षित

---

१ पू० मे०, ३०.

है। उसकी पालिश देखकर लगता है कि मौर्ययुगीन पालिश शुंग-काल में भी छिटकी-फुटकी चली, पर साधारणतः उस काल के प्रायः प्रारंभ में ही वह लुप्त हो गई।

### शक-कुषाण

शक-कुषाण काल ई० पू० प्रथम शती में आरंभ होकर प्रायः तीसरी शती तक चला। शक, आभीर (और आभीरों के पूर्वी पड़ौसी गुर्जर) ईसा पूर्व दूसरी सदी में ही इस देश की ओर सरकने लगे थे और शक तो पहली सदी ईसवी पूर्व में सिंध में बस भी चुके थे। धीरे-धीरे उन्होंने ग्रीक-यवनों और पह्लवों से भारत छीन लिया। शीघ्र सिंध, तक्षशिला, मथुरा, मालवा और महाराष्ट्र के पाँच केन्द्रों में उनके राज्य स्थापित हुए। कुषाण उनके शीघ्र ही बाद बाख्त्री, काबुल, कश्मीर, पंजाब और मध्य-देश के पश्चिमी भाग के स्वामी बन गए। उनके राजा कनिष्क ने पाटलिपुत्र तक धावा किया था। उसका प्रथम शती ईसवी (७८ ई०) का चलाया शक संवत् आज भी इस देश का मान्य संवत् है।

शुंगों के बाद कुषाणों के युग में भी कला की अपार संपदा प्रसूत हुई। पत्थर और मिट्टी दोनों का असाधारण मात्रा में उपयोग हुआ। तब की मृण्मूर्तियाँ भी असीम संख्या में उपलब्ध हैं। विविध प्रकार के विषय तब के साँचे में ढले। पंचबाण और किन्नर-मिथुन ठीकरों पर उभरे। कुषाण काल के तब अनेक विशिष्ट केन्द्र थे, मथुरा, सारनाथ, अमरावती। अमरावती आंध्रों के साम्राज्य में थी और यद्यपि उसकी कला आंध्र कहलानी चाहिए (कुछ लोग उसे आंध्र कहते भी हैं), कला के कुषाण लक्षणों के कारण साधारणतः वह भी कुषाण ही कहलाती है। सारनाथ की कला मथुरा का ही विस्तार थी। उधर पश्चिम में तक्षशिला आदि भी मूर्तियों के आकर सिद्ध हुए। पेशावर तो कनिष्क की राजधानी ही था। इन सब में प्रधान संभवतः मथुरा ही थी।

पत्थर कोरने की कला तब तक असामान्य विकास पा चुकी थी। अर्धचित्रों के उभार अबतक कुछ और उठ आए थे। धोती और पगड़ी बाँधने की शैली बदल गई थी। धोती का तिकोना छोर पैरों की बीच लटकने के बजाय वह आज की मध्यदेशीय शैली में बाँधा जाने लगा था। उष्णीष की सामनेवाली दो ग्रंथियों के स्थान पर एक ही पत्र-कलँगी पगड़ी के बीच लहराती थी। आकृतियाँ अपना चिपटापन छोड़ कुछ गोलाकार हुईं यद्यपि अभी वे गुप्तकाल की अंडाकार आकृतियों की पूर्ववर्ती थीं।

मथुरा के अनेक टीलों से उस काल की कला की अनन्त सामग्री उपलब्ध हुई है पर जैन, बौद्ध स्तूपों की वेष्टनियों के ऊपर जो चित्र उभरे हुए हैं उनका संभार निजी है। उन पर कलावंतों ने अनन्त कलानिधि बिखेर दी है। जो प्रतीक सबसे अधिक इन वेदिकाओं (रेलिंगों) पर उभारे गए हैं उनमें प्रधान शालभंजिकाएँ अथवा यक्षिणियाँ हैं। हैं तो वे भरहुत की यक्षियों की ही प्रसार परंतु उनकी भावभंगी सर्वथा अब बदल गई है। भरहुत की मूकता से दूर प्रसन्न जीवन की हिलोर इनके मानस और अंगांग में उठ रही है। उद्दीपन के सारे साधन लिये ये वेदिकास्तंभों पर उतर आई हैं। आप जैसे इनमें से अनेक को पहचान लेते हैं, इतने सजीव सामाजिक चित्र हैं ये। उस काल का विलास जैसे इनमें छलका पड़ता है। साधारणतः ये नंगी हैं, वृक्ष के नीचे खड़ीं। काम के वाहन शुक को कन्धे पर बिठाकर दाना चुगातीं, उसकी चोंच की चोट से शिथिल नीवीबंध को साहलातीं, शुक-सारिका का पिंजर लिये, कन्दुक उछालतीं, वीणा बजातीं, स्नान करतीं, पुष्प चयन करतीं, ईरानी शैली के वस्त्र पहने दीपवहन करतीं, दोहन संपन्न करतीं—उनकी इतनी भावभंगियाँ हैं कि गिनाई नहीं जा सकतीं।

कला और साहित्य में तो अनेक प्रतीक समान विषय के रूपायित हुए। तरुणी का अपने नूपुरमंडित चरण से छूकर रक्ताशोक को लाल कलियों से भर देना, आसव के कुल्ले से बकुल

को मुकुलित कर देना, पत्नी अथवा प्रेयसी का पति अथवा प्रणयी द्वारा केशप्रसाधन आदि, कलाकार और कवि दोनों के समान रूप से प्रिय अंकन-अभिप्राय थे। मालविकाग्निमित्र में कालिदास ने इस दोहद का सुन्दर चित्र खींचा है। स्तभों पर उभरी यक्षी अथवा शालमंजिका मुद्रा का तो उस महाकवि ने इतना अभिराम अंकन किया है, इस माधुर्य से कुषाण कला को साहित्य में उतार लिया है कि उसे उद्धृत करने का लोभ संवरण नहीं किया जा सकता :

**स्तम्भेषु योषित्प्रतियातनानामुत्क्रांतवर्णक्रमधूसराणाम् ।**
**स्तनोत्तरीयाणि भवन्ति संगान्निर्मोकपट्टाः फणिभिर्विमुक्ताः ।।**[1]

चित्र उजड़ी अयोध्या का है : धूल से जिनके वर्ण धूमिल हो गये हैं, उन स्तंभयोषिताओं (स्तंभों पर बनी शालभंजिका आदि मूर्तियों) के स्तनों के उत्तरीय अब सर्पों की छोड़ी केंचुलें ही बन गई हैं।

इसी प्रकार की एक समानान्तरता प्रसाधन संबंधी है। मथुरा और अन्यत्र के कुषाणकालीन द्वारस्तंभों पर खाने काट-काटकर प्रसाधन के अनेक चित्र बने हुए हैं। वामन के सिर पर फूलों-गजरों का थाल है, गजरे और फूल निकाल-निकाल कर पति अथवा प्रणयी प्रणयिनी के केश सजा रहा है, उसकी वेणियाँ गूंथ रहा है, पत्र-विशेषक उसके कपोलों पर अंकित कर रहा है। समकालीन कवि अश्वघोष ने उस छवि को अपने सौन्दरनन्द में मुखरित कर दिया है। नन्द अपनी हाल की विवाहिता सुन्दरी के कपोलों पर लता की टहनियों और पत्रों की अभिराम आकृतियाँ रच रहा है। बुद्ध आते हैं, देहली में अपना भिक्षापात्र बढ़ाते हैं, कोई ध्यान नहीं देता, सभी व्यस्त हैं। सभी चाकर स्वामी-स्वामिनी के विलास के साधन अंगराग, फेनक,

---

[1] रघु०, १६, १७.

अनुलेप, सुवासित जल, मदिरा आदि प्रस्तुत करने में लगे हैं। तथागत रिक्तपात्र लिये आगे बढ़ जाते हैं। नन्द सुन्दरी के ललित प्रसाधन में रत उधर देखता है तो स्थिति समझ लजा जाता है। सुन्दरी से बुद्ध को लौटा लाने की अनुमति माँगता है। सुन्दरी अनुमति देती है, पर कहती है कि जाओ, पर गाल के रंगों का गीलापन सूखने के पहले ही लौट आओ। पर न कभी बुद्ध लौटे और न नन्द ही लौटा, प्रसाधन की पृष्ठभूमि मुरझा गई। कुषाण-कालीन कलाकार तक्षण का धनी है, कलागत कथा का धनी है।

जल बहानेवाली पनाली तक को (लखनऊ संग्रहालय) उसने कोमल चित्रों से भर दिया, उसे मकरमुख प्रदान किया, गुंजलक भरते मकरों से उसका बहिरंग उभार दिया (मकर-मुखप्रणाली)। पनाली का सम्बन्ध जल के आधार के कारण मकर से होना ही चाहिए। नाद तक कलाकार की छेनी के स्पर्श से अछूते न बचे। उनके बहिरंग भी नाना आकृतियों से सुशो-भित हुए। मकर-तोरणों के विशेष अभिप्राय अमित संख्या में कोरे गए। हार संपन्न हुए। नाग-नागी मूर्तियाँ भी यक्ष-यक्षी मूर्तियों की ही भाँति सैकड़ों-सहस्रों की संख्या में मथुरा की धरा पर कोरी गई। अब केवल पत्थर की भूमि पर आकृति उभार कर ही कुषाण तक्षक संतुष्ट न हो सका। उसने कोर कर स्वतंत्र मूर्तियाँ बनाई। हीनयान के प्रतीकों का स्थान महायान के उदय ने अब स्वयं बुद्ध और बोधिसत्वों को दे दिया था। सहस्रों मूर्तियाँ, खड़ी-बैठी, बुद्ध और बोधिसत्व की कोरी गईं। किसने बुद्ध की पहली मूर्ति दी, यह तो निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता, परंतु संभवतः पहली मूर्ति बुद्ध की गांधार-शैली में इसी काल बनी, ऐसा अनेक कलासमीक्षकों का विश्वास है। जो भी हो, बुद्ध और बोधिसत्वों की प्रतिमाओं से तब के भारत का आँगन भर गया। जिन और बुद्ध की समाधिस्थ मूर्तियाँ पद्मासन में बैठी साहित्य का धन बनीं। कालिदास ने अपने

कुमारसंभव में शिव की समाधि में उन्हें अमर कर दिया।[१] चारों ओर से कोर कर पृष्ठभूमि से मुक्त, छत्र के नीचे अथवा पीछे प्रभामंडल के आधार से सटी बुद्ध, जिन की मूर्तियाँ सर्वत्र पूजी जाने लगीं। ऐसी कोरी मूर्तियाँ राजा भी अपनी बनवाने लगे। मथुरा के पास देवकुल गाँव से जो कुषाण राजाओं की सिंहासनस्थ अनेक मूर्तियाँ मिली हैं उनसे लगता है कि वह स्थान उन राजाओं की अपनी गैलरी के रूप में प्रयुक्त हुआ था। स्वयं कनिष्क की मूर्ति मस्तकहीन है, पर है वह पुरुषाकार, ईरानी-शक-कुषाण वेशभूषा में लंबा कुर्ता, लंबा कसीदाकढ़ा चोगा, सलवार और घुटनों तक के ऊँचे मध्य एशियाई बूट जूते पहने। यही लेबास उस बैठी प्रतिमा का भी है जो भारत की पहली सूर्यमूर्ति है। सिर पर उसके ईरानी पगड़ी भी है, एक हाथ में कटार दूसरे में कमल का फूल। शेष सब कनिष्कवत्। यदि कमल उसके कर में न होता तो उससे कुषाण राजा का भ्रम हो जाना स्वाभाविक था। सूर्य की भारतीय मुद्रा की मूर्तियाँ बहुत पीछे की हैं, सात-आठ सौ वर्ष पीछे की, खड़ी, धोती, उत्तरीय और किरीटमुकुट पहने। कुछ आश्चर्य नहीं जो शक-कुषाणों ने ही इस देश में प्रतिमा के रूप में सूर्य की पूजा प्रचलित की हो। कुषाण धर्म के विषय में बड़े सहिष्णु थे। कनिष्क के वंशज बौद्ध और ब्राह्मण धर्मावलंबी दोनों हुए। स्वयं कनिष्क बौद्ध हो गया था पर सारे धर्मों का आदर करता था और उसके सिक्कों पर प्राय: समस्त धर्मों के देवताओं, ग्रीक से ईरानी और भारतीय बुद्ध, शिव तक की आकृतियाँ उभरीं।

### गांधार शैली

गंधार प्रदेश (पाकिस्तान का पश्चिमोत्तर सीमा प्रदेश, कबीलाई भूखंड से तक्षशिला तक) में ग्रीक (यवन) कलाकारों ने अपनी शैली

---

[१] कु०, ३, ४५.

से जिन भारतीय विषयों, अभिप्रायों, प्रतीकों का कलात्मक रूपायन किया उन्हें गांधार-शैली से अभिहित किया जाता है। इस शैली में ग्रीक तक्षक और कलावन्त का योग भारतीय विषयों को मिला है। इसीसे इस कला को ग्रीक-बौद्ध, ग्रीक-रोमी आदि अनेक संज्ञायें दी गई हैं। पर इसका भौगोलिक गांधार-शैली नाम ही विशेष प्रचलित हुआ। इस शैली की असंख्य मूर्तियाँ उस प्रदेश में उस काल कोरी और उभारी गईं जो अपनी यूरोपीय आकृति से तत्काल पहचानी जा सकती हैं।

गंधार प्रदेश, जैसा ऊपर कहा जा चुका है, भारत (अब पाकिस्तान) का पश्चिमोत्तर सीमाप्रांत था। इसमें पेशावर का ज़िला, काबुल नदी की घाटी, स्वात, बुनेर, आदि शामिल थे। उसकी राजधानी पेशावर (पुरुषपुर) थी। इस शैली की मूर्तियाँ काबुल और खुत्तन तक मिली हैं। इस शैली का नाम कनिष्क से विशेषतः संबंधित है। वैसे ग्रीकों का अधिकार गंधार प्रदेश पर दूसरी सदी ई० पू० में ही हो गया था और अपनी ग्रीक मूर्तियाँ वे तभी से कोरते भी रहे थे परन्तु जिस विशिष्ट शैली से (जिसमें ग्रीक कौशल का संबंध भारतीय तथ्यों से है) हमारा तात्पर्य इस प्रसंग में है उसका उदय अधिकतर पीछे हुआ और उसकी चरम परिणति कनिष्क के शासनकाल में हुई। इससे उसका काल-प्रसार हम ईसवी सन् ५० और २०० के बीच रख सकते हैं। इसके प्रधान प्राप्य स्थल युसुफ़ज़ई इलाके के शहरे वहलोल, जमालगढ़ी, तख्तेवाही आदि हैं।

इस शैली की सभी मूर्तियाँ केवल बौद्ध स्थलों से उपलब्ध हुई हैं। अभी तक ऐसी कोई मूर्ति इस शैली की न मिली जिसमें जैन अथवा ब्राह्मण धर्म के प्रतीक निरूपित हों। हाँ, बौद्ध प्रतीकों के साथ उनके सारे विषय भारतीय अवश्य हैं। उसमें बुद्ध मूर्तियों की प्रचुरता और प्रधानता है। इस बात में वह शैली भरहुत, साँची, अथवा बोधगया के प्राचीन केन्द्रीय कृतियों से सर्वथा भिन्न है, समकालीन मथुरा और अमरावती की मूर्तियों के अनुकूल।

शाक्य मुनि गौतम, प्रव्रजित बुद्ध, इस शैली और कलाक्षेत्र के प्रधान नायक हैं। उन्हीं का जीवन, उन्हीं की आचरित घटनाएँ इसमें विशेषतः और केन्द्रतः रूपायित हुई हैं। सामग्री पत्थर या पलस्तर है, चूना-मिट्टी का 'स्टको' भी। बुद्ध की मूर्तियों की प्रधानता के अतिरिक्त इसी शैली को संभवतः बुद्ध की पहली मूर्ति कोरने का भी श्रेय है। इससे पहले की भारतीय परंपरा और शैली में, भारतीय तक्षक द्वारा कोई बुद्ध मूर्ति उपलब्ध नहीं। लाहौर संग्रहालय की खड़ी बोधिसत्व मूर्ति अद्‌भुत[१] सुन्दर है। शहरे बहलोल में मिली कुबेर और हारोति की संयुक्त मूर्ति[२] भी दर्शनीय है। सिक्री की खड़ी हारीति दोनों कन्धों पर एक-एक बालक धारण किये मातृ गौरव की असामान्य प्रतिमा है।[३] इंद्रशैल गुहा में समाधिस्थ बुद्ध शांति की प्रतिमा हैं[४] और प्रसिद्ध तपस्वी गौतम[५] की कायिक कृषता तप के फल को मूर्त करती है। बर्लिन संग्रहालय की ध्यानमग्न बुद्ध की मूर्ति भी अपनी शांत मुद्रा के लिए विशेष ख्यातिलब्ध हुई।[६] लाहौर संग्रहालय की सिंहासनस्थ खड्‌गधारी कुबेर की ऊँची मूर्ति भी इस यवन-भारतीय कला की अभिराम सन्धि प्रस्तुत करती है।[७] इनके अर्धचित्रों (रिलीफ़) के उभार और प्रगति में भी असाधारण बल है। एक पट्टिका पर चार कतारों में राक्षसों और साधारण मानव सैनिकों की सेना का मार्च दिखाया गया है जो अत्यंत प्रकृत लगता है।

इस प्रकार की हज़ारों-लाखों मूर्तियाँ और पट्‌टिकाएँ बुद्ध

---

[१] स्मिथ : हिस्ट्री आफ़ फ़ाइन आर्ट०, पृ० ११२, चित्र ६२.
[२] वही, पृ० ११४, चित्र ६४.
[३] वही, पृ० ११५, चित्र ६५.
[४] वही, पृ० १०९, चित्र ६०.
[५] वही, पृ० ११०, चित्र ६१.
[६] वही, पृ० १०७, प्लेट २६.
[७] वही, पृ० ११३, प्लेट २८.

के जीवन से आलोकित प्रस्तुत हुई। मथुरा की शुद्ध भारतीय कुषाण शैली भी गांधार शैली से प्रभावित हुए बिना न रही। सिलेनस, आसवपायी कुबेर, आदि की अनेक मूर्तियाँ उस शैली अथवा उससे प्रभावित शैली में बनीं।[१] गुप्तकाल (चौथी-पाँचवीं सदी ईसवी) तक कम-से-कम सीमाप्रदेश इन मूर्तियों के निर्माण का युग बना रहा था। इनकी विशेषता है यूरोपीय आकृति, शुंग-कुषाण काल की चिपटी गोली शैलीगत (स्टाइ-लाइज़्ड) तनिक कृत्रिम आकृति से भिन्न स्वाभाविक रूपकाया। वेश साधारणतः ग्रीक-यवन, परिधान के वस्त्र चुन्नटदार। गुप्त-कालिक कला ने इसी पीठ से संभवतः आकृतियों की प्रकृत अंडाकारिता प्राप्त की। उसने परिधान की चुन्नटों को भी हल्का कर उन्हें अलंकारिक रूप दे दिया। गुप्तकाल के कलावंतों ने इस शैली का भारतीकरण कर उसे सब प्रकार से भारतीय बना लिया।

### अमरावती

अमरावती मद्रास के समीप है और कुषाण काल में आंध्र सातवाहन नृपतियों के अधिकार में थी। उसका स्तूप तो प्राचीन है, प्रायः दूसरी सदी ईसवी पूर्व का, परन्तु उसकी वेदिका (रेलिंग) दूसरी-तीसरी सदी ईसवी की है। स्तूप का सारा शरीर संगमरमर की चित्रखचित पट्टिकाओं से ढक दिया गया है। रेलिंग भी संगमरमर की ही है। अन्य प्राचीन भारतीय मूर्तिकला के केंद्रों से इस विषय में भी अमरावती की मूर्तियाँ भिन्न हैं। और आकृतियों की बंकिम भंगिमा, उससे भी बढ़कर यष्टिकायिकता में अमरावती की आकृतियाँ अपना जोड़ नहीं रखतीं। पतली-दुबली लचीली शक्तिम पुरुष की काया वस्तुतः अभिराम सिरीष वृक्ष-सी लगती है और नारी की काम्य काया उससे लिपटी लता

---

[१] वही, पृ० १३५, प्लेट १३; पृ० १३७, चित्र ८० आदि।

सी। शरीर पर लंबी धोती, उत्तरीय और कुषाणकालीन पगड़ी बहुत फबती है। कुषाण मूर्तियों में आभूषणों की भरमार है, प्रायः शुंगकालीन भूषा की ही भाँति। पर अमरावती के आभूषणों में संख्या की न्यूनता और सुरुचि की व्यापकता है। कांति आभूषणों से दबी नहीं उमग उठी है।

अमरावती वेदिका के वर्तुलों में बड़ी छवि अटी हुई है। विशेषकर दरबार और स्तूप पूजन के दृश्य तो बड़े ही आकर्षक हैं। उनके व्यक्तियों में इतनी वैयक्तिकता होते हुए भी उनकी सामूहिकता स्तुत्य है। बड़ी गति है इनके अंकन में। इसी प्रकार एक वर्तुल का विकसित कमलार्ध असाधारण सौंदर्य प्रस्तुत करता है। रेलिंग की उपरली पट्टिका का एक दृश्य गजरा-वाहकों का है। गजरा बहुत मोटा है और वाहकों की शक्तिम आकृति के बावजूद भार का प्रभाव प्रकाशित है। नीचे की रेखा पुष्पनाल और सिंह की आकृतियों से पुलकित है। एक बिचली पट्टिका पर गुंजलकें भरते मकर और कुसुमित कमल का अभिराम मूर्तन है। अमरावती की कला में पशुओं और पुष्पों का बड़ा अद्भुत चयन हुआ है। मानव की उनसे गहरी सहानुभूति प्रकटित है।

## गुप्त युग

गुप्त युग (ल० २७५ ई०-५०० ई०) भारतीय इतिहास का स्वर्ण-युग कहलाता है। इसका यह नाम सार्थक ही है। उस काल कला और साहित्य ने जिस चोटी का स्पर्श किया वह किसी दूसरे युग में नहीं हो सका। सुरुचि और सूक्ष्मता उस काल के साहित्य और कला का प्राण बन गई। कालिदास ने तभी अपनी साहित्यिक विभूतियों से भारती विभूषित की। गुप्तकाल का कलाकार भी अपनी परम्परा में मूर्धाभिषिक्त हुआ। भारतीय कला की उसके साहित्य की ही भाँति तभी चरम परिणति हुई। भारतीय कला का वह ऐश्वर्य गुप्त सम्राटों की संरक्षा से फला।

गुप्त युग महान् और यशस्वी सम्राटों का युग था। व्यापार और सुरक्षा से देश समृद्ध हुआ। पंजाब, मध्यदेश, मध्यप्रदेश, मालवा, गुजरात और सौराष्ट्र सब उन्हीं के हाथ में थे। मेहरौली स्तंभ यदि चन्द्रगुप्त द्वितीय विक्रमादित्य का ही है तो उस राजा ने बंगाल से सीमाप्रांत तक सारी भूमि रौंद डाली थी। इस बड़े भूखंड के एक शासन में होने से वहाँ समृद्धि का होना भी स्वाभाविक था जब राजा योग्य और कला तथा साहित्य-प्रेमी थे। चंद्रगुप्त विक्रमादित्य के नवरत्नों की तो बड़ी प्रसिद्धि है।

गुप्त काल नई संस्कृति का युग है। एक तो उससे पहले ही एक प्रकार की राष्ट्रीय जागृति द्वारा भारशिव नागों ने कुषाणों की शक्ति नष्ट कर दी थी, दूसरे स्वयं गुप्तों ने देश को एक नई राजनीति, नई राष्ट्रीयता प्रदान की। उनके पहले का भारत विदेशी आक्रान्ताओं का शिकार रहा था, उनके बाद का भारत भी विदेशी आक्रान्ताओं (हूण आदि) का शिकार रहा, दोनों के बीच गुप्तों का ऐश्वर्य फला फूला और उनकी संरक्षित संस्कृति नई वेशभूषा में सजी। स्मृतियों की बतायी व्यवस्था नये सिरे से खड़ी हुई। पुराणों का धर्म और विश्वास जादू की भाँति देश के एक सिरे से दूसरे सिरे तक फैल गया। पुराणों के देवता अपनी तैंतीस कोटि संख्या लिये भारत की धरा पर उतरे और उसी परिमाण में भारतीय कलाकारों ने उन्हें मूर्त किया। शिव और पार्वती, शेषशायी विष्णु और लक्ष्मी, मकरारूढ़ गंगा और कच्छपारूढ़ यमुना आदि अपने-अपने परिवार के साथ निरूपित हुए। और बुद्ध तथा उनका परिवार भी विशेष मर्यादा और परिष्कार से कला की मूर्धा पर विराजे। उस युग का प्रधान कला-केन्द्र काशी के समीप का सारनाथ (मृगदाव, सारंगनाथ) बना।

उस काल की कृतियों में एक नई ताज़गी आई। आकृतियाँ सर्वथा स्वाभाविक कर ली गईं। न तो वे शुंगकाल-सी चिपटी रहीं, न कुषाणकाल-सी गोल, बल्कि गांधार शैली-सी अंडाकार प्रकृत हो गईं। अब कलाकार उन्हें कला के प्रतिष्ठित सौंदर्य-

भावों से नहीं, सीधे प्रवाहित जीवन से लेने लगा। बुद्ध-जिन की समाधिस्थ मूर्तियों के उलटे अंगूठे अपनी काष्ठरूपता छोड़ मांसल हुए। पुरुष और नारी ने नया केशकलाप धारण किया। कंधों तक पुरुषों के कुंतल लटकने लगे। बनाई हुई नकली लटें भी प्रयुक्त होने लगीं। नारी ने कुषाण काल के केश-प्रसाधन में प्रयुक्त सामने का वृत्त बनाना छोड़कर अलकजाल धारण किया। सीमंत की रेखा खींच वह 'सीमन्तिनी' बनी। उसके आभूषण सुरुचि-पूर्वक चुने हुए अल्पसंख्यक होने लगे। वस्त्र सुथरे और परिष्कार-जनित काया परसने लगे। बुद्ध के परिधान (संघाटी) की चुन्नटें अलंकरण बन गईं। जीवन के अगांग में रसी कला कौतुक और निखार लिये विहँसी।

कुषाणकालीन प्रभामंडल स्फुरत्प्रभामंडल बना।[1] सादी भूमि अंधकार वेधते बाणों से भर गई, कमलों-कुमुदों के सौरभ से उमँगी। शिव और पार्वती का प्रायः प्राचीनतम रूप तब सजा। कौशांबो में मिले पाँचवीं सदी के बने प्रस्तरखंड (कलकत्ता संग्रहालय) में खड़ी शिव और पार्वती की मूर्तियाँ असाधारण संमोहन की धनी हैं। ललितपुर (झाँसी, उत्तरप्रदेश) में देवगढ़ का गुप्तकालीन मन्दिर है। उसके खानों में जड़ी मूर्तियाँ प्रभूत शोभा से युक्त हैं। एक में योगमुद्रा में कोरी शिव की प्रतिमा दर्शक को चकित कर देती है, सृजन में अप्रतिम है। खोह की प्रसिद्ध शिवमूर्ति भी तभी की है। शिव-परिवार के गण अपनी विविध चेष्टाओं में निरूपित प्रयाग संग्रहालय में प्रदर्शित हैं। शेषशायी विष्णु की उसी देवगढ़वाली मूर्ति अद्भुत शांत पौरुष से युक्त है। हाथ पर टिका सिर बड़ा आकर्षक लगता है। नीचे परिचारक देवताओं की पंक्ति है। इनके मस्तक घुंघराले केशों से मंडित हैं। उदयगिरि गुफा की वराहमूर्ति चंद्रगुप्त विक्रमादित्य की बनवाई है जब शकों को जीतकर वह वहाँ गया। वराह

---

[1] रघु०, ३, ६०; ५, ५१; १४, १४; कु०, १, २४.

की आकृति का शक्तिम उभार और अनायास पृथ्वी की रक्षा चन्द्रगुप्त द्वारा शकों से भारत की रक्षा का प्रतीक है।

बुद्ध की मूर्तियों में प्रधान सारनाथ की बैठी और मथुरा की खड़ी मूर्तियाँ हैं। सारनाथवाली मूर्ति धर्मचक्रप्रवर्तन मुद्रा में बैठी है। उसकी शांत और तुष्ट मुद्रा प्रसाद की छाया में जैसे खिल उठी है। भारत की सुन्दरतम मूर्ति मथुरा के बुद्ध की है, सवासात फ़ुट ऊंची, अभय मुद्रा में खड़ी। हाथ उसके खंडित हैं पर प्रकट है कि दाहिना हाथ प्राणियों को अभयदान करता उठा हुआ था। कितनी शांति इस मूर्ति के मुख पर विराज रही है! मनुष्य ने भावबोध के विचार से इतनी सफल मूर्ति कभी न कोरी। मथुरा की यह खड़ी बुद्ध मूर्ति (ए ५) सुरुचि, परिष्कार, आवयवीय अनुपात, व्यंजना और सहानुभूति में अप्रतिम है, संसार के बुद्धों में बेजोड़।

गुप्तकालीन मृण्मूर्तियाँ भी पत्थर की कला की ही भाँति सुन्दर हैं। राजघाट, गढवा, कोसम, मथुरा सर्वत्र मिट्टी की बनी ये मूर्तियाँ मिली हैं। सिर पर इनके घुंघराले केशों का कृत्रिम परिधान है जिसकी घुंघराली लटें कंधों पर लटकती हैं। भीतरगाँव के मन्दिर से मिलीं रामायण-महाभारत की कथा व्यक्त करती अनेक फ़ुट-डेढ़-फ़ुट की साँचे में ढाली मिट्टी की मूर्तियाँ अब लखनऊ म्यूज़ियम में संगृहीत हैं। जीवन की अपूर्व छटा उनके ऐश्वर्य में छिटकती है। छोटी मूर्तियों को दीवारों पर रसिक नागरिक टाँगते थे, इससे उनका पिछला भाग सपाट है और चोटी के गोल अथवा तिकोनी चूड़ा में डोरी के लिए एक सुराख बनी है।

गुप्तकाल में पर्याप्त मात्रा में सुन्दर बुद्ध मूर्तियाँ तांबे-पीतल आदि धातु की भी ढाली गईं। इस प्रकार की एक साढ़ेसात फ़ुट ऊंची अभय मुद्रा में खड़ी भागलपुर ज़िले (बिहार) के सुलतानगंज में मिली थी जो अब बर्मिंघम म्यूज़ियम में है। इसी प्रकार गया ज़िले के कुर्किहार गाँव में बुद्ध की धातु की

मूर्तियों की एक राशि ही मिल गई जिनमें कुछ गुप्तकाल की भी थीं।

जिस युग ने कालिदास सा कवि और अजन्ता-बाघ-सित्तन-वासल की सी चित्रकला उत्पन्न की उसकी मूर्तिकला कैसे अविकसित रह सकती थी? गुप्त कलाकारों ने बड़ी निष्ठा और लगन से कला की ऊँचाइयाँ नापीं। साधारण-से-साधारण कृतियों में उनकी सुरुचि और कुशलता व्यापी। गुप्तयुग की कला भारतीय सृजन की चूड़ामणि है।

गुप्त साम्राज्य की शक्ति हूणों ने तोड़ दी। साम्राज्य के टूट जाने पर अनेक विदेशी जातियाँ इस देश में घुस आईं। हूणों के अतिरिक्त आभीरों और गुर्जरों की भी नई धाराएँ प्रविष्ट हुईं और यहाँ की सामाजिक व्यवस्था टूट गई। हूणों ने स्वयं यहाँ की हज़ारों मूर्तियाँ तोड़ डालीं। इन जातियों के आगमन के बाद ही भारत में राजपूत राजकुलों का उदय हुआ। यही नए युग का आरम्भ काल है। प्राचीन और मध्य युग का यही संधिकाल है।

## पूर्वमध्य युग

साधारणतः भारतीय कला के इतिहास में ६०० ई० से ६०० ई० तक का काल पूर्वमध्य युग और ६०० से १२०० ई० तक का काल उत्तरमध्य युग कहलाता है। यद्यपि इस काल भी मूर्तियाँ बनीं और विशिष्ट संख्या में बनीं परन्तु ये युग अधिकतरम न्दिर-मूर्तियों के हैं।

पूर्वमध्य काल के आरम्भ होते ही मानवीय भावनाओं का सिलसिला टूट जाता है। अब का संसार और है, उसमें पहले की भाँति पशु और प्रकृति के साथ मानव नहीं रमता। जनसंकुल संसार लिए ब्राह्मण धर्म के अनेकानेक देवी-देवता अनन्त आभूषणों से युक्त कलाविहीन काया लिए आ खड़े होते हैं। प्रस्तर पट्टिकाओं के उभरे कथानक अब नहीं दिखाई पड़ते। बुद्ध प्रायः

सर्वथा विलुप्त हो जाते हैं और उनका स्थान तांत्रिक वज्रयान के सिद्धादि ले लेते हैं। जैनकला प्रकृत ही निर्गतिक है। अगला युग विशेषत: पौराणिक हिन्दू और तांत्रिक शाक्त है।

अजन्ता और वाघ के दरीगृहों में जिस प्रकार चित्रण की प्रधानता है, एलोरा के दरीगृहों की प्रधानता उसी प्रकार मूर्तन में है। एलोरा की मूर्तियों की संख्या अमित है और उस काल उत्तर भारत की मूर्तियों की अपेक्षा हैं भी वे अधिक शक्तिम। दशावतार गुफा के भैरव और काली के परिवार अपनी शक्ति और भयंकरता में कल्पना को चकित कर देते हैं। इसी प्रकार कैलाश गुफा का लंकेश्वर परिवार असामान्य सशक्त है। रावण के कैलास उठाने से पर्वत की चूलें जैसे हिल गई, उसके उपर के प्राणी, सिवा शिव के, सभी घवड़ा उठे हैं। ये मूर्तियाँ लगभग ७०० ई० की हैं। उस परिवार में तांडव नृत्य में लीन शिव की मूर्ति भी है।

उसी काल, लगभग आठवीं सदी, की बंबई के समीप की एलिफ़ंटा की गुफाएँ हैं। शिव-पार्वती-परिणय वड़ी सफलता से उभारा गया है। शिव की ध्यानस्थ मुद्रा बुद्ध की सुन्दरतम समाधिस्थ मूर्तियों से होड़ करती है। त्रिमूर्ति की कल्पना के साथ ही उसकी शालीनता भी अपूर्व है।

उत्तर भारत में वरावर पौराणिक मूर्तियों की शक्ति क्षीण होती गई। काले पत्थर की मूर्तियों द्वारा शिव, विष्णु, ब्रह्मा आदि के परिवार कोरे जाने लगे। अवयवों का तीखापन धातु की मूर्तियों से अनुकृत हुआ। परन्तु अभिव्यक्ति की दृष्टि से ये मूर्तियाँ सर्वथा मूक हो गई। पाल वंश के उदय (आठवीं सदी का चौथा चरण) के साथ धातु की अनेक महायानी मूर्तियाँ ढाली गई। उनका तीखापन उस काल की पत्थर की मूर्तियों में भी वसा।

**उत्तरमध्य युग**

इस काल की अधिकतर मूर्तियाँ मन्दिरों के वाह्यालंकरण

हैं। स्वतंत्र मूर्तियाँ भी निश्चय बनीं, विशेषकर वे जो मन्दिरों में ही पधराई गईं। मन्दिर से लगी मूर्तियों में से अनेक अत्यन्त सुन्दर हैं। पाल युग की अच्छी मूर्तियाँ इसी उत्तरमध्य युग (९०० ई०–१२०० ई०) में बनीं। तांत्रिक बौद्ध धर्म तांत्रिक शाक्त धर्म से बहुत मिलता था। बौद्ध तारा और हिन्दू लक्ष्मी की मूर्तियाँ सर्वथा समान हैं।

इस तांत्रिक परम्परा में बनी कुर्किहार (गया) में मिली मरीची (उषा) की प्रतिमा लखनऊ संग्रहालय में है। उसके तीन मस्तक और छः भुजाएं हैं। देवी सात शूकरोंवाले रथ पर सवार आलीढ़ मुद्रा में उभरी हुई अंकित है। भारत में सूर्य की खड़ी मूर्तियाँ भी अधिकतर उसी काल बनने लगी थीं। इसी प्रकार की सूर्य की एक साढ़े पाँच फ़ुट ऊँची मूर्ति विक्टोरिया और अल्बर्ट म्यूज़ियम के भारतीय विभाग में प्रदर्शित है। सूर्य के पद्मरथ को सात घोड़े खींच रहे हैं। कलाकार ने रथ अथवा घोड़ों से अधिक सूर्य में ही शक्ति भरने का प्रयत्न किया है। सूर्य की मूर्ति अच्छी है। उसमें यथार्थता का गहरा आभास है। यह मूर्ति राजमहल की पहाड़ियों में मिली थी, काले स्लेटी पत्थर की बनी है। ग्यारहवीं-बारहवीं सदी की महोबा की दो बोधिसत्वों की मूर्तियाँ, जो लखनऊ संग्रहालय में हैं, कला की दृष्टि से अपूर्व सुन्दर हैं। लगती हैं जैसे साँचे में ढाल दी गई हैं। इनमें से एक सिंहनाद अवलोकितेश्वर तो असाधारण दिव्य है। मूर्ति के पार्श्व में ऊपर त्रिशूल और सर्प के लांछन भी हैं जिनसे प्रकट है कि किस प्रकार बौद्ध महायान (वज्रयान) और शैव (शाक्त) प्रतीक परस्पर निकट आते जा रहे थे। अवलोकितेश्वर सिंह के आसन पर बैठे हैं। शरीर शांत और पतला है पर उसकी शक्ति का भार इतना है कि सिंह जैसे उठ नहीं पाता, ज़ोर से जिह्वा निकाले नाद कर रहा है। शरीर के अंगांग अतीव सुन्दर हैं। उस काल उस दिशा में इतनी सुन्दर मूर्तियाँ कम बनीं।

उड़ीसा के मन्दिरों का अपना दल अलग है। भुवनेश्वर

और कनारक में एक-से-एक सुन्दर मन्दिर बने जिनके बहिरंग को शिल्पियों ने अतीव अभिराम मूर्तिनों से अलंकृत कर दिया। भुवनेश्वर, कनारक और पुरी की अलंकारिक मूर्तनों ६०० और १२८० ई० के बीच की हैं। भुवनेश्वर की मूर्तियों में पत्र लिखती नारी और माता-शिशु की मूर्तियाँ असाधारण भव्य हैं। पुरी का मन्दिर तो शिल्प की दृष्टि से हीन है पर उस पर बनी मां-शिशु की मूर्ति भी ताज़गी लिए हुए है। पर मूर्तिकला की दृष्टि से गति और शक्ति में, आवयवीय आकर्षण में, कनारक के सूर्य मन्दिर की मूर्तियाँ बेजोड़ हैं। उस हीन युग में कोरी जाकर भी वे भारत की सुन्दरतम मूर्तियों में गिनी जाने की अधिकारिणी हैं। मन्दिर १२४० और १२८० ई० के बीच बना, पर शायद पूरा न हो सका। वह रथ के आधार पर खड़ा किया गया। रथ के चक्के ग़ज़ब के सुन्दर हैं। उनके अरा बड़ी कुशलता से कोरे गए हैं। रथ के अश्व रूप, शक्ति और त्वरता में, सारे भारतीय शिल्पक्षेत्र में लासानी हैं। बड़े जीवों को कोरने में इतनी सजीवता भारतीय स्थपति ने कम दिखाई है। काव्य जैसे मूर्तिमान हो उठा है। नथने उनके फरफरा रहे हैं, खुर भूमि को खोद रहे हैं, पूंछ उठी हुई है। सईस उन्हें संभालने की चेष्टा कर रहे हैं पर बड़ी कठिनाई से वे उन्हें रोक पाते हैं। इसी प्रकार उस मंदिर के गज भी स्वाभाविक जीवित लगते हैं, बल के सींव, गतिमान।

उड़ीसा की ही भाँति खजुराहो और मध्यभारत में भी समान शिल्प की शैली में मन्दिर खड़े हुए। इन मन्दिरों पर भी मूर्तिकला की विभूतियाँ बिखेर दी गई हैं। इनकी अनेक भाव-भंगियों, नर्तनमुद्राओं में कोरी लचीली शरीरयष्ठियाँ असाधारण अभिराम हैं। हैं तो वे अलंकरण मात्र, पर उनमें से प्रत्येक स्वतंत्र देवमूर्ति होने की क्षमता रखती है। इन मूर्तियों के दमखम, उनका नग्न विलास, संपूर्ण आत्मसमर्पण, उनकी काया को अप्रतिम शक्ति और लावण्य प्रदान करते हैं। मिथुनों का परस्पर आकुल

संमोहन उन्हें अपने से भिन्न बाह्य जगत् से सर्वथा पृथक् कर देता है, जैसे उनके लिए उनसे पृथक् का संसार अस्तित्व ही नहीं रखता।

कोणार्क, भुवनेश्वर, पुरी, खजुराहो और एलोरा आदि दक्षिण के भी अनेक मन्दिरों पर अलंकरण के रूप में भोगासन उभरे हुए चित्रित हैं। इन यौन अंकनों की संख्या हज़ार से भी ऊपर है। कोणार्क, भुवनेश्वर और खुजराहो के यौन अंकन तो कला की दृष्टि से भी पर्याप्त सफल हैं। ये मन्दिरों पर क्योंकर आए यह साधारणतः समझ में आने की बात नहीं है। मन्दिरों के पवित्र वातावरण में इन यौन दृश्यों का होना स्वाभाविक ही कुतूहल उत्पन्न करता है। नीचे इनकी व्याख्या के रूप में एक सिद्धांत प्रस्तुत किया जाता है।

साधारणतः संसार के मंदिरों के साथ व्यभिचार का घना संबंध रहा है। बाबुल के मिलित्ता के मंदिर में तो प्रत्येक पत्नी को एक बार जाकर विदेशी के साथ कुछ घंटे रहना पड़ता था। हेरोदोतस ने वहाँ का आँखोंदेखा वर्णन किया है।[१] इसी प्रकार ग्रीक अफ़्रोदोती और रोमन वीनस के मंदिर के चारों ओर ही वेश्याओं के आवास होते थे। भारत के मंदिरों में भी इसी प्रकार की देवदासी प्रथा का विकास हुआ। कालिदास ने महाकाल की चमरधारिणी नर्तकियों का आकर्षक वर्णन किया है।[२] बौद्ध-जैन स्तूपों की रेलिंगों पर नग्न नारीमूर्तियों का बराबर मूर्तन होता था। यक्षीमूर्तियों की नग्न वास्तुकारिता मंदिरों के यौन उत्खचनों से बहुत दूर नहीं है।

फिर भी दोनों में बड़ा और गुणतः अन्तर है। मंदिरों के यौन चित्रण नग्न यक्षियों से विकसित नहीं हो सकते। कारण कि दोनों के बीच कोई विकासकारी संबंध नहीं है, कोई शृंखला

---

[१] हिस्टोरियन्स हिस्ट्री : १, पृ० ४७८.
[२] पू० मे०, ३५.

क्रम ही नहीं है। पहले के मंदिरों में इस प्रकार के यौन दृश्य मिलते ही नहीं। इनका उत्खचन छठी सदी ईसवी के बाद के बने मंदिरों पर ही हुआ। अर्थात् वज्रयान के आरंभ के पहले ये नहीं मिलते। वज्रयान का उदय छठी सदी के आसपास उड़ीसा के महेन्द्र पर्वत पर हुआ जिससे उस पर्वत का नाम ही वज्रपर्वत पड़ गया। भवभूति ने अपने नाटक मालतीमाधव में इस ओर संकेत किया है। हीनयान की सूखी परंपरा पर महायान का स्निग्ध आचार खड़ा हुआ और व्यक्तिपरक देवता के प्रति आस्था जगी। महायान से मंत्रयान निकला जिसने नारी के प्रति सिद्धांतत: विशेष उत्कंठा प्रदर्शित की। उसका प्रकृत उत्तराधिकारी वज्रयान हुआ जिसने तंत्रों की परपाटी अपना ली। गुह्यकतंत्र आदि तंत्र लिख डाले गए। वज्रयान ने नारी को साधना का केंद्र माना।

शक्ति की पूजा अत्यन्त प्राचीन है, संभवतः सभी देवताओं की पूजा से प्राचीन। वह मातृपूजा है जो हज़ारों वर्ष से प्राय: सभी मानव जातियों में चली आती है। शक्ति की पूजा अधिकतर पूर्व में हुई। आसाम में, कामरूप के कारू कमच्छा में, कामाख्यादेवी के रूप में, उन नागा, खासी आदि जातियों के संपर्क में जहाँ समाज का केंद्र पिता नहीं माता थी, कुल का केंद्र पिता नहीं माता थी, जहां पितृसत्ताक नहीं मातृसत्ताक समाज की व्यवस्था थी। नई विदेशी जातियों के पच्छिम से आने से शाक्त धर्म को और शक्ति मिली क्योंकि उन्हें स्मार्तों ने स्थान न दिया पर शाक्तधर्म में वर्णादि का कोई प्रतिबंध न था। उसके अनुयायी सभी प्रकार के आचरण कर सकते थे, करते थे। उनके तंत्रों का सिद्धांत था कि जो सिद्धियाँ तप और ज्ञान से नहीं मिलतीं वे रजक और चांडाल कन्या से संभोग से मिल जाती हैं, कि तृष्णा का शमन इन्द्रियों के निरोध से नहीं उनके अप्रतिबद्ध भोग से होता है। अखाद्य, अपेय, अकार्य के खाने, पीने और करने से, भोग की अति से, तृष्णा का दमन होता है।

फिर तो वर्ण आदि की व्यवस्था समूची चली गई। मांसादि अनिरोध अति मात्रा में खाये जाने लगे, आसव अति मात्रा में पिया जाने लगा, नारी का निरन्तर और अगोप्य सेवन होने लगा। कन्यापूजा धर्म हो गया। विन्ध्याचल (मिर्ज़ापुर, उत्तर-प्रदेश) में नग्न कुमारी की पूजा होने लगी। औघड़, कापालिक (सहजिया, मरमिया) आदि अनेक पंथ उठ खड़े हुए।

अबतक वज्रयानी क्रिया-प्रयोग में शाक्तों के अत्यन्त निकट आ चुके थे, तारा प्रज्ञापारमिता और शक्ति में अब कोई भेद न रहा था। वज्रयानी और शाक्त को एक-दूसरे से भिन्न करके पहचानना असंभव हो गया। दोनों तांत्रिक थे, दोनों के आचार-विचार, विधि-क्रियाएँ समान थीं।

इसी वीच समाज में एक वड़ी सेना उनकी तैयार हो रही थी जो निम्नवर्गीय थे, अवर्ण, अस्पृश्य थे, विदेशी थे, वर्णच्युत थे। वज्रयान और शाक्त दोनों को वे स्वीकार थे, दोनों ने उनका स्वागत किया। इस श्रेणी के लोगों की संख्या बढ़ती गई और ये प्रवल होते गए। विशेषतः बंगाल, बिहार, आदि के स्वामी पाल राजा स्वयं शूद्र और बौद्ध दोनों थे जिससे वज्र-यानियों और उनके स्मार्त-व्यवस्था-विरोधियों की शक्ति को संरक्षा मिली। स्वयं वज्रयानी सिद्धों में अधिकतर या तो अब्राह्मण थे या ब्राह्मण वर्णच्युत, और स्वाभाविक ही नेतृत्व उनके हाथ आया। इस प्रकार यह निचला वर्ग वज्रयानियों और शाक्तों के नेतृत्व में जब प्रबल हुआ तब उन सारी व्यवस्थाओं को उसने तोड़ दिया। स्मार्त जीवन में उन्हें सभी वस्तुओं के लिए दबना पड़ा था, अब एक ऐसा धर्म उनका सहायक हुआ जो उनके सभी अभिप्रेत उन्हें देने को उद्यत था, स्मार्तों के अखाद्य, अपेय सभी। फिर तो सिद्धों केने तृत्व में उनकी घोषणा हुई—"जो उनका धर्म होगा वही हमारा अधर्म होगा, जो उनका अधर्म होगा वही हमारा धर्म होगा!" यह स्थिति ग्यारहवीं-बारहवीं सदियों में विशेष प्रबल थी, वैसे उसका प्राबल्य पन्द्रहवीं-

सोलहवीं सदी तक बना रहा था। तुलसीदास ने जो रामचरितमानस का प्रबन्धकाव्य लिखा उसका उद्देश्य भी स्मार्त जीवन और व्यवस्था, संयम और 'युक्ताहारविहार' फिर से स्थापित करना था।

सिद्धों का प्रावल्य विशेषकर उड़ीसा और बंगाल में था। वज्रयानी सिद्धों और शाक्तों का अविरोध नेतृत्व गुन्टूर से उत्तर बंगाल तक और शाक्तों के साथ-साथ कामरूप (आसाम) से काशी और परवर्ती प्रदेश तक स्थापित था। स्वयं पुरी का मंदिर खान-पान आदि में वर्ण-व्यवस्था नहीं मानता क्योंकि जगन्नाथ विष्णु वर्णाश्रम धर्म पर प्रहार करनेवाले बुद्ध के रूप थे, जिससे उसके निर्माण के समय बौद्ध वज्रयानियों का सब प्रकार से मंदिर पर स्वत्व रहा होगा। और इसलिए कि अनाचार प्रकृत हो जाय मंदिरों पर भी उसकी छाप लगी। उन पर भी उस तांत्रिक वज्रयानी जीवन और साधना के इंद्रियनिग्रह-विरोधी विषयभोग परिचायक यौन दृश्य मंदिरों के बहिरंग पर लिख गये। मंदिर के भीतर पूजा चाहे जिस देवता की हो, बाहर एक दूसरे प्रकार की साधना यौनप्रक्रिया-प्रधान भी थी जो विशेषतः उड़ीसा और बंगाल में और धीरे-धीरे पश्चिम के परवर्ती प्रदेशों में भी प्रचलित हो गई। मन्दिरों के यौन दृश्य स्मार्त सर्वस्व के मर्म पर इस प्रकार लिखकर तंत्राचार के 'सैंक्शन' बन गए।

### प्रागाधुनिक युग

उत्तर भारत में मूर्तियों के निर्माण को मुसलमानों के आगमन से बड़ी क्षति पहुँची थी। हूणों ने पहले ही देश की लाखों मूर्तियाँ तोड़ डाली थीं, मुसलमानों ने उस दिशा में संहारक प्रयत्न किए। उत्तर भारत के असंख्य मन्दिर भूमिसात हो गए। मन्दिरों का बनना ही प्रायः रुक गया। परन्तु दक्षिण में मन्दिर-निर्माण का कार्य विशेष निष्ठा से चलता रहा क्योंकि वह भाग मुस्लिम प्रहारों की परिधि से बाहर था। इससे हम अब अधिकतर दक्षिण की मन्दिर-मूर्तियों का संक्षिप्त वर्णन करेंगे।

जैसा अन्यत्र कहा जा चुका है, इस काल स्वतन्त्र मूर्तियों का प्राधान्य न था, मन्दिर के अलंकरण के अर्थ जो अनन्त मूर्ति सम्पदा मन्दिरों के बहिरंग पर सजाई जाती थी, प्राधान्य उसका था। अनेक दाक्षिणात्य राजकुलों की संरक्षा में मूर्तिकला का विकास दक्षिण में दीर्घ काल तक होता रहा, परंतु चोल राजकुल की बनवाई ग्यारहवीं सदी की मन्दिर-मूर्तियों के अतिरिक्त प्रायः सभी कला की दृष्टि से साधारण हैं। संख्या में ये अपरिमित थीं क्योंकि पुराणों और तंत्रों का सारा आकर इन निर्माताओं को उपलब्ध था और उसका इन्होंने समुचित उपयोग किया। पौराणिक देव परिवार कल्पना का योग पाकर इन मंदिरों पर उमँग आए, यद्यपि रसात्मक सौंदर्य से उनका कोई संबंध न था। वस्तुतः वह मूर्ति-निर्माण उत्तर के उत्तर-मध्यकालीन वास्तु का प्रसार मात्र था। मूर्तियों का विज्ञान दक्षिण में रसपद्धति को छोड़ सर्वथा लक्षणप्रधान हो गया।

शुद्ध अलंकरण की दृष्टि से बारहवीं सदी के चालुक्य और होयसल मन्दिरों की मूर्तियाँ अप्रतिम हैं, गर्भगृह की प्रधान मूर्ति की अपेक्षा कहीं प्रशस्य। सातवीं सदी में ही पल्लव प्रायः सारे दक्षिण के स्वामी बन गए थे और उन्होंने पहाड़ काटकर रथ-मंदिर बनवाये थे। उनके प्रधान मन्दिर मामल्लपुरम् में खड़े हुए। इन मन्दिरों के शरीर पर मूर्तियों की परंपरा खुद गई। पंक्ति-पर-पंक्ति अर्द्धचित्रों की उत्कर्ण हुई। शार्दूल, सिंह, गज, अश्व, नर, नारी सभी शृंखलावत् प्रदर्शित हुए। सात-सात फ़ुट के सिंह तक उनकी खड़ी भूमि पर लिख गए। महिषासुरमर्दिनी दुर्गा का उत्खचन भी बड़ी शक्ति का परिचायक है यद्यपि कला के सौंदर्य में उत्तर की दुर्गा की समता वह नहीं कर सकता। मामल्लपुरम् के पर्वत-मंदिर की एक ९६ फ़ुट लंबी और ४३ फ़ुट चौड़ी समूची दीवार उत्कीर्ण मूर्ति-पंक्तियों से भर दी गई है। प्रधान देवता की मूर्ति नष्ट हो गई, पर मनुष्यों और पशुओं का वह समस्त संसार ज्यों-का-त्यों उसकी पूजा में रत है। इस मूर्ति

परिवार को भ्रमवश महाभारत की कथा अर्जुन की तपस्या का नाम दिया जाता है।

मैसूर के मन्दिरों की अनेक उभरी मूर्तियाँ बंगलौर के संग्रहालय में हैं। बेंगुर और अतकुर के दसवीं सदी के युद्धचित्र प्रशंसनीय हैं। पल्लवों का उत्तराधिकार चोलों को मिला। चोलों ने भी मन्दिरों का अपना संसार खड़ा किया। त्रिचनापल्ली में गंगैकोंड चोलपुरम् के शिवमन्दिर का लिंगम् तीस फ़ुट ऊँचा है। उसके प्रधान मन्दिर की अलंकार मूर्तियाँ सुन्दर हैं। पर वस्तुतः सुन्दर मूर्तियाँ होयसल राजाओं ने बारहवीं सदी में मैसूर के मन्दिरों पर बनवाईं। उनकी मूर्ति शृंखलाएँ भाव और उत्खचन दोनों रूप से जटिल हैं पर दोनों को कलाकारों ने बड़ी सफलता से संपन्न किया है। प्रायः तभी के बेलारी ज़िले के चालुक्य मन्दिर की मूर्तियाँ होयसल मूर्तियों की ही भाँति ऋद्ध हैं परन्तु सौंदर्य में निःसंदेह उनसे पर्याप्त हीन हैं।

चौदहवीं से सोलहवीं सदी तक दक्षिण में विजयनगर के हिंदू राजाओं का प्रावल्य रहा। मुसलमानी रियासतों की संमिलित शक्ति से उन्होंने दीर्घ काल तक संघर्ष किया। उनके मन्दिरों में अनन्त मूर्तियाँ सजीं यद्यपि उनमें सौंदर्य की न्यूनता है। २२ फ़ुट ऊँची नरसिंह मूर्ति और हनुमान की प्रतिमा बनाने में असाधारण श्रमव्यय हुआ है। वे सुरक्षित भी हैं, पर कला उनमें प्राण न पा सकी। हजारा रामस्वामीवाले प्रासाद मन्दिर के आँगन की दीवारें रामायण के दृश्यों से भरी हैं पर उनमें न शक्ति है न कला की कांति। अनन्तपुर (मद्रास) के तरपात्री में विजयनगर के सामन्त राजाओं के बनवाये मन्दिरों की मूर्तियाँ उनसे कहीं सुन्दर और सशक्त हैं। ये सोलहवीं सदी की हैं।

सत्रहवीं सदी के द्राविड़ परंपरा के मन्दिरों में लंबे बरामदे बने और उनकी दीवारों को मूर्तियों से ढक दिया गया। रामेश्वरम् का ढका बरामदा भी इसी प्रकार का है। पर इनमें विख्यात्,

निरुमल नायक का बनवाया, मदुरा में ३३० फ़ुट लंबा और १०५ फ़ुट चौड़ा है, मूर्तियों से भरा।

## धातु मूर्तियाँ

धातु ( विशेषकर ताँबे और पीतल ) की अनेक प्रतिमाएँ, विशेषतः मैसूर में, बारहवीं और अठारहवीं सदी में ढाली गईं। उनका आरंभ तो काफ़ी पहले हो गया था परंतु वस्तुतः सुन्दर इसी पिछले काल की हैं, यद्यपि सभी नहीं। तिरुमलय मन्दिर में रखी कृष्णराय ( विजयनगर का राजा ) और उसकी दो रानियों की पीतल की मूर्तियाँ सुन्दर हैं। पर इस क्षेत्र में नटराज की मूर्तियाँ अपूर्व हैं। सदियों यह शिव का प्रतीक कलाकारों और उनके प्रशंसकों को प्रिय रहा है और तांडव नृत्य में रत शिव की सैकड़ों मूर्तियाँ ढलीं। उनके वेश का व्यास बड़ा है और उनकी गति की शक्ति अपूर्व है। विदेशों के संग्रहालयों में एक-से-एक शक्तिम और सुन्दर नटराज की मूर्तियाँ सुरक्षित हैं। काल-पुरुष (अपस्मार) पर खड़ा चतुर्भुज शिव अपूर्व वेग से घूम रहा है। गति की शक्ति उसे जैसे स्थिर कर देती है। नटराज की कल्पना भारतीय मूर्तिकला में विशेष स्थान रखती है।

## वर्तमान

बारहवीं सदी के बाद, जैसा लिखा जा चुका है, मूर्ति निर्माण को बड़ा धक्का लगा। फिर भी वह निर्माण रुका नहीं। पर निश्चय मूर्ति की कलात्मकता साधारणतः नष्ट ही हो गई। जैपुर आदि में आज जो मूर्तियाँ मन्दिरों के लिए बनती हैं वे प्रतीक और रसास्वाद दोनों में अत्यंत हेय हैं। सुरुचि से तो उनका कोई सम्बन्ध ही नहीं। दक्षिण में भी प्राचीन परंपरा सर्वदा निष्प्राण हो गई है।

परंतु इधर कुछ सालों से सजावट की मूर्तियाँ बनने लगी हैं। कला के क्षेत्र में भी यूरोपीय परंपरा में कुछ उपयोग हुए हैं।

पत्थर में प्रतिकृतियाँ पर्याप्त संख्या में इधर बनी हैं। प्रतिकृतियों का निर्माण धातु में भी हुआ है यद्यपि व्यय के कारण उस दिशा में अधिक प्रयास नहीं हो सका। यूरोपीय मूर्तिकला के नए प्रयोगों ने इस देश के कलाकारों को भी आकृष्ट किया है और उस क्षेत्र के प्रयास भी असुन्दर नहीं हैं परन्तु हैं वे थोड़े, संख्या में अत्यंत न्यून, जैसे तक्षक उस क्षेत्र में स्वयं न्यून हैं।

अध्याय तीन

# ● ● चित्रकला

## शैलियाँ और प्रकार

भारत की चित्रकला उसकी अन्य कलाओं और सांस्कृतिक दाय की भाँति बहुत प्राचीन है। मिर्ज़ापुर और मध्यप्रदेश में जो रेखाचित्र आदि बने हैं वे प्रस्तरयुगीन हैं, प्रायः उतने ही पुराने जितने पुराने स्पेन के अल्तामाइरा और दक्षिण फ्रांस की गुफाओं के चित्र हैं। निश्चय वे बर्बर मानव की भाव-चेतनाएँ व्यक्त करते हैं जिसने भय, पूजा और उल्लास में ये चित्र बनाए। परंतु पिछले काल में प्रायः तीसरी सदी ई० पू० से यहाँ शास्त्रीय अधिकार से चित्र बनने लगे और कुछ बीच के युगों को छोड़ निरंतर बनते चले आए। ये बीच के युग भी चित्रविहीन नहीं रहे होंगे, केवल वे चित्र हमें इस काल उपलब्ध नहीं हैं।

चित्रों की संपदा मूर्ति संपदा की ही भाँति इस देश में प्रभूत है। अनेक प्रांतों में स्थानीय शैलियाँ बनीं जो इतने लंबे-चौड़े भूखंड में होना अनिवार्य था। आज हमें अनेक शैलियों के नमूने प्राप्त हैं। इनमें प्रधान शैलियाँ ६ हैं : १. अजंता शैली, २. गुजरात शैली, ३. मुगल शैली, ४. राजपूत शैली (राजस्थानी), ५. दकनी शैली, और ६. वर्तमान शैली। इनमें अजंता शैली का

प्रभाव एक समय सारे देश पर किसी-न-किसी मात्रा में रहा। उसका उदय हैदराबाद राज्य के सह्याद्रि की गुफाओं में हुआ। गुजरात शैली, जैसा नाम से प्रकट है, पश्चिमी भारत, गुजरात, सौराष्ट्र आदि की स्थानीय शैली थी। उसे जैन शैली भी कहते हैं। मुगल शैली भी अजन्ता की ही भाँति प्रायः देशव्यापिनी थी, कम-से-कम दिल्ली, आगरे की मुगल बादशाहों की राजकीय होने के कारण उसका प्रभाव देशव्यापी हुआ। राजपूत शैली राजस्थान, बुंदेलखंड, पंजाब-हिमालय में जन्मी और फैली। स्थान-विशेष के कारण उसकी अनेक उपशैलियाँ बन गईं जिन्हें कलम कहते हैं, जैसे पहाड़ी, जम्मू, कांगडा, बशोली आदि। दकनी शैली अधिकतर राजस्थानी और मुगल के संयोग से स्थानीयता लिये जन्मी। वर्तमान शैली की कला यूरोपीय प्रभाव से उत्पन्न विविध धाराओं से प्रसूत हुई है, अधिकतर प्रयोगावस्था में है। इन विविध शैलियों का हम संक्षेप में उल्लेख करेंगे, वरना उनका सविस्तर वर्णन ग्रंथ के विस्तार की अपेक्षा करेगा।

साधारणतः दो प्रकार के चित्र हैं : भित्तिचित्र और प्रतिकृति। कंदराओं और प्रासादों की दीवारों पर जो चित्र बनाए गए हैं उन्हें भित्तिचित्र कहते हैं। दीवार पर चूना आदि का लेप लगाकर उन पर चित्र वनाते हैं। जोगीमारा, अजन्ता, बाघ, मध्य एशिया आदि में इसी प्रकार के भित्तिचित्र बने हैं। यूरोपीय भाषाओं में इन्हीं चित्रों को 'फ़्रेस्को चित्रण' कहते हैं। प्रतिकृति चित्रण एक व्यक्ति अथवा अनेक व्यक्तियों की अनुकृति को कहते हैं। उसमें प्रकृत व्यक्ति विम्ब (मॉडल) का काम करता है। इस प्रकार के चित्रण को अंग्रेज़ी में 'पर्ट्रेट पेंटिंग' कहते हैं। मुगल शैली के चित्र प्रधानतः इसी शैली में हैं। दोनों की सम्मिलित शैली भी एक है, गुजराती, अथवा ग्रंथचित्रण की, जिसमें भित्ति-चित्रण की भूमि पर आकृतियों का आलेखन होता है। मुगल कलम से प्रभावित परन्तु टेक्नीक में अजन्ता की भूमि प्रस्तुत करने वाली राजस्थानी पहाड़ी शैली इसी प्रकार की है।

भित्ति और प्रतिकृत दोनों प्रकार के चित्रों का भारतीय साहित्य में निरन्तर उल्लेख हुआ है। जातक कथाओं और पालि-साहित्य से लेकर प्राकृत और हिन्दी साहित्य तक सर्वत्र इनका वर्णन मिल जाता है। वस्तुत: साहित्य और चित्रकला का परस्पर इतना घना सम्बन्ध रहा है कि एक का आदर्श दूसरे में सदा अन्वित होता आया है। कालिदास, भारवि, माघ, भवभूति आदि सभी ने अनेक बार इन दोनों प्रकार के चित्रों की ओर संकेत किया है।

## अजंता शैली

बर्बर अवस्था के मिर्ज़ापुर आदि के चित्रों के अतिरिक्त कुछ अजंतापूर्व के जोगीमारा की गुहा में हैं। जोगीमारा गुहा मिर्ज़ापुर के पास रामगिर की पहाड़ियों में है। ये भित्तिचित्र हैं, वृत्ताकार बने हैं, और एक-दूसरे से लाल और पीली वृत्ताकार रेखाओं से विभाजित हैं। बीच में एक पुरुष पेड़ के नीचे बैठा है। उसके बाएँ नर्तकियाँ और गाने-बजानेवाले हैं, दाहिने गज के साथ जुलूस है। दूसरे चित्र में अनेक पुरुष, एक चक्र और ज्यामितिक रेखाएँ खिची हैं। तीसरे में फूलों, घोड़ों और मानवाकृतियों के आभास मात्र बच रहे हैं। इसीके आधे में एक वृक्ष चित्रित है जिस पर एक पक्षी बैठा है और शाखाओं में एक नंगा बच्चा है। पेड़ के चारों ओर मस्तक का केशगुच्छ बाईं ओर बाँधे मानवाकृतियाँ चित्रित हैं। चौथे चित्र में एक ओर ऊपर तीन वस्त्राभूषित परिचारकों के वीच एक नंगा पुरुष खड़ा है, दूसरी ओर तीन दूसरे परिचारकों से घिरे वैसे ही दो व्यक्ति बैठे हैं। नीचे एक चैत्य-वातायनमंडित गृह, एक गज और सामने तीन वस्त्राभूषित खड़े नर चित्रित हैं। पास ही छत्रमंडित तीन घोड़ों का रथ है और गज तथा परिचारक हैं। चित्र साँची-भरहुत की शैली के हैं और शुंगकाल के हो सकते हैं।

अजंता के दरीगृह संख्या में २६ हैं, अर्धचंद्राकार खुदे। नीचे

पतली नदी बहती है। नं० ९, १०, १९ और २६ की गुहाएँ चैत्य हैं, शेष भिक्षुओं के रहने के विहार। इनमें नं० ८, १२ और १३ की प्राचीनतम हैं, १३वीं संभवतः सबसे प्राचीन है। १३वीं की दीवारों पर पालिश है और वह २०० ई० पू० के लगभग की हो सकती है। इन तीनों में चित्र नहीं हैं। नं० ८ और १३ की गुफाएँ हीनयान संप्रदाय की हैं प्रायः २०० ई० पू० और १५ ई० के बीच खुदीं। छठीं-सातवीं गुहाएँ संभवतः ४५० ई० और ५५० ई० के बीच खुदीं। शेष कुछ पीछे की हैं, इनमें कुछ अपूर्ण भी हैं। सबसे अंत में शायद पहली खुदी। इन गुहाओं के चित्र भिन्न-भिन्न काल के हैं। इनमें चित्र ईसा से प्रायः सौ वर्ष पहले से लेकर ईसा बाद सातवीं सदी तक के हैं। नवीं-दसवीं गुफाओं में दो काल के चित्र हैं, इनमें प्राचीनतर पहली सदी ई० पू० के हैं। अधिक चित्र गुप्त, वाकाटक और चालुक्य (५५०–६४२ ई०) काल के हैं। अधिकतर चित्र मिट गए या वर्णमलिन हो गए हैं। पर जो बचे हैं उनकी नकलों ने भी यूरोप में सनसनी उत्पन्न कर दी थी क्योंकि उनका सा १४वीं सदी से पूर्व वहाँ कुछ भी न था।

चित्रों के विषय बौद्ध धर्म संबंधी हैं। बुद्ध के जीवन और जातक कथाओं से घटनाएँ उठाकर चित्रित की गई हैं जो इन गुफाओं के उद्देश्य (भिक्षुओं के आवास) को देखते हुए उचित ही है। ये चित्र इस हेतु बने कि वहाँ रहनेवाले भिक्षु बुद्ध के जीवन की घटनाएँ गुनते हुए अपने जीवन को आदर्श बना सकें। अलंकरणों के चित्रण में अजन्ता के कलाकारों ने गजब का कौशल प्रदर्शित किया है। फूल, पक्षी, पशु, गंधर्व, विद्याधर, देव सभी अभिराम जीवित रूपायत हैं। उनमें अद्भुत कोमलता और सजीवता है। कल्पना ने अद्भुत उड़ान भरी है। व्यक्त अव्यक्त कुछ भी ऐसा नहीं, अजन्ता का कलाकार जिसे अपनी कूंची के नीचे न खींच ले। इस प्रकार के चित्रण गुहा नं० १ की छत में विशेष हैं, सातवीं सदी ईसवी के बने। गुहा नं० २

की छत में भी इसी प्रकार के आकर्षक अलंकरण हैं। पहली गुहा की छत में चित्रित सांड़ों की लड़ाई तो गति और अभिव्यक्ति में असाधारण है।

अब अजन्ता के प्रधान चित्रों पर एक दृष्टि डालें। नवीं-दसवीं गुहाओं के चित्र पहली सदी ई० पू० के हैं। नवीं की दीवार पर प्रणाम मुद्रा में बैठी नारी जैसे जीवन से उठा ली गई है। दसवीं गुहा के चित्रण भी बड़े सजीव हैं। दाहिनी दीवार पर हाथी का एक खाका खिचा है। संभवतः इष्ट उसे वर्ण-चित्रित करना था, पर रेखाओं में उसकी अभिव्यक्ति असामान्य प्रवल हो उठी है। इस गुहा के अधिकतर चित्र मिट गये हैं। सोलहवीं गुहा के चित्रों में भी थोड़े ही बच रहे हैं। १८७४ ई० तक जब ग्रिफ़िथ ने इनकी नकलें कीं, पर्याप्त बच रहे थे। इनमें 'मरणोन्मुख रानी' की तो ग्रिफ़िथ ने भूरि-भूरि प्रशंसा की थी। नं० १७ के चित्रों को तो बर्गेस ने सबसे सुन्दर कहा था। सिंहल की भूमि पर राजकुमार विजय का अवतरण तो अपनी असाधारण गति और सौंदर्य के लिए अप्रतिम चित्रण माना जाता है।

अजन्ता के चित्रों में सौंदर्य इतनी अधिक मात्रा में प्रवाहित है कि उसे थोड़े में व्यक्त नहीं किया जा सकता। वस्तुतः प्रत्येक चित्र व्यक्तित्व रखता है और अनुपेक्षणीय है। फिर भी पद्मपाणि वोधिसत्व, माता और राहुल, छदन्त जातक, क्रूर ब्राह्मण की कथा, शिवि जातक, गजराज की जलक्रीड़ा, कवियों का उल्लास, नन्द का पलायन आदि अनेकानेक चित्र संसार के सुन्दरतम चित्रों में स्थान रखते हैं। पहली गुफा में फ़ारस के निवासियों के वेश में कुछ जनों का आपानक चित्रित है। ईरानी वातावरण प्रस्तुत हो गया है, अजन्ता के अन्य चित्रों से सर्वथा भिन्न। कहते हैं कि संभवतः ये ईरानी उस दूतमंडल के थे जिसे खुसरो परवेज़ ने चालुक्यराज पुलकेशिन् द्वितीय के पास भेजा था। गुहा नं० २ में स्तंभ से लगी, वाम पद मोड़कर स्तंभ से

टिकाए, बाएँ कर के अँगूठे और अनामिका को मिलाये कुछ गुनती खड़ी नारी आकृति आकर्षण का केन्द्र बन गई है। गुहा नं० १० में नारियों से घिरा राजा चित्रित है। चित्र प्राचोन हैं पर आकृतियों की अभिव्यक्ति शक्तिम हुई है। चेहरों की ताज़गी असामान्य है। १७वीं गुहा में शिशु लिये कुछ झुकी दो उंगलियों से जैसे व्याख्यान करती स्त्री अद्भुत कोमलता की परिचायक है।

अजन्ता की अपनी शैली है, संसार की शैलियों से सर्वथा भिन्न। उंगलियाँ कमल की पंखुड़ियों सी नमित होती हैं, नेत्र आकर्षण खिंचे अर्ध-निमीलित। दोनों अद्भुत छंदयुक्त हैं। निःसंदेह शैली की परंपरा सौंदर्य के मान बाँध देती है, परन्तु आकृतियों की विविधता, उनका जीवन से अविच्छिन्न संबंध, अविरल बहते जीवन में उनका सर्वथा अकृत्रिम सहज स्वाभाविक अंकन, आलोड़ित संसार ला उपस्थित करते हैं। आकृतियाँ पहचानी सी लगती हैं। नगरों, महलों, साधारण घरों, वनों, ह्रदों के दृश्य जीवन को उसके सभी रूपों में प्रकट करते हैं। दृश्यों के एकाकी और सामूहिक अंकन में भी एकप्राणता है। अजन्ता के चित्रकार कितने कुशल, कितने मानवीय, जीवन के प्रति कितने उदार, कितने हमदर्द थे, ये चित्र भलीभाँति व्यक्ति करते हैं। विराग और त्याग के इन मंदिरों में स्वस्थ जीवन का कोई अंग अछूता न रहा, रागावेगों का कोई कंपन न रहा जो तूलिका और वर्ण के स्पर्श से चमक न उठा हो। कुछ आश्चर्य नहीं कि चीनी तुनहुआंग की सैकड़ों गुहायें अजन्ता की चित्रानुकृतियों से भर गई हों।

वाघ की गुहाओं के चित्र भी अजन्ता शैली में ही लिखे गए हैं। वाघ की गुहाएँ मध्यप्रदेश (ग्वालियर) के मालवा में गुजरात और मालवा के प्राचीन वणिक्पथ पर खोदी गई हैं। और उनकी छतें, दीवारें और स्तंभों की भूभि भी अजन्ता की ही भाँति विविध चित्रों से भर दी गई हैं। अजन्ता की ही भाँति विराग

के बीच तपोभिन्न अल्हड़ उल्लसित उन्मद अनियन्त्रित अविरल जीवन वहाँ के चित्रों में भी प्रवाहित है। वहाँ भी मानव और पशु समान उदारता से अंकित हुए हैं। घोड़ों के मस्तक का लेखन तो अद्भुत शालीनता से हुआ है। वाघ की गुहाओं में दो-तीन 'ओप्रा' के दृश्य भी हैं—नृत्य, वाद्य, गायन के साथ अभिनय हो रहा है। सभी नारियाँ हैं, मात्र एक पुरुष है। भावशिथिल और तीव्रगति से प्रसंगवश उठते और निलय होते हैं। संसार के सुन्दरतम आलेख्यों में उचित ही बाघ के चित्रों की भी गणना है। वहाँ कोई अभिलेख न होने से उनके चित्रणकाल का निश्चय तो सर्वथा नहीं हो पाता परंतु शैली से प्रकट है कि वे अजन्ता के मध्यवर्ती काल से पहले के नहीं हो सकते। अधिकतर वे गुप्तकाल के हैं और उनका निचला प्रसार भी संभवतः छठी-सातवीं सदी तक है।

## गुजराती शैली

गुजराती शैली का दूसरा नाम जैन शैली है क्योंकि अधिकतर इस शैली ने जैन कल्पसूत्रों का ही ग्रंथचित्रण किया है। परंतु निःसंदेह इस शैली के चित्र सर्वथा धार्मिक ही नहीं हैं, लोकोत्तर के साथ लौकिक भी हैं जिससे उन्हें केवल धार्मिक और सांप्रदायिक मानकर जैन संज्ञा प्रदान करना भ्रमपूर्ण है। इसके विपरीत, चूंकि इस शैली के प्रायः सभी चित्र गुजरात से ही मिले हैं, इसे गुजराती शैली ही कहना उचित है।

इस शैली के चित्र अधिकतर पन्द्रहवीं सदी के हैं। अजन्ता और इन चित्रों के समय में प्रायः आठ सदियों का अन्तर है। यह अन्तर सर्वथा चित्रविहीन रहा होगा, यह तो विश्वास करने का विषय नहीं, परन्तु दैववशात् स्थिति है यही। उस बीच का अन्तर पूरित था, इसका संकेत भी इस शैली के कुछ प्राचीन उदाहरणों से मिल जाता है। पाटल संग्रह के सचित्र कल्पसूत्र पर १२३७ ई० की तिथि दी हुई है। इस प्रकार के दो

कल्पसूत्र लंदन के इंडिया आफ़िस और बृटिश म्यूज़ियम में सुरक्षित हैं। इनमें पहला १४२७ ई० का है, दूसरा १४६४ ई० का। पन्द्रहवीं सदी के गुजरात शैली के सर्वोत्तम नमूने बोस्टन म्यूज़ियम, अमेरिका, में हैं। बोस्टन संग्रहालय के कल्पसूत्र और अजन्ता के चित्रों का अन्तर इस प्रकार केवल साढ़े पाँच-छः सौ साल रह जाता है। कुछ आश्चर्य नहीं कि इस बीच के चित्रादर्श भी यथा-काल उपलब्ध हो जायँ।

जैसा पहले लिखा जा चुका है, गुजराती शैली के चित्रों का उपयोग साधारणतः ग्रंथचित्रण अथवा निमंत्रणों के चित्रण में हुआ है। वस्तुतः यह शैली लघुचित्र शैली (मिनियेचर) का प्रारंभ करती है। और, जैसा पहले कहा गया है, वे सर्वदा धार्मिक ही विषयों को आलोकित नहीं करतीं। गुजराती के अहमदशाह कुतबुद्दीन के शासनकाल का प्रसिद्ध वसन्त विलास (१४५१ ई०) सर्वथा पार्थिव भाव संपदा से आलोकित है। साढ़े पैंतिस फ़ुट लंबे और नौ इंच चौड़े सूती कपड़े पर यह चित्रित है। लाल और पीले रंगों का उसमें प्राधान्य है, भूमि पीली है। नक्शा सर्वथा रूढ़िबद्ध, अजन्ता की आकृतियों की अवयवआनत पद्धति से संपूर्णतः दूर, प्रतिकूल। चेहरे आधे अथवा केवल पार्श्वगत दिखाए गए हैं। (कहीं-कहीं चेहरे समूचे दोनों नेत्रों के साथ भी चित्रित मिलते हैं।) रूढ़िगत सौंदर्य में बादाम की सी डेढ़ या एक आँख चित्रित हुई है। इस शैली को समीक्षकों ने डेढ़चश्मी या एक-चश्मी शबीह कहा है। शक्लें नितांत कृत्रिम हो गई हैं यद्यपि उनमें गुजराती रूपरेखा का आभास जब तब झलक जाता है। गुजराती शैली के चित्रों में अंकित वृक्ष तो प्रायः पूर्णतः रूढ्य-भिनिविष्ट हैं। आकृतियों की अंकनरेखाएँ अक्सर कमज़ोर हैं यद्यपि वेशभूषा की क्रिया, विशेषतः उड़ते उत्तरीय और धोती का अंकन विशेष प्रत्यय से हुआ है। इन चित्रों का आलेखन शैली की दृष्टि से अजन्ता से, कम-से-कम अपनी रूढ़िबद्धता में, जितना दूर है उतना ही दूर वह मुगल कलम से भी है। उसका उदय

और प्रसार मुगल कलम के प्रारम्भ से पहले हुआ जिससे उस प्रभाव से वह वंचित है। नारी का अवगुंठन और पाजामा जो मुगल चित्रों अथवा उस शैली से प्रभावित चित्रों में मिलते हैं, गुजरात शैली में अप्राप्य हैं।

निःसंदेह गुजराती शैली के चित्र विषय और तकनीक में सर्वथा एतद्देशीय हैं, मध्यकालीन भारतीय चित्रण के प्रमाण और उदाहरण। अनेक तो वस्तुतः मन पर गहरा प्रभाव डालते हैं। परन्तु अधिकतर उनका संबंध अजन्ता की कला की भाँति कथा-वार्ता से ही है। इसीसे वे ग्रंथचित्रण में ही प्रयुक्त भी हुए हैं। जैन हस्तलिखित ग्रंथ ताड़पत्र पर लिखे हैं, ये चित्र भी ताड़पत्रों पर ही हैं।

### मुगल शैली

मुगल शैली भारतीय चित्र संसार में अपना अलग स्थान रखती है। अपनी सुरुचि और परिष्कार तथा कूची के स्पर्श की कोमलता और हाशिये की कसीदाकारी से वह तत्काल पहचानी जा सकती है। यह शैली फ़ारस और भारत के संमिलित प्रयास का परिणाम है। ईरानी कलम को भारतीय वातावरण का योग मिला। ईरानी शैली का प्रारंभ भारत में ईरानी कलावंतों ने किया जिसे भारतीय चित्रकारों ने अपनी निष्ठा, स्थानीय प्रेरणा और विषयों से आकृति प्रदान की। वही चित्रण मुगल कलम कहलाया। अपनी चरम परिणति में यह शैली सर्वथा भारतीय है, फ़ारसी चित्रों से भिन्न।

मुगल शैली का इतिहास भारत में तैमूरिया राजकुल की स्थापना से आरम्भ होता है, हुमायूं के पुनरागमन से। १५५५ ई० में हुमायूं शाह तहमास्प के ईरानी दरबार से जब भारत लौटा तब अपने साथ वहाँ से दो प्रसिद्ध चित्रकार मीर सैयदअली और अब्दुस्समद को अपने साथ लेता आया। दोनों ग्रंथचित्रण में पारंगत थे और यहाँ आते ही उन्हें उस प्रकार का काम सुपुर्द कर

दिया गया। मीर सैयदअली ने जिस 'दास्ताने अमीर हम्ज़ा' को पहले चित्रित किया उसके बारह खंड थे और प्रत्येक खंड में सौ-सौ चित्र थे। यूरोप के अनेक संग्रहालयों में वे आज बिखरे हुए हैं। स्वाभाविक ही इतना बड़ा काम उस कलावंत ने अकेले न किया होगा, उसमें देशी-विदेशी अनेक चित्रकार लगे होंगे। मीर सैयदअली के निरीक्षण में वह कार्य सम्पन्न हुआ होगा। इन प्रारंभिक मुगल चित्रों की शैली, प्रकट है, सफ़वी (ईरानी) थी पर केवल मूलरूप में। अनेक बातों में उन चित्रों ने ईरानी भावभूमि छोड़ दी। उनमें फूल-पत्तियों का इतना उपयोग भारतीय प्रभाव का ही परिणाम था। बिहज़ादी कलम भारतीय वातावरण को अभिव्यक्त कर चली थी।

हुमायूँ के साथ आए चित्रकार अकबर के शासनकाल में भी चित्रण करते रहे। अकबर ने फतहपुर सीकरी का निर्माण कर उसके कमरों (अपने शयनागार खाबगाह) में भित्तिचित्र बनवाये। अनेक भारतीय ईरानी चित्रकारों ने उस प्रासाद परंपरा को सजाया। उसके दरबार हाल और आवासों की दीवारें तस्वीरों से ढक गईं। रूप उन चित्रों का भित्तिचित्रों का सा था, शैली लघुचित्रों की थी। कुछ चित्र शुद्ध ईरानी परंपरा में बने, अनेक भारतीय परंपरा में। मीर सैयदअली और अब्दुस्समद चित्रकारों में प्रधान थे, पर उनके नीचे सैकड़ों देशी-विदेशी चित्रकारों ने काम किया, प्रत्येक ने अपनी शैली से।

इतने हिंदू चित्रकारों के उपयोग से प्रकट है कि हिंदू चित्रकला जीवित थी जिससे इतने हाथ एक साथ उपलब्ध हो सके। अकबर के दो हिन्दू दरबारी चित्रकार बसावन और दसवन्त अपनी कला में मूर्धाभिषिक्त हो चुके थे। दसवन्त तो जात का कहार और अत्यन्त निर्धन था। 'एक दिन', अबुलफ़ज़ल लिखा है, 'जहाँपनाह की नज़र उस पर पड़ी और स्वयं उन्होंने उसे ख़ाजा (अब्दुस्समद) के सुपुर्द कर दिया। कुछ ही काल में वह मेधा में सभी चित्रकारों को लांघ गया और उस युग का वह प्रधान आचार्य बन गया।

अभाग्यवश उसकी प्रतिभा विक्षेप से मन्द पड़ गई और उसने आत्महत्या कर ली। उसने अनेक अनुपम चित्र छोड़े हैं।[१] इसी प्रकार अबुलफ़ज़ल ने बसावन की भी बड़ी प्रशंसा की है।

वस्तुतः इस दिशा में देशी प्रतिभा को जाग्रत करने और बढ़ाने में अकबर की उदारता ने बड़ी सहायता की। उसने कभी हिन्दू-मुसलमान में भेद नहीं किया और दोनों को केवल प्रतिभा की दृष्टि से परखा। ओहदा और धन उसने दोनों को समान रूप से प्रदान किए। चित्रकारों को उसने सभी प्रकार के पदों और पदवियों (खिताबों) से विभूषित किया। अब्दुस्समद को तो उसने फ़तहपुर की टकसाल का अध्यक्ष और अंत में मुल्तान का दीवान तक बना दिया।

आगरा और दिल्ली में बड़े-बड़े राजकीय ग्रंथागार स्थापित हो गए। केवल आगरे के संग्रहालय में २४,००० के लगभग ग्रंथ थे।[२] ग्रन्थ सचित्र होते थे। उनकी लिपिकारिता, जो चीन और ईरानी कला में विशेष स्थान रखती थी, अपूर्व उन्नति को प्राप्त हुई। मुगलकालीन लिपिकारिता, हाशियाबन्दी और किताबों की जिल्दबंदी कला के क्षेत्र में वही स्थान रखती थी जो मुगल चित्रण का था। एशियाई संस्कृति में जो भी शालीन था, इन संग्रहालयों में वह एकत्र हुआ। मूल भी, अनुवाद भी, जिनके पन्ने लघुचित्रों से चमका दिए गए। उस दिशा में व्यय की तनिक परवाह नहीं की गई। करोड़ों रुपए उन्हें प्रस्तुत करने में लगे।

कुछ को छोड़कर प्रायः सभी मुगल चित्र (हिंदू-ईरानी) कागज़ पर बने हैं। चीनी चित्रों की भाँति वे कभी रेशम पर नहीं बने। हिंदू-ईरानी चित्रकार अपने आलेख्य को दृढ़ रेखाओं से घेरते थे। इससे पहले उनका खाका बना लेना आवश्यक होता था। ईरानी

---

१ स्मिथ : हिस्ट्री० पृ० ४५५.

२ वही, पृ० ४५६.

ग्रंथचित्रों में तो पहले खाका लाल या काली चाक से खींच कर उनमें तत्काल रंग भर लिया जाता था। बहुमूल्य ग्रंथों के लिए बड़ा उलझा हुआ तरीका काम में लाया जाता था। ग्रंथ में पृष्ठ खाली छोड़कर चित्र अलग तैयार करके उसमें बाद में चिपका देते थे। पन्ने पर पहले बारीक लेप कर लिया जाता था, लेप अरबी गोंद के पानी में घुला होता था। तब उसकी चिकनी ज़मीन पर खाका खींचा जाता था, फिर तैलचित्रण की भाँति एक-पर-एक रंगों के परत डाले जाते थे। जब तब अभूषणों में मोती, हीरा और स्वर्ण का आभास उत्पन्न करने के लिए उनके कणों का उपयोग होता था।[१] यह सारी क्रिया भारतीय चित्रकार गिलहरी के बालों के ब्रुश से संपन्न करते थे। अनेक बार तो बारीकी केवल एक बाल के ब्रुश से संपन्न की जाती थी।[२] उसमें असाधारण नेत्रशक्ति और करस्थिरता की आवश्यकता होती थी। लंदन में रखे कुछ असमाप्त चित्रों से[३] शैली की रेखाशक्ति का पता चलता है। एक ही चित्र की कई प्रतिकृतियाँ भी हैं। वे चार कर ली जाती थीं। अनेक बार एक ही चित्र को अनेक कलाकार पूरा करते थे। एक खाका खींचता था, दूसरा उसमें रंग भरता था। उदाहरणतः साउथ केन्सिंग्टन म्यूज़ियम के अकबरनामा में आदमखाँ के प्राणदंडवाले चित्र का खाका मिस्कीं ने तैयार किया था, पर उसमें रंग शंकर ने भरे थे।[४] एक दूसरे चित्र का खाका मिस्कीं ने खींचा, रंग सरवन ने भरे, चेहरानामी तीसरे चित्रकार ने किया और 'सूरतें' माधो ने बनाईं।[५] अकबरनामा के रंग बड़े चटख हैं, विशेषतः लाल, पीले और नीले। उसके चित्र इस प्रकार ईरानी वर्ण-परंपरा के ही

---

[१] स्मिथ : हिस्ट्री०, पृ० ४६०.

[२] वही, पृ० ४६२.

[३] वही, पृ० ४६२.

[४] वही, पृ० ४६२.

[५] वही, पृ० ४६२.

विकास हैं। भारतीय चित्रकार रंगों की महारत और कोमल वर्णकारिता में अपने ईरानी उस्तादों से कहीं बढ़ गये थे। और प्रकृति के वैयक्तिक चित्रण में तो उन्होंने इतनी महारत हासिल कर ली जितनी उनके ईरानी उस्ताद कभी न कर सके थे। इस प्रकार के भारतीयों के बनाये सुन्दरतम चित्र सत्रहवीं सदी के पूर्वार्द्ध के हैं, वैसे अच्छे चित्र उन्नसवीं सदी के आरंभ तक बनते गये थे।

आरंभ के मुगल चित्रण में ग्रंथचित्रण अधिक हुए। महाभारत का सचित्र अनुवाद 'रज़मनामा' के नाम से प्रस्तुत हुआ। रामायण का अनुवाद भी बढ़े व्यय से चित्रित किया गया। अकबरनामा भी उसी परम्परा में प्रस्तुत हुआ। दास्ताने हम्ज़ा का उल्लेख पहले हो चुका है। उसका आरम्भ हुमायूँ के समय ही हो चुका था। रसिकप्रिया की भी एक अद्भुत सचित्र हस्तलिपि मुगलशैली में उपलब्ध है। इस प्रकार के अनेक ग्रंथ सचित्र तैयार कर आगरा, दिल्ली और अन्य नगरों के पुस्तक-संग्रहों में सुरक्षित कर दिए गए। इस प्रकार कला का योग साहित्य को मिला। किसी युग में साहित्य और कला का इतना घना सानिध्य नहीं हुआ जितना मुगल काल में। औरंगज़ेब की मृत्यु के पश्चात् रुहेले और अवध के नवाब अपने संग्रहों का आकार बढ़ाने के लिए इन ग्रंथसंग्रहों को आगरा, दिल्ली से लूट ले गए।

मुगल शैली प्रधानतः प्रतिकृतिचित्रण है। उसमें व्यक्तिचित्रण की प्रधानता है। वस्तुतः वह शैली ही व्यक्तिवादी है। सामूहिक चित्रण में भी महत्व व्यक्ति का ही है। अकबर के शासनकाल (१५५६–१६०५) और जहाँगीर (१६०५–२७) के शासनकाल के आरंभ में प्रतिकृतिचित्रण में खड़े व्यक्ति का पार्श्व चित्रण ही हुआ, प्रायः रूढ्यभिनिविष्ट शैली में। धीरे-धीरे उसकी एकान्तता शिथिल हुई और नर-नारियों के चित्र स्वाभाविक बनने लगे। ईरानी माडल के बने चित्रों में बिंबत्व और अंगपीवरता का अभाव था, स्पर्श की गहराई भी उनमें न थी

ग्रौर उभार के ग्रभाव में वे ग्राकृतियाँ सर्वथा चिपटी लगती थीं। जहाँगीर के पिछले सालों में भारतीय चित्रकारों ने वह सारी न्यूनता पूरी कर दी। वे हल्की रेखा की छाया गज़ब की ख़ूबी से डालने लगे ग्रौर इस प्रकार उन्होंने ग्रपनी ग्राकृतियों को ग्रद्भुत क्षमता से हल्की गोलाई प्रदान की। इसी काल उस कला में विदेशी छायातप का ग्राविर्भाव हुग्रा जिसने रेखा ग्रौर राग को दुर्बल कर दिया। प्रतिकृतिकारिता के चरम विकास ने डिज़ाइन (ग्रालेखन) ग्रौर ग्रलंकरण को शिथिल कर दिया। मेघों ग्रौर फूल-पत्तियों के चित्रण में विदेशी प्रभाव ने घर कर लिया। ग्रठारहवीं सदी के पिछले चित्रों में यह विदेशी प्रभाव साफ़ लक्षित होता है।

मुगल शैली का प्रभुत्व भारतीय चित्रकला पर १५७० ई० से प्रायः ढाई सौ वर्ष रहा। इस बीच एक-से-एक ग्रभिराम चित्र हज़ारों की संख्या में बने। हिंदू-ईरानी प्रतिभा ग्रकबर के उद्योग से खूब घुली-मिली ग्रौर दोनों के समन्वय की चरम एकता जहाँ-गीर ग्रौर शाहजहाँ के शासनकाल में हुई। ग्रौरंगजेब कलाद्वेषी था, उसने कलाको प्रश्रय नहीं दिया। मुगल काल में कई सौ चित्र-कारों को राजकीय संरक्षा मिली थी। स्वयं ग्रबुलफ़ज़ल ने चित्रकला में निष्णात लगभग सौ कलावन्तों का उल्लेख किया है। उनमें प्रधान सत्रह थे, जिनमें प्रायः सभी के हस्ताक्षर चित्रों पर मिल जाते हैं। १६०० ई० के लगभग प्रस्तुत हस्तलिपि वाक़ियाते वाबरी में बाईस चित्रकारों के हस्ताक्षर हैं। महत्व की बात है कि इन प्रधान चित्रकारों में हिंदू नाम ग्रधिक हैं। ग्रबुल-फ़ज़ल के गिनाये सत्रह कलावन्तों में केवल चार मुसलमान हैं, शेष तेरह हिंदू। मुसलमान हैं (१) मीर सैयदग्रली, (२) ख्वाजा ग्रब्दुस्समद, (३) फ़र्रुखा कल्मक, ग्रौर (४) मिस्कीं, ग्रौर हिंदू हैं (५) दसवंत, (६) बसावन, (७) केसो, (८) लाल, (९) मुकुन्द, (१०) माधो, (११) जगन्नाथ, (१२) महेश, (१३) खेमकरन, (१४) तारा, (१५) साँवला, (१६) हरिबंस, ग्रौर

(१७) राम। इसी प्रकार रज़्मनामा के हस्ताक्षरों में भी २१ नाम हिंदुओं के हैं ७ मुसलमानों के।

चौपायों और पक्षियों के चित्रांकन में मुगल चित्रकारों ने अद्भुत प्रतिभा प्रदर्शित की। मंसूर उस क्षेत्र में सर्वथा बेजोड़ था। कलकत्ते की आर्ट-गैलरी में जहाँगीर के बनवाये मुर्गे के चित्र का सौंदर्य चीनी चित्रकार भी न मूर्त कर सके।

व्यक्ति (प्रतिकृति) चित्रण मुगल कला की, जैसा कहा जा चुका है, विशेषता है। मुगल सम्राटों के अत्यन्त यथार्थ और अवयवआनत चित्र बने। उनको जैसे सदियों पार हम रूबरू देख लेते हैं। इनमें कुछ इंडिया आफ़िस लाइब्रेरी (लन्दन) में रखे दाराशिकोह के उस अल्बम में हैं जिसे उसने बड़े प्यार और कोमलता से अपने हस्ताक्षर के साथ नादिरा बेगम को भेंट किया था। अकबर और उसके मित्रों के अनेक सुन्दर चित्र उपलब्ध हैं। एक में वह सलीम को पास बिठाये बैठा है, दूसरे में एक औरत की फ़रियाद सुन रहा है। इस प्रकार के उसके बीसों चित्र हैं।

शालीन शाहजहाँ की चित्रसंपदा भी बड़ी थी। मुगलकला का सुनहरा युग सम्राट् का शासनकाल था। उसके जिस युग ने ताज खड़ा किया उसी ने मुगल शैली के अभिरामतम चित्र लिखे। पुराने रक्तरंजित चित्रों का स्थान संयत शांत दरबार-परक चित्रों ने लिया। चटख रंग कोमल पड़ गए, सुरुचि सँवरी। उस काल के प्रधान चितेरे थे, चतरमन (कल्यानदास), अनूपछतर (राय अनूप), दाराशिकोह का संरक्षित चितेरा मनोहर, मुहम्मद नादिर समरकन्दी, मीर हाशिम और मुहम्मद फ़कीरुल्ला खां।

उस काल के चित्रकारों के प्रिय आलेख्य लैला-मजनू, शीरीं-खुसरू, कान्ता-कामरूप, और रूपमती-बाज़बहादुर भी थे। रूपमती और बाज़बहादुर मालवे (मांडू) के रानी-राजा थे। दोनों ही कवि थे। रूपमती पहले वेश्या थी जो बाज़बहादुर की प्रिय पत्नी हो गई थी। उनके प्रणय के गीत आज भी गाए जाते हैं।

कला और साहित्य को परस्पर निकट लाने में उनका प्रयत्न असाधारण था।

औरंगज़ेब स्वयं यद्यपि कला की ओर से उदासीन था और उसने स्वयं साक्षात् उसे संरक्षा न दी, पर उसके समय में उस कला का ह्रास न हुआ। दिल्ली और आगरे में, राजपूताना, बुन्देलखंड, पंजाब हिमालय की हिन्दू रियासतों में अनेक अमीर और राजा थे जो अपने-अपने चित्रकार रखते थे। इस कारण मुगल शैली मर न सकी, औरंगज़ेब के बाद भी राजधानी तथा अन्य नगरों में सौ वर्ष से अधिक काल तक उसके अच्छे-अच्छे प्रयास होते रहे। हाँ, इतना अवश्य हुआ कि राजधानी का केन्द्र टूट गया और चित्रकार बिखर गए। फिर भी इससे एक लाभ हुआ कि मुगल शैली प्रांतों में पहुँची और वहाँ उसकी कलमें लगीं। उसके प्रभाव से प्रांतीय शैलियाँ विकसीं। मुगल शैली का विकास भारतीय था, भारतीय चित्रकला को उसके योग ने सोने में सुगन्ध भर दी।

## राजपूत शैली

राजपूत शैली का विकास, कुछ अंश में मुगल शैली की सहायता और प्रभाव से, राजपूताना, बुन्देलखंड और हिमालय पंजाब के रजवाड़ों में हुआ। उस शैली के चित्र सोलहवीं सदी के अंत (वस्तुतः सत्रहवीं सदी के आरंभ) और उन्नीसवीं सदी के बीच बने। उस शैली के चित्र दो प्रकार के हैं, राजपूताना और बुन्देलखंड के, राजस्थानी और पहाड़ी। पहाड़ी के भी दो स्थानीय भाग किए जाते हैं, १. सतलज नदी के पश्चिम के पहाड़ी रियासतों के चित्र और २. उसी नदी के पूरब की पहाड़ी रियासतों के। इनमें पहले प्रकार के चित्रों का आलेखन विशेषतः जम्मू में हुआ और जम्मू के आसपास की सारी रियासतों की चित्रकला जम्मू शैली कहलाई। सतलज से पूरब के रियासती चित्रों का नाम कांगड़ा पड़ा जिसकी परिधि में जलन्धर की

निकटवर्ती रियासतें आईं। गढ़वाल की स्थानीय शैली का उदय कांगड़ा कलम से ही अठारहवीं सदी के अन्त में हुआ। लाहौर और अमृतसर के चित्र भी इसी कलम के भेद हैं।

राजपूत शैली मूल रूप से देशी है पर निःसंदेह उस पर मुगल कलम का गहरा प्रभाव पड़ा है, विशेषतः चित्रगत वास्तु और राजस्थानी की वेशभूषा पर। कुछ राजस्थानी चित्रों के ऊपर तो मुगल प्रभाव इतना है कि देखनेवाला भ्रम में पड़ जाता है। रंगों के प्रयोग, भूमि की तैयारी, और विषयों के चयन में इस शैली के चित्र देशी परंपरा का प्रयोग करते हैं। जयपुर, हैदराबाद और बीजापुर की शैलियों में भी मुगल शैली की प्रतिकृति-कारिता का प्राचुर्य है। वैसे राजपूत और मुगल शैलियों में अन्तर भी कुछ कम नहीं। मुगल शैली प्रतिकृतिपरक और व्यक्ति-प्रधान है, राजपूत शैली, विशेषतः रागमाला और पहाड़ी विषय-प्रधान है। राजपूत शैली मध्यकालीन हिंदी साहित्य की प्रत्येक प्रवृत्ति को चित्रित करती है। उसके चित्र बिना भारतीय महा-काव्यों, पुराणों, रामायण, महाभारत, श्रीमद्भागवत, संगीत-शास्त्र, कामसूत्र और रीतिकाव्य जाने भले प्रकार नहीं समझे जा सकते। उनमें कला और साहित्यबोध का अद्भुत संयोग प्रस्तुत है। रागिनी चित्रण तो कला और साहित्य की गंगा-जमुना में सरस्वती का संगम कर त्रिवेणी का संयोग उपस्थित कर देता है। मुगल चित्रण, जैसा कहा जा चुका है, लघुचित्रण है, राजपूत शैली भित्तिचित्रण की परंपरा में है, भित्तिचित्रण का लघुकृत रूप। मुगल चित्रों की काया बँधी हुई है, पहाड़ी चित्रों की प्रवहमान, छंदयुक्त। मुगल चित्रों का छायातप राजपूत शैली के चित्रों में नहीं मिलता। रात-दिन के प्रकाश को रंगों के उतार-चढ़ाव से उनमें नहीं व्यक्त किया जाता, मशाल, दीपक आदि से उसका बोध कर दिया जाता है। उस शैली के चित्र प्रधानतः मुगल चित्रों के पीछे के होते हुए भी मध्यकालीन आभास उत्पन्न करते हैं, मुगल चित्र सावधि।

रागमाला चित्रों में संगीत खुल पड़ा है। संसार के किसी देश की कला में साहित्य, संगीत और चित्रण का इतना घना सम्बन्ध नहीं हुआ। इनमें रागों और रागिनियों को प्रवहमान अवयव दिए गए हैं, कल्पना के अद्‌भुत चमत्कार द्वारा नाद को आकार देने का सफल प्रयास हुआ है। छः रागों और तीस रागिनियों के पृथक्-पृथक् अथवा एकत्र ग्रंथचित्रण के रूप में इनका अंकन हुआ है। किस वातावरण में कौन राग या रागिनी गाई जाती है यह उनमें आलिखित होता है। साथ ही अनेक चित्रों पर रीतिकालीन कवियों की तद्‌विषयक कविता भी लिखी होती है, अनेक बार रागों के लक्षण भी लिखे होते हैं। काश कि मुगल लिपिचित्रण को भाँति रागमालाओं के चितेरे भी अपने लेखन को अपनी कृतियों की ही भाँति प्राण दे पाते !

जम्मू शैली के चित्रों पर ठाकरी अक्षरों के लेख होते हैं। इन चित्रों में रामलीला, रासलीला के अतिरिक्त रागमालाएँ भी राजस्थानी से भिन्न रीति से लिखी गई हैं। अलंकारशास्त्रों के अनुकूल नायक-नायिका भेद भी इनमें चित्रित हैं जो रागिनी चित्रों की भाँति साहित्य को चित्रकला के निकट खींच लाते हैं। इस शैली के चित्र सत्रहवीं-अठारहवीं सदी में बने, प्रतिकृतिपरक, अधिकतर पिछले काल।

कांगड़ा और उसकी गढ़वाली तथा सिक्ख कलमें अठारहवीं सदी के अन्त और उन्नीसवीं के आरंभ में लगीं। कांगड़ा कलम का विकास और प्रसार कांगड़ा के अंतिम प्रबल राजा संसारचन्द (१७७४–१८२३) के संरक्षण में हुआ। राजपूत शैली की यह तीसरी और पिछली परम्परा थी। इस शैली में रागिनी चित्रण नहीं हुआ। इसके प्रिय विषय हैं कृष्ण लीला, नायक-नायिका भेद, शाक्त रूपायन, रामायण-महाभारत की कथाएँ। इन चित्रों के लेख सदा नागरी में लिखे होते हैं, अधिकतर जाने हुए हिंदी कवियों के, विशेषतः केशवदास के। इनमें प्रासादों और पहाड़ी उद्यानों का आलेखन भले प्रकार रहता है, जहाँ-तहाँ हिमालय के

हिमावृत शिखरों और देवदारों का भी उनमें अंकन होता है। नल-दमयन्ती कथा की सीरिज़-की-सीरिज़ उनमें चित्रित मिलती है। इन चित्रों के रंग शांत और शीतलता का आभास उत्पन्न करते हैं। इनकी रेखाओं में बड़ी तरलता है, विशेषकर परिधानों की रेखाओं में। राजस्थानी रागमालाओं की भाँति वे पुंस्त्व की नहीं नारीत्व की धनी हैं। ये भावप्रधान हैं, आवेगप्रधान नहीं।

अठारहवीं सदी के अंत में गढ़वाली कलम का उदय हुआ। शाहज़ादा सलीम के साथ औरंगज़ेब के भय से भाग कर एक चित्रकार परिवार गढ़वाल में बस गया था। उसी कुल की पाँचवीं पीढ़ी में इस कलम का विशेष धनी प्रख्यातनामा चित्रकार मोला-राम (१७६०–१८३३) हुआ। यह कलम काँगड़ा शैली के निकटतम है। पंजाब को सिक्ख कलम भी काँगड़ा की ही एक शाख है जो साधारणतः १७७५ और १८५० के बीच फली फूली। सिक्ख संप्रदाय में पुराण और मूर्तियाँ न होने के कारण वह कलम प्रतिकृतिप्रधान हो गई। इससे उसमें मुगल शैली की ही भाँति गुरुओं आदि का, अकेले अथवा दरबार में, व्यक्तिपरक चित्रण हुआ, वैयक्तिक अभिप्राय पर विशेष बल डाला गया।

## दकनी शैली

दकनी शैलो भी मुगल कलम से प्रभावित प्रान्तीय शैली है। यह भी अधिकतर प्रतिकृतिप्रधान है। इस शैली के भी सैकड़ों चित्र आज उपलब्ध हैं जो दकन के नवाबों और सुल्तानों, अमीर-उमरों के हैं। इस कलम के दो विशिष्ट केन्द्र बीजापुर और हैदराबाद (दकन) थे। उनके राजकुलों की संरक्षा में ही ये अधिक-तर फले फूले।

## वर्त्तमान शैली

वर्तमान काल में तीन प्रकार की शैलियाँ चलीं, यूरोपीय कला से प्रभावित, पुनर्जागृतिक और प्रगतिशील। वैसे यूरोपीय कला

का प्रभाव तो मुगल काल में ही भारतीय चित्रण पर पड़ने लगा था। पर वह देशी प्रतिभा को उस काल इतना दूषित न कर सका। पर उन्नीसवीं सदी के मध्य उसका विशेष सत्यानाशी प्रभाव इस देश की कला पर पड़ा। त्रावणकोर के राजा रवि-वर्मा उस दिशा में विशेष सयत्न हुए। उन्होंने यूरोपीय घिनौनी शैली का ऐसा उपयोग किया कि सारा युग उसके प्रभाव से दूषित हो गया। हिंदू देवी-देवताओं का चित्रण भावहीन निःस्वाद रूप में प्रारंभ हुआ। उन चित्रों से बाज़ार भर गए। देश में जो कला सम्बन्धी सुरुचि का सर्वथा अभाव हो गया था उससे घर-घर उन चित्रों का मारक प्रचार हुआ। मदुरा के रामस्वामी नायडू के चित्र भी उसी परंपरा के हैं।

हैवेल और अवनीन्द्रनाथ ठाकुर के नेतृत्व में कला के क्षेत्र में पुनर्जागरण का एक राष्ट्रीय आंदोलन इस सदी के आरंभ में चला। अपनी प्राचीन कला संपदा को स्वदेशी प्रतीकों के आधार से फिर से प्राप्त करने का प्रयास हुआ। अपने देश की कला के प्रति जनता का विश्वास जागा। अजन्ता के प्रति लोगों की श्रद्धा बढ़ी। ठाकुर के अनेक शिष्यों ने अजन्ता के दरीगृहों के चित्रों की नकल की। स्वयं अवनीन्द्रनाथ अच्छे चित्रकार थे और अजन्ता तथा मुगल शैली में उन्होंने कुछ सुन्दर चित्र बनाए। जापानी कलम का भी उन पर प्रभाव पड़ा। परन्तु उनकी कला से कहीं ऊँचा उनका आंदोलन था, जो देशव्यापी हुआ। अजन्ता शैली का विशेष प्रभाव बंगाल के चित्रकारों पर पड़ा। बंगाल की कलम ही अजन्तावर्ती हो गई। ठाकुर के अनेक शिष्य सुन्दर चित्रकार हुए जिनमें नन्दलाल बोस का स्थान विशेष ऊँचा है।

इन्हीं दिनों बंबई के चित्रकारों पर यूरोपीय कलम का अत्यन्त हेय प्रभाव पड़ता जा रहा था। इतने दूरगामी अजन्ता आंदोलन का भी उन पर कोई प्रभाव न पड़ा और वे अपने चित्रों में कोई सिद्धान्त अथवा आदर्श न उतार सके। इससे उनमें न आदर्श से प्रेरणा मिली न आस्था से बल मिला। उनको यूरोपीय कला

आंदोलनों का भी लाभ न हुआ। वे उपेक्षणीय घटिया किस्म की यूरोपीय शैली के चित्रों से ऊपर न उठ सके। नकल, प्रकट है, महान् कला नहीं प्रस्तुत कर सकती।

पर बंगाल में शीघ्र अजन्ता शैली के अतिरिक्त भी एक प्रबल ग्रामपरक चित्रशैली का आरंभ हुआ। जामिनीराय ने लोकचित्रों का बंगाल में आरंभ किया। सदा से दीवारों पर अच्छे-बुरे चित्र बनते आए थे, उनमें नई ताज़गी डाल कर उस चितेरे ने उन्हें कनवस पर उतार लिया। लोकचित्रों ने तूलिका को नया बल दिया। इससे यथार्थ की ओर भी लोगों का ध्यान गया और देश की जनता की वास्तविक स्थिति के भी समवेदना-पूर्ण अंकन हुए। तैल चित्रों का प्रादुर्भाव अबतक हो चुका था। यूरोपीय शैली का वह प्रभाव इस देश की कलम पर पड़ा।

सर्वथा आधुनिक यूरोपीय टेकनीक के अनुसार प्रभाववादी चित्र इस देश में पहले-पहल अवनीन्द्रनाथ ठाकुर के भाई गगनेन्द्र-नाथ ठाकुर ने बनाये। परन्तु उस काल अजन्ता की आदर्शवादी शैली के आगे वह टिक न सकी। उसका फिर भी बंगाल से कहीं अधिक विकास बम्बई के नये चित्रकारों ने किया। यूरोप से सीधा संपर्क भारत का कला के क्षेत्र में भी कब का हो चुका था। अनेक कलाकार पेरिस आदि में अभ्यास भी कर चुके थे। वे फ्रांस की अनेक नई प्रवृत्तियों के सम्पर्क में आए और स्वदेश लौटकर इस देश में उन्होंने अपने प्रयोग आरम्भ किए। एक नई दिशा उन्हें मिली। गाँवों के चित्र नई टेकनीक से, नई आस्था और समवेदना से वे बनाने लगे। सामाजिक यथार्थवाद का एक नया जनपरक प्रगतिशील संसार भारतीय चित्रभूमि पर उतर चला। इस प्रकार के चित्रकारों में प्रधान अमृत शेरगिल थी। उसका देहान्त अल्पायु में हो गया जिससे इस प्रकार की उद्देश्य-परक कलाकारिता को भारी क्षति पहुँची।

## भारतीय चित्रकला की भावभूमि

भारतीय चित्रकला की भावभूमि अत्यन्त प्राचीन काल से ही आधिदैविक-आध्यात्मिक थी। सही मांसल, भौतिक, यौन तक आदर्श यहाँ की कला में चले परंतु सदा उनका संपर्क भाव और आस्था से था। इसीसे यहाँ कला केवल कला के लिए प्रश्रय न पा सकी, वह उद्देश्यपरक बनी रही। ध्यान-योग का उसमें बड़ा महत्व माना गया। ध्यान-योग से विरहित चित्रकार को उचित ही शिथिलसमाधि की संज्ञा मिली। कालिदास ने इस कला-संबंधी दोष की ओर अपने नाटक मालविकाग्निमित्र[1] में सार्थक संकेत किया है। राजा ने मालविका का हाल का बना चित्र देखा है और उसके अंगांग के सौन्दर्य से इतना प्रभावित होता है कि उस चित्र को वह अतिरंजित मानता है, पर जब मालविका को प्रत्यक्ष देखता है तब उसकी बिलकुल दूसरी ही स्थिति हो जाती है। उसे लगता है कि चित्रकार मालविका के सौन्दर्य के साथ न्याय नहीं कर सका था। उसका वह दर्शन न कर सका क्योंकि निश्चय वह शिथिलसमाधि था, समाधि का शिथिल था। इस शिथिलसमाधिदो का निरूपण शुक्रनीति[2] ने स्पष्टतः किया है। उसका अनुशासन है कि कलाकार आलेख्य के प्रति उसे लिखने के पहले समाधिस्थ हो। जब समाधि में उसका वह सांगोपांग दर्शन कर लेगा, जब आलेख्य प्रयत्क्षमूर्त उसकी समाधि में उठ आएगा, तभी वह अपने विषय के अंकन में सफल हो सकेगा वरना वह शिथिलसमाधि हो जाएगा और उसका अंकन असफल।

इस प्रकार भारत का चित्रण भावप्रधान रहा है। उसके सिद्धान्तग्रंथों में इस दिशा में निरन्तर अभिमत निरूपित हुआ है। यही कारण है कि उसके अंकन के विषय सर्वदा ताज़े बने

---

१ अंक २, श्लोक २—शिथिलसमाधिदोष।

२ ४, ४, १४७-५०.

रहे। अभिज्ञानशाकुन्तल का राजा अपने विरह के अवसाद के ऊपर उठने के लिए, अपनी चुटीली रिक्तता भरने के लिए, शकुन्तला के चित्र बनाता है। एक स्थल पर जो वह दुष्यंत से अपने तूलिकागत चित्र की व्याख्या करता है वह इस आदर्श भावपद्धति को भले प्रकार व्यक्त करता है। वह कहता है : अभी हंसमिथुनलांछित सिकतातट लिखना है, मालिनी की धारा लिखनी है, धारा हिमालय की उन श्रेणियों के बीच बहती, जिन पर मृग बैठे हों, और शाखाओं से वल्कल लटकाए ऐसा वृक्ष अंकित करना है जिसके नीचे बैठी मृगी अपने मृग की सींग से अपना वाम नयन खुजा रही हो।

अद्‌भुत योजना है, भावप्रधान। गार्हस्थ और भावबन्धन प्रेम का अंकन इससे सुन्दर नहीं हो सकता। मृग की सींग उसकी रक्षा-आक्रमण का साधन है, उसके शरीर का कठोरतम, भयावह क्रूरतम अंग। और मृगी का नयन उसके शरीर का मर्म है। पर उसे वह मृग की सींग की नोक पर मात्र रखती ही नहीं, उससे वह उसे खुजाती है, घर्षित करती है। परस्पर विश्वास की, प्रणयजनित आस्था की, यह अभिराम चरम परिणति है। और यह भावप्रधान बोध चित्रकार के दर्शन में आ गया है। उसका अंकन भला कितना आर्द्र, कितना तरल, कितना छंदप्रधान, कितना कोमल होगा, सत्य, शिवं, सुन्दरम्!

●

अध्याय चार

# ● ● संगीत

संगीत गायन, नर्तन और वादन के समाहार को कहते हैं। संगीत साथ ही एक शास्त्रीय पद्धति की ओर संकेत करता है। उस पद्धति का चरम वैज्ञानिक विकास भारत के लम्बे इतिहास में हुआ। वस्तुत: संगीत कला इस देश में विज्ञान के पद पर अधिष्ठित हुई।

वैसे उल्लसित होकर गा उठना तो वर्बर प्रसन्नता का भी परिणाम हो सकता है और संगीत का आरम्भ भी उसी आधार से हुआ, परन्तु चिंतन का सम्यक् स्पर्श मिलते ही बड़े प्राचीन काल में ही उसमें एक पद्धति का उदय होने लगा और धीरे-धीरे गीत, नृत्य और वाद्य के संयोग ने उस पद्धति को कला का रूप दिया। उल्लास में गा उठना गान निश्चय उत्पन्न करता है, पर कला नहीं। कला सचेत प्रयास और गुनी हुई साधना का पद्धतिपूर्ण रूप है, वह अनायास आचरित नहीं होती। कला वह वस्तु है जो न केवल उल्लास के अवसर वरन् आवेशों की साम्य-स्थिति में भी निदर्शित की जा सकती है। स्थितिविशेष को विशिष्ट लय-सुर के साथ नादादि के माध्यम से वह बार-बार सिरज सकती है, जैसे बार-बार एक राग एक ही पद्धति से गाया

जा सकता है। इससे उल्लासजनित व्यभिचार और अनन्यता का शमन हो साधना की इष्ट में अव्यभिचार और अनन्यता सिद्ध होती है। इसी प्रकार एक ही शैली से नाद, बिम्ब, अनुकार्य, आदि की बार-बार अनुकृति कला है। इस रूप में संगीत कला है, और उसकी शास्त्रीयता उसे कला और विज्ञान का पद प्रदान करती है।

यह शास्त्रीय पद्धति कब इस देश में प्रारम्भ हुई, यह कह सकना तो कठिन है, पर जिन गन्धर्वों ने संगीत को आराध्य मान-कर पेशे के रूप में विकसित किया उनका उल्लेख ऋग्वेद में भी आया है। वेद की ऋचायें तो बराबर गायी ही जाती थीं, और विशेष पद्धति से, जिसमें भूल अक्षम्य अपराध था। ऋग्वेद की ऋचाओं से सामवेद गानवेद बनकर प्रस्तुत हुआ। उद्‌गातृ उसका विशिष्ट गायक बना। कुछ काल बाद गन्धर्व वेद का भी प्रणयन हुआ जिसमें पहली शास्त्रीय पद्धति निरूपित हुई। ईसवी सदियों के आरम्भ में भरत ने नाट्यशास्त्र में संगीत का अभिनय से इतना अविच्छिन्न सम्बन्ध होने के कारण उसकी विशद् व्याख्या की। काव्यों में अनेकानेक बार संगीत का उल्लेख हुआ।

कालिदास ने अपने मालविकाग्निमित्र नाटक के पहले और दूसरे अंकों में संगीत और अभिनय के कला-सिद्धान्त पर विस्तृत कथोपकथन किये हैं।[१] तब तक (पाँचवीं सदी ईसवी) भारतीय शास्त्रीय संगीत का पर्याप्त विकास हो चुका था। 'मूर्च्छना', 'राग' आदि की ओर महाकवि ने संकेत किया है[२], साथ ही वीणा (अन्यान्य पर्याय, परिवादिनी, वल्लकी, तन्त्री, सुतन्त्री), वेणु (वंशकृत्य, वंशी,) मृदंग (अन्यान्य पद्धति पुष्कर, मुरज),

---

[१] अंक २.

[२] वही, अंक १ और २, उ० मे०, २३; देखिए लेखक का इण्डिया इन कालिदास, पृ० २२५-२६.

तूर्य (तुरही), शंख, दुन्दुभी (नगाड़ा) और घंटा का उल्लेख किया है।[1]

परन्तु आश्चर्य की बात है कि संगीतशास्त्रों का प्रणयन प्रायः पिछले ही काल में हुआ है। लगता है कि संगीत के शास्त्रीय रूप का सांगोपांग विकास या कम-से-कम उसकी शास्त्रीय विवेचना हिन्दू मध्य युग में ही हुई। गन्धर्ववेद और नाट्यशास्त्र आदि तो निःसन्देह पहले बन चुके थे। परन्तु शुद्ध गायन की पुस्तकें ग्यारहवीं सदी के पश्चात् ही रची गईं। लोचन कवि की रागतरंगिणी सम्भवतः बारहवीं सदी में लिखी गई और शार्ङ्गदेव का संगीतरत्नाकर तेरहवीं सदी में। फिर रागमाला, रागमंजरी और सद्रागचन्द्रोदय प्रस्तुत हुए। सोमनाथ का रागविबोध १६१० में रचा गया, दामोदर मिश्र का संगीत-दर्पण १६२५ में, अहोबल का संगीतपारिजात और पीछे। अनूपविलास, अनूपांकुश और अनूपतन्त्र भवभट्ट ने सत्रहवीं सदी के प्रायः अन्त में रचे। अट्ठारहवीं-उन्नीसवीं सदी के अवध में नवाबों की संरक्षा में मुहम्मद रज़ा ने नग़मएअसफ़ी लिखा। इसीमें शुद्ध बिलावल की व्याख्या हुई जो कभी का हिन्दुस्तानी संगीत का आधार बन चुका था। उन्हीं दिनों जयपुर के महाराज प्रतापसिंह ने संगीत के सारे विशेषज्ञों को एत्रत कर उनकी सहायता से संगीतसार का प्रणयन किया। कृष्णानन्द व्यास ने उन्नीसवीं सदी में संगीतकल्पद्रुम लिखा। उस सदी के अन्त में नवाब रामपुर का दरबार संगीत के आधुनिक विकास में बड़ा प्रयत्नशील हुआ। स्वयं साहबजादा नवाब सआदतअली खाँ ने उर्दू में असाधारण संगीत ग्रन्थ रचना शुरू किया जो उनकी असामयिक मृत्यु के कारण अपूर्ण रह गया। उस दिशा में उर्दू का मारिफ़ाते नग़मात अच्छा प्रयास है। भातखण्डे ने इधर प्राचीन भारतीय संगीत के पुनरुद्धार का बीड़ा उठाया और अनेक ग्रन्थ

[1] वही, पृ० २२७.

लिखकर संगीत की मुरझाती पौध को सींच कर हरा किया। अतिया बेगम ने भी उस दिशा में अच्छा प्रयास किया है।

## शास्त्रीय पद्धति

गीत राग, ताल, स्वर आदि से गाये जाते हैं। भरत मुनि के अनुसार राग छः हैं—भैरव, कौशिक, हिन्दोल, दीपक, सुराग और मेघ। दूसरी गणना के अनुसार इन रागों में कौशिक और सुराग के स्थान पर श्री और मालकोश गिने जाते हैं। प्रत्येक राग की पाँच या छः रागिनियाँ होती हैं। इनके अनेक पुत्र और उन पुत्रों की अपनी भार्याएँ होती हैं। रागिनियाँ रागों से किंचित् कोमल होती हैं। दिन और रात आठ भागों में बाँट लिये गये हैं और प्रत्येक भाग में उपयुक्त राग-रागिनियाँ गाई जाती हैं।

संगीत के सात अंग (सप्तांग) होते हैं। राग उनमें से एक है, शेष छह स्वर, ताल, वाद्य, नृत्य, भाव और अर्थ हैं। इनमें नृत्य तो नाच से सम्बन्ध रखता ही है, भाव नृत्य, गीत और अभिनय तीनों के भंग और स्थितियाँ व्यक्त करता है। अर्थ का संपर्क राग और ताल से है।

स्वर सात होते हैं—षड्ज, ऋषभ, गान्धार, मध्यम, पंचम धैवत और निषाद। इन स्वरों के सात संकेत हैं—सा रे ग म प ध नी। प्रत्येक स्वर पशु अथवा पक्षी के स्वर से लिया गया है, जैसे षड्ज मयूर से (षड्जसंवादिनी केका)[१], ऋषभ पपीहा से, गान्धार मध्यम सारस से, पंचम कोकिल से, धैवत अश्व से, और निषाद गज से। स्वर वीणा आदि तारवाले वाद्यों पर साधे जाते हैं।

ताल नाद के कालमान हैं। उनकी अनेक मात्राएँ होती हैं। उसमें तीन प्रकार की लय होती है—द्रुत, मध्य और विलम्बित (द्रुतो मध्यो विलम्बितश्च लयः, स त्रिविधो यतः)। ताल के वाद्य पखावज, पुष्कर, तबला आदि हैं।

---

[१] रघु०, १, ३९.

राग गाने की अधिक शैलियाँ हैं। सबसे कठिन और प्राचीन ध्रुपद है। यह बहुत भारी भी है और बड़े अभ्यास से गाया भी जाता है। हर ताल पर अधिकार रखनेवाला ही इसे गा सकता है। यह विलम्बित और मध्य लय में ही गाया जाता है। ग्वालियर का राजा मानसिंह (१४८६-१५१६) इसका बड़ा जानकार था। बैजूबावरा और तानसेन ध्रुपद के प्रधान साधक थे। होरी गाना भी कठिन है। कृष्ण और गोपियों के गीत वसन्त और होली के अवसर पर इस शैली में गाये जाते हैं। इसके ताल (धमार के) बड़े पेचीदे होते हैं। खयाल भी सभी रागों का होता है। ध्रुपद के विपरीत इसकी लय झटझट बदलती जाती है। इसका निर्माण पंद्रहवीं सदी में जौनपुर के सुलतान हुसेनशाह शर्की ने किया, पर इसे माधुर्य की चोटी पर पहुँचाया दिल्ली के मुहम्मशाह के दरबारी गायक सदारंग ने। हुसेनशाह ने जौनपुरी, हुसेन कान्हरा, हुसेन टोडी राग आदि भी प्रचलित किये। टप्पा पहले पंजाब के पीलवानों का गाना था। हीर-राँझा की कथा वे उसीमें गाया करते थे। अवध के नवाब आसफ़ुद्दौला के दरबारी गायक शोरी ने उसमें प्राण फूंककर उसे विशेष गौरव दिया। बाज़खानी मालवा के सुलतान बाज़बहादुर की चलायी हुई है। तराना, क़ौल, नक्श, गुल आदि अमीर खुसरू ने प्रचलित किये। क़ौल क़व्वाली ताल से गाया जाता था, उसका विषय अधिकतर तसव्वुफ़ होता था। भजन साधु आदि गाया करते थे, पद और कीर्तन भी। इनके बनानेवाले मीरा, सूरदास, तुलसीदास, भिखारीदास, और इन सबसे पहले कबीर दास थे। ठुमरी को इस देश में बड़े प्यार से गाया जाता है। इसका आरम्भ भी मुसलमानों के योग से ही हुआ। वैसे ही ग़ज़ल, धुन और लावनी का भी। इनको प्रायः सभी गाते हैं। ध्रुपद और धमार चुने हुए उस्तादों तक ही सीमित हैं। प्रकट है कि अनेक राग और गाने के प्रकार मुसलमानों के अध्यवसाय से प्रचलित हुए। प्रायः सभी मुसलमान दरबारों में संगीत और

संगीतज्ञों का आदर हुआ। अनेकानेक हिन्दू-मुसलमान गीतकार मुसलमान दरबारों की संरक्षा में फले फूले। अनेक मुसलमान उस्तादों और उनके संरक्षकों ने संगीत में नये अनुसन्धान कर रागों और तालों की संख्या और माधुर्य में उन्नति की, फ़ारसी आदि के रागों का यहाँ प्रचलन किया और इस देश को अनेक वाद्य दिये। कुछ लोक शैलियों को विकसित कर उन्होंने उन्हें दरबारी गौरव दिया।

### वाद्य

वादन गीत और नृत्य का नित्य सहचर है। आज इस देश में बड़ी संख्या में वाद्य प्रचलित हैं। इनमें से अनेक अति प्राचीन काल से चले आते हैं, अनेक पिछले काल में बने। प्राचीनतम वाद्य सम्भवतः बाँसुरी है, बर्बर मानव की खोजी बनायी हुई। मनुष्य वनों में घूमता बाँस के सुराखों का स्पर्श कर बहती वायु द्वारा प्रसारित मधुर नाद सुनता रहा और एक दिन उसका रहस्य पा उसने बाँसुरी प्रस्तुत कर दी। नगाड़ा भी उसी प्रकार प्राचीन वाद्य है और सम्भवतः तुरही (तुर्य) भी, शंख और घण्टा तो निश्चय। परंतु इनमें केवल एक बाँसुरी है जिसका ललित गायन से संपर्क है।

आज के अनेक उपलब्ध वाद्यों को हम आज की ही भाषा में चार भागों में बाँट सकते हैं—तत, बेतात, घन और सेखर। तत प्रकार के वाद्य पीतल, लोहे के तार या रेशमी या सूती डोरे से बँधे होते हैं जिन्हें लकड़ी, हाथीदाँत या मिज़राब से बजाते हैं, जैसे वीणा, सरोद, तम्बूरा आदि। बेतात भी तार ही वाले बाजे हैं पर उनमें तार के नीचे चमड़ा लगा होता है और उन्हें धनु से बजाते हैं। सारंगी, ताँस, दिलरुबा आदि इसी वर्ग के हैं। घन ढोल के से बाजे हैं जैसे पखावज, तबला, नगाड़ा। सेखर मुँह से फूँक कर बजाये जाते हैं, जैसे बाँसुरी, नफ़ीरी, शहनाई।

निम्नलिखित बाजे तारवाले (तंत्री) होते हैं और उँगलियों

से बजाये जाते हैं। इनमें रुद्रवीणा बहुत प्राचीन है। इसका बजाना भी बड़ा कठिन है और इसपर अधिकार करने में समूचा जीवन लग जाता है। यह बड़ा मूल्यवान होता है। हाथीदाँत, सोना और चाँदी इसमें जड़े होते हैं। पर्याप्त पेचीदा बाजा है। सरस्वती वीणा प्रायः उसी प्रकार की होती है। मूर्तियों में सरस्वती इसे ही धारण करती हैं। यह दक्षिण भारत में अधिक चलती है। दोनों का सख्य पखावज से है। सितार (सेह, तीन, तार) अमीर खुसरू का बनाया है। इसका साथी तबला है। एकतारा, जैसा नाम से प्रकट है, एक तार का होता है। अधिकतर साधु-मँगते इसे बजाकर मधुकरी माँगते हैं। तम्बूरा नारद का वाद्य कहा जाता है। इसमें चार तार होते हैं। यह साज़ का बाजा है।

धनुष के योग से बजाये जानेवाले वाद्य ये हैं: खम्माच लकड़ी का बना होता है और निचले भाग में तनिक चमड़ा लगा होता है। ऊपरी भाग सितार का-सा और निचला सारंगी-सा होता है। ताँस की शक्ल बड़ी सुन्दर होती है, मयूर की-सी। उसीके रंग में यह रँगा भी होता है। दिलरुबा ताँस ही है पर उसका सिर मोर का-सा नहीं होता। सारंगी बड़ा मधुर वाद्य है, एक मुसलमान हकीम द्वारा निर्मित। इसके निचले भाग पर चमड़ा चढ़ा रहता है। दो दल तार नीचे-ऊपर कसे रहते हैं। ऊपर के तारों को धनुष से बजाते हैं, नीचे के तारों को उँगली से। साज़िन्दा सिक्ख गुरु अमरदास (अमृतसर के बसनेवाले) का निर्माण है, प्रायः अंडाकार लकड़ी का बना, नीचे से खोखला, ऊपर लकड़ी के टुकड़े पर कसे तार। दोतारा दो तारों का होता है, मारवाड़ में ख़ूब चलता है। किसान बजाते हैं। कुछ कठिन तन्त्रीवाद्य रुबाब और सरोद हैं। रुबाब का निर्माण संभवतः सिकन्दर ज़ुलकरनैन ने किया। इसमें नीचे सात ऊपर चार तार होते हैं और यह तिकोनी लकड़ी से बजाया जाता है। सरोद भी रुबाब की ही भाँति होता है पर उसकी गरदन हुक-सी झुकी होती है।

सरोद संभवतः स्वरोदय का अपभ्रंश है। खुरबीन दिल्ली के शाहज़ादा काले साहब की बनायी मानते हैं। यह सितार से बहुत मिलती है पर इसके तार रुबाब के-से होते हैं। सामने लोहे की पत्तर चढ़ी होती है। सुरसिंगार भी एक प्रकार का रुबाव ही है पर इसका निचला भाग चौड़ा और अंडाकार होता है। इसे बजाना कठिन है। तरब को भूमि पर डाल कर अर्धचन्द्राकार लकड़ी से वजाते हैं।

नीचे लिखे बाजे मुंह से फूंककर वजाये जाते हैं। इनमें सबसे प्राचीन कृष्ण की मुरली का उल्लेख बाँसुरी (वंशी) के नाम से हो चुका है। हिन्दी साहित्य इस मुरली के नाद से प्रतिध्वनित है। इसे डफ के साथ बजाते हैं। अलगोज़ा बाँस और काली लकड़ी (आबनूस) का बनता है। नीचे कुछ अधिक चौड़ा होता है। इसमें सात छेद बराबर दूरी पर होते हैं। इसका जोड़ा भी होता है। नई का निर्माण उमर ऐयार ने किया। शक्ल इसकी बन्दूक की नली-सी होती है। शंख का उल्लेख हो चुका है। तुर्य (तुरही) का भी, जो समूचा पीतल का होता है, डफ के साथ बजाया जाता है। सिंघा हिरन की सींग का होता है, और मीर तांबे का। इसका स्वर बहुत तेज़ होता है, कर्णकटु। पुंगी (बीन, वेणु) सँपेरे बजाते हैं। सर्प बड़ी मस्ती से इसे सुनते हैं। मुचंग चारों का समूह होता है जिसे मुंह के नीचे रखकर अलग से ही बोलकर बजाते हैं। स्वर इसका मधुर होता है।

ढोल, डफ आदि के भी अनेक भेद होते हैं। ये ताल के वाद्य हैं। पखावज के तालों की अनन्त संख्या है। ताल निरन्तर बदलते हुए इसे दिनों बजाया जा सकता है। अपने प्रकार के वाद्यों में यह सबसे कठिन है। ध्रुपद और होरी और नृत्य तथा वीणा के साथ इसे बजाते हैं। यह पीपे की शक्ल का लकड़ी का बना होता है, दोनों ओर चमड़ा चढ़ा होता है। चमड़े रस्सियों से खिंचे होते हैं। तवला बायन का निर्माण संभवतः सुधार खाँ धारी ने किया। बड़ा लोकप्रिय होता है। दो भागों में अलग-

अलग होता है, ज़मीन पर रखकर बजाते हैं। मजीरा दो धातु के कटोरे रस्सी से जुड़े होते हैं और तबले के साथ बजाये जाते हैं, दोनों हाथों से परस्पर टकराकर। घूमस और चाँप रोशन-चौकी में बजते हैं, मिट्टी के तबलों की तरह, पर सामने रस्सी के सहारे गले से लटकाकर। नक्कारा (नगाड़ा) नौबत में बजता है। दो होते हैं, एक छोटा दूसरा बड़ा, जील और नई। ये लकड़ी से ठोक कर बजाये जाते हैं और चमड़े मढ़े धातु के बने होते हैं। ढोलक पखावज की शक्ल का पर कुछ छोटा होता है। उसे ज़मीन पर रखकर या गले से लटकाकर बजाते हैं। मर्फ़ा और ताशा दोनों हाथ की लकड़ियों से शादियों में बजाये जाते हैं। झांझ में बजनेवाले धातु के अनेक छोटे-छोटे तवे लगे होते हैं। डफ लकड़ी का होता है, चमड़ा मढ़ा-चढ़ाया, और बाँसुरी के साथ बजाया जाता है। डमरू बन्दर नचानेवाले बजाते हैं। यह शिव का बाजा कहलाता है। खंजड़ी नगाड़े की शक्ल की छोटी-सी होती है, दोनों हाथों से बजायी जाती है। डफरा खंजड़ी से बड़ा होता है, उसी शक्ल के करताल दोनों हाथों के अलग-अलग होते हैं जिनमें घंटियाँ होती हैं और भजन गाते समय बजाये जाते हैं। जलतरंग पानी में सोलह छोटे-बड़े चीनी प्यालों से बजता है।

इन वाद्यों के अतिरिक्त कुछ वाद्य सदा एक साथ बजाये जाते हैं, यूरोपीय आर्केस्ट्रा की भाँति, अधिकतर संगीत-रचना (कन्सर्ट) में। रोशनचौकी में चार बजानेवाले होते हैं। दो उन्स (वंशी की शक्ल के बाजे) बजानेवाले, तीसरा चाँप बजानेवाला, चौथा जो हिला-हिलाकर झुनझुना बजाता है। शहनाई का निर्माण हकीम बू अली सेनाई ने किया। यह भी उन्स की-सी ही होती है। मंदिर आदि में कई आदमी मिलकर इस बजाते हैं। नौबत में नौ बजानेवाले होते हैं, दो शहनाई (बाँसुरीवाले, शहनाइची), दो नक्कारची (नगाड़ेवाले), एक झांझवाला, एक करनइची (करनईवाला), एक दमामावाला, एक बरीदार

(नगाड़े गरम करने और हुक्का भरनेवाला), और एक जमादार (नेता या बैंडमास्टर)। नौबत राजद्वार पर बजा करती थी।

यह तो संक्षेप में वाद्यों का वर्णन किया गया है वरना उनकी संख्या इनसे कहीं अधिक है। जन्म से लेकर मृत्यु तक बजने वाले बाजों की गणना भला त्योहारप्रिय देश में हो कहाँ तक सकती है ?

## नृत्य

नृत्य सर्वत्र आदि मानव का बर्बर अवस्था से ही उल्लास का निदर्शक रहा है। परन्तु इस अनियन्त्रित उन्माद को कला की सीमाओं में बाँधकर उसे विज्ञान का स्तर दिया गया है। इस देश में अत्यन्त प्राचीनकाल में ही नृत्य को कला का पद प्राप्त हो गया था। भरत के नाट्यशास्त्र में उसका विशद विवेचन है। उससे बहुत पहले के ऋग्वेद में[1] नृत्य के अनेक उल्लेख हुए हैं। समन[2] नाम के तत्कालीन मेले में तो तरुण-तरुणियाँ दोनों मिलकर नाचते थे। गन्धर्वों और अप्सराओं का पेशे के रूप में नृत्य-गीत का व्यवसाय करनेवालों की एक विशिष्ट जाति ही बन गई थी। शुंगकालीन उत्खचनों से उस काल के नृत्य पर प्रचुर प्रकाश पड़ता है और मंदिर वास्तु के अलंकरणों में, विशेषकर खजुराहो के मंदिर के अलंकरणों में, तो नृत्य की भावभंगियों के अनेकानेक उदाहरण हैं।

कालिदास के काल (पाँचवीं सदी ईसवी) तक तो भारतीय नृत्य अत्यन्त विकसित स्थिति को प्राप्त हो चुका था। मालविकाग्निमित्र के पहले-दूसरे अंकों में गीत और नृत्य के सिद्धांतों पर पर्याप्त विवेचन हुआ है। कालिदास के, और अन्य प्राचीन, ग्रंथों में नृत्य और अभिनय का अविच्छिन्न संबंध रहा है। मालविकाग्नि-

---

[1] अधिपेशांसि वपते नृतुरिवापोर्णुते वक्ष उस्रेव बर्जहम्। १,९२,४.

[2] वही, ६, ७५, ४; १०, ५५, ५ आदि। समनों में नृत्य सदा होते थे।

मित्र में दोनों संगीताचार्यों के विज्ञान-संघर्ष में अपना निर्णय देती हुई परिव्राजिका नृत्य और नाट्य को प्रयोगप्रधान[१] कहती है। उसमें नृत्य को पंचांगीय कहा गया है।[२] 'छलिक' अथवा 'चलित' नाम के एक अन्य प्रकार के नृत्य का भी उल्लेख कालिदास ने किया है।[३] यह चार पदों के गीत चतुष्पद पर आधारित था। टीकाकार काटयवेम ने छलिक को उस प्रकार का नृत्य कहा है जिसमें अन्य का अभिनय करता हुआ नर्तक अपने भावों को अभिव्यक्त करता है।[४] इस प्रकार का नृत्य बड़ा कठिन और जटिल माना गया है।

गान की ही भाँति नृत्य कला को भी पेशेवर गणिकाओं ने जीवित रखा है। मंदिरों में प्राचीन काल से नर्तकियों को नियुक्त करने की प्रथा थी। कालिदास ने उज्जयिनी के महाकाल के मंदिर की नर्तकियों का वर्णन किया है।[५] रघुवंश का अग्निवर्ण तो ऐसा 'कृती' है कि नाचती हुई नर्तकियों के दोष बताकर स्वयं उन्हें सही कर उनके गुरुओं को लजा देता है।[६] बाण की कादम्बरी और हर्षचरित में पुत्रोत्सव में नाचनेवाली वेश्याओं का उल्लेख हुआ है।[७]

नृत्य साधारणतः इस देश में दो प्रकार का प्रचलित है, उत्तर भारतीय और दक्षिण भारतीय। उत्तर भारतीय नृत्य अधिकतर कथक है, कथकोंवाला जिसका विकास मुसलमान दरबारों में विशेष लगन से हुआ। उसमें नाचनेवालों ने अद्भुत प्रतिभा दिखाई

---

१ प्रयोगप्रधानं हि नाट्यशास्त्रम्, पृ० १७.

२ पंचांगादिकमभिनयमुपदिश्य, वही, पृ० १४.

३ वही, पृ० ४, ५, ६, २१, २४.

४ तद् एतच्चलितं नाम साक्षात् यत्, अभिनीयते। व्यपदिश्य परावृत्तं स्वाभिप्रायं प्रकाशकम्। टीकाकार काटयवेम।

५ पू० मे०, ३५.

६ रघु०, १९, ४-५.

७ क्रमशः चन्द्रापीड़ और हर्ष के जन्मावसर पर।

है। भावों की अभिव्यक्ति उसमें काफी होती है, छन्द की तरलता भी अपूर्व है। उसके साथ गाने या ताल दोनों चलते हैं। पेशवाज़ नर्तक-नर्तकी दोनों ही पहनते हैं। पेशवाज़ मुसलमानों की देन है पर शब्द पुराना है, ऋग्वैदिक (पेशांसि)।[१] ऋग्वेद में उषा के लिए कहा गया है कि वह नर्तकी-सी अपने नग्न स्तनों को हिलाती हुई आती है।[२]

इस मार्ग अथवा क्लासिकल शैली के नृत्य के भी अनेक भेद हैं। अनेक प्रकार के अभिनय भी इसमें शामिल हैं। मोर, सँपेरे आदि के नाच तो अत्यन्त लोकप्रिय हैं। कृष्ण, ऊधो आदि के गोपियों के प्रति आचरण भी अनेक प्रकार से इस नृत्य में किये जाते हैं। अनेक नर्तक तो इतने दक्ष हो गये थे कि वे बताशे बिछाकर उनपर नाचते थे और बताशे नहीं टूटते थे। एक अत्यंत लोकप्रिय नृत्य कलशों का है। कलश में पानी भरना और पानी भरे अनेक कलशों को एक-पर-एक सिर पर रखकर नाचना। दीपक सिर पर बाल कर नाचने की भी रीति है। नाचनेवालों के भी उत्तर भारत में कितने ही प्रसिद्ध घराने हैं।

दक्षिणी नर्तन भी कर्णाटकी गायन की ही भाँति उत्तर भारत के कथक नृत्य से भिन्न है। साधारणतः उसे भरतनाट्यम् कहते हैं। वह 'बॅले' प्रकार का है। मूक भावप्रदर्शन उसका प्राण है। मुद्राओं में अंगों के अद्‌भुत संचालन से अनन्त भाव व्यक्त किये जाते हैं। युद्ध, प्रणय, द्वेष आदि सभी प्रकार के भाव मूक अभिनय द्वारा प्रकाशित किये जाते हैं। चेहरा लगाकर विविध कथाओं का उद्‌घाटन भी उस नृत्य की एक क्रिया है। उस नृत्य में बड़ी साधना की आवश्यकता होती है। उसका दूसरा रूप पद पर नाचना है। संभवतः यह कालिदास के 'चतुष्पद' पर अवलंबित है। भरतनाट्यम् के अतिरिक्त दूसरा

---

१ अधि पेशांसि वपते नृतुरिव—ऋ०, १, ९२, ४.

२ अधि पेशांसि वपते नृतुरिवापोर्णुते वक्ष उस्रेव बर्जहम्, वही।

प्रधान नृत्य केरल का कथकली है जिसमें कथा का उद्घाटन होता है। रासलीला आदि का रूप उधर कोलाट के नृत्य में उघरा है। कथक, कथकली और भरतनाट्यम् तो मार्ग अथवा क्लासिकल शैली के उत्तरी-दक्षिणी दो प्रधान भेद हैं। इन दोनों के अपने-अपने स्थान-भेद से स्थानीय शैलियाँ भी बन गई हैं। पर इन दोनों से कहीं ताज़े लोकनृत्य हैं। इनमें बड़ा रस और जीवन है। इनमें एक तो सर्वथा वन्य अथवा भारत के आदि निवासियों का है। कोल, भील, गोंड़, संथाल, उराँव, मुंड, लंवाण सभी सामूहिक रूप से नाचते हैं। जीवन इठला-इठला कर उनमें बहता है, गेंहू के खेत-सी उनकी कतारें आगे-पीछे लहराती हैं। इसी प्रकार का परन्तु अब प्रायः कालजयी (क्लासिकल) रूप ले लेनेवाला मनीपुरी नृत्य भी है। फिर भी उसकी उल्लसित तरलता, भावों की सामूहिक अभिव्यक्ति, वेग और भयंकर, शांत और करुण का क्रमिक उद्घाटन असाधारण कला का प्रकाशन करता है। इधर कुछ सालों से वह नृत्य भी बड़ा लोकप्रिय हो गया है।

गुजरात का गृह सामूहिक नृत्य गरबा भी, जिसे लड़कियाँ लकड़ियाँ बजा-बजाकर नाचती हैं, बड़ा आकर्षक होता है। उनके छींट के वसन छन्द के प्रवाह में गिरती-उठती लय के साथ अद्भुत चित्रछटा छिटका देते हैं। रासलीला, कृष्णलीला से प्रभावित यह गरबा नृत्य है जैसे मथुरा के ग्राम-नृत्य हैं।

उत्तर के गाँवों में एक परम्परा कहरवा नाच की है। कहरवा व्यापक नाम है। इसमें अहीरों, कहारों, धोबियों आदि सभी के नाच आते हैं। इनमें परस्पर थोड़ा-बहुत भेद होता है परन्तु रूप प्रायः समान होता है। कहरवा बड़ा लोकप्रिय नृत्य है। जीवन उसमें उछला पड़ता है। साथ ही इस प्रकार के नृत्य में जहाँ-तहाँ अभिनय का भी पुट होता है। लोकनृत्यों का छन्द अप्रतिबद्ध होता है, उनमें मार्ग के प्रतिबन्ध नहीं रहते जिससे गति का प्रवाह स्वच्छन्द होता है। वह भावप्रधान नहीं गतिप्रधान है।

भारत में इधर नृत्य कला का बड़ा ह्रास हो गया था। वह कला धीरे-धीरे इस देश से लुप्त होती जा रही थी। पर इधर कुछ काल से उस दिशा में कुछ लोगों ने बड़े सत्प्रयत्न किये हैं और उस कला के प्रति जनता में अनुराग पैदा किया है। इनमें पहला नाम उदयशंकर का है। उदयशंकर ने उत्तर के नृत्यों को उनके शास्त्रीय जकड़ से निकालकर उन्हें नया जीवन प्रदान किया और उनके ऐसे अन्य सुन्दर नर्तकों के दल ने इस देश में और विदेशों में भारतीय नृत्य के लिए बड़ा चाव और आकर्षण उत्पन्न कर दिया है। उन्होंने स्वयं उन नृत्यों को साधा है और उनमें उचित परिवर्तन कर उन्हें जनप्रिय बनाया है। उनके इस नये प्रयोग को दक्षिण, पूरब आदि की नागरिक, ग्राम्य, आदिवासी, सभी शैलियों का योग मिला है जिससे वे विशेष रोचक हुए हैं। इसी प्रकार दाक्षिणात्य नृत्य शैलियों के पुनरुद्धार में रुक्मिणी अरंडेल ने बड़ा प्रयास किया है। तंजौर और तिन्नेवेली दक्षिणी शैलियों के प्रधान केंद्र थे। उनका पृथक्-पृथक् और एकसाथ सम्मिलित रूप से भी पुनरुद्धार हुआ है। देश में उत्तर-दक्षिण और मिश्रित शैलियों का फिर से प्रचलन हुआ है और लोगों में उनके प्रति संपर्क और निष्ठा हो चली है। इधर के सालों में नृत्य के देशव्यापी आयोजन हुए हैं और सर्वत्र सफल। वस्तुत: उस सफलता को देखकर विश्वास होता है कि भारत शीघ्र अपनी खोयी हुई विभूति को नये सिरे से पा लेगा। अवनीन्द्रनाथ ठाकुर के चित्रण क्षेत्र में आन्दोलन की भाँति नृत्य की राष्ट्रीय चेतना मात्र आवश्यक है, प्राचीन का अनावश्यक पुनरावर्तन नहीं। उसकी शक्ति और सौरभ लेकर उस परम्परा की ठोस भूमि पर नित्य नये प्रयोग की आवश्यकता है। तभी उसे तांडव की शक्ति भी मिलेगी।

## संगीत की शैलियाँ

भारतीय संगीत की दो शैलियाँ हैं। उत्तर भारतीय अथवा

हिन्दुस्तानी श्रौर दक्षिण भारतीय अथवा कर्नाटकी। दोनों में आधारभूत भिन्नता नहीं है। वस्तुतः दोनों के मूल सिद्धांत समान हैं, दोनों का निर्माण एक ही पद्धति से हुआ है। अन्तर इतना है कि उत्तर में बाहर से आनेवाली जातियों ने अपने योग से संगीत के रूप और अलंकरण में कुछ परिवर्तन कर दिये, दक्षिण ज्यों-का-त्यों बना रहा। पर उत्तर की नयी पद्धति ने मैसूर आदि के कुछ भागों को छोड़कर प्रायः सारे भारत को घेर लिया। बंबई तक उसीका प्रभाव बना रहा। मुसलमानों के आगमन से उनके दरबारों में जो भारतीय और फ़ारसी-अरबी संगीत का संगम हुआ तो अनेक नये राग बन गये और हिंदुस्तानी संगीत का नया रूप निखरा। उत्तर में शुद्ध बिलावल ठाट (मेल) ने, जिसमें बीस से कुछ ऊपर ही राग थे, प्राचीन ठाट का स्थान ले लिया, दक्षिण ज्यों-का-त्यों बना रहा।

समूचे भारतीय संगीत के दो प्रकार हैं: मार्ग-शास्त्रीय (क्लासिकल) और देशी (लोक गीत)। मार्ग नाद का विज्ञान है, स्वर और उच्चारण की शुद्धता का विशेष कायल है, देशी अथवा लोक गायन शब्द और अर्थ को महत्ता देता है। जिस प्रकार पक्षी का गाना सुनकर कोई उसका अर्थ नहीं पूछता, उसके कलरव मात्र से अघा जाता है, उसी प्रकार नाद का छन्द और सधे स्वर की ध्वनित लय मात्र मार्ग अथवा शास्त्रीय संगीत का इष्ट है। स्वरों की लहरी, उनका विस्तार और संकोच, आरोहण-अवरोहण, हृदय और कान को भरने के लिए पर्याप्त हैं। जैसे आधुनिक चित्रकारों का एक वर्ग विषय और अभिप्राय का अंकन इष्ट न मानकर केवल वर्ण और रेखाओं की रति उत्पन्न कर संतुष्ट हो जाता है उसी प्रकार बहते नाद की तरंगायित ध्वनि को ही मार्गवादी साधना की परिणति मानता और उसमें रति लेता है। देशी अथवा लोक गायन शब्दप्रधान है। उसके शब्द सुने और समझे जाते हैं, शब्दभंग से अर्थ नष्ट नहीं होता, अर्थधारणा उसमें होती है। दोनों में कोरस

के लिए स्थान है और दोनों में आधारभिन्नता नहीं है वरना उनमें आदान-प्रदान नहीं होता। अनेक बार मार्ग को देशी ने नरम कर दिया है, अनेक बार देशी को मार्ग ने दरबारी बना दिया है, जैसे ऊँट हाँकनेवालों के राग टप्पा को शास्त्रीय दरबारीपन मिल गया। दरबारी (हिन्दुस्तानी) संगीत ने उत्तर में दोनों की सन्धि प्रस्तुत की है। जहाँ उसने मार्ग को नये ख़याल, ठुमरी, दादरा, चैती, सावनी आदि का रूप देकर नरम किया है वहाँ देशी (टप्पा आदि) को स्वरादि की साधना और परिमाण देकर मार्ग की ओर खींचा भी है। इससे देशी का मान बढ़ा है और मार्ग को माधुर्य और ताज़गी मिली है। वह जन और जीवन के सम्पर्क में आया है।

समूचे मुस्लिम युग में मार्ग और देशी शैलियों में आदान-प्रदान चलता रहा। प्राचीनतावादियों का विरोध दरबारी को प्राचीन पद्धति का रूपवर्ती कर जीत लिया गया। दरबारी गायन और मार्ग (शास्त्रीय) परस्पर पर्याय बन गये। यदि नये तान और राग प्रस्तुत हुए तो उनका नाम संस्कृत ध्वनि-परक रख दिया गया अथवा उसके निर्माता मुस्लिम का नाम विशेषण के रूप में जोड़ दिया गया। उस काल के संस्कृत के संगीत ग्रन्थों में नयी पद्धति स्वीकार करली गई। अब वह दरबारी परम्परा स्वयं इतनी शास्त्रसम्मत, इतनी रूढ़ि हो गई है कि गायक का उस दिशा में स्खलन हिन्दू-मुस्लिम दोनों उस्तादों के तेवर बदल देता है। दोनों समान निष्ठा से उसकी रक्षा करते हैं। वस्तुत: उस क्षेत्र में धर्म की भिन्नता भी अन्तर न डाल सकी और आज तक निरन्तर हिन्दू मुसलमान के शिष्य होते आये हैं और मुसलमान हिन्दू के, और दोनों अपने गुरु का देववत् मान करते हैं।

भजन और कीर्तन देशी शैली के विशिष्ट अंग हैं। कीर्तन बंगाल में विशेष प्रचलित हुआ। पदावलियाँ काव्य-सौन्दर्य की धनी हैं। राधा-कृष्ण के प्रेम को उन्होंने अद्भुत रस के साथ

मुखरित किया है। भजन अधिकतर कबीर, मीरा, सूर और तुलसी के हैं। कव्वाली, मरसिया, साज़, नट आदि मुसलमानों के कीर्तन और भजन हैं। वस्तुतः दोनों में सिवा कुछ फ़ारसी-अरबी के शब्दों के भाषा के रूप में कोई भेद नहीं है। इसी प्रकार दक्षिण में भी देशी की मर्यादा बढ़ी। त्यागराज के गीत बड़े मधुर हैं। वे दक्षिण के कीर्तन हैं। परन्तु वे कीर्तन बंगाल के कीर्तनों से भिन्न और उत्तर के ध्रुपद के निकट हैं।

इधर देशी को संस्कृत कर स्वर आदि बाँधने के जो प्रयत्न हुए हैं, फ़िल्मी गाना उन्हीं का एक रूप है। उस गाने में स्वर से अधिक शब्द और अर्थ का महत्व है। इसीमें अर्थग्राह्य होने के कारण ही वह विशेष लोकप्रिय हुआ, मारक रूप में भी, जिससे शास्त्रीय गायन के प्रति लोगों की उदासीनता भी हुई। आकाशवाणी ने जो उसका यह मारक रूप देखा तो सर्वथा विपरीत दिशा की ओर प्रयत्न करते हुए उसने फ़िल्मी गानों को प्रसारित करना बन्द कर दिया। इससे लय और शब्दगत माधुर्य जो फ़िल्मी गानों के प्राण थे और जो अनेक प्रकार से विदेशी 'जाज़' से प्रभावित थे, उनके नष्ट हो जाने का भी भय हुआ। परन्तु शीघ्र आकाशवाणी ने इस तथ्य को समझा और साहित्यकार कवियों को उस दिशा में प्रयत्न करने की सुविधायें दीं जिससे उस नये माधुर्य का सर्वथा लोप हो न जाय। फ़िल्मी गाने घिनौने राग के परिचायक हैं पर साथी ही, जैसे कभी मुसलमानी तरानों ने शास्त्रीय मार्ग की एकान्त शास्त्रीयता दबाकर उनमें अपना योग देकर उन्हें मधुर किया था वैसे ही, वे यूरोपीय और भारतीय रागों की सन्धि भी प्रस्तुत करते हैं।

**संगीत और साहित्य**

संगीत और साहित्य में घना सम्बन्ध है। साहित्य संगीत को वाणी देता है। संगीत उसे अपनी लय पर तरंगित कर दिशांत को भर देता है। साहित्य शब्द और चिन्तनप्रधान है, संगीत

स्वर और नादप्रधान। साहित्य को संगीत मुखरित करता है परन्तु संगीत की समीक्षित विवेकाविवेक की भूमि साहित्य प्रस्तुत करता है, उसे शास्त्रीय व्याकरण और विधान प्रदान करता है। संगीत का प्राण उसका नाद है, परन्तु साहित्य उसका कलेवर है। नाद वाणी की रूपरेखा में, उसकी मधुर सीमाओं में बँधता है, वाणी साहित्य का विलास है।

ध्वनि मात्र को संगीत नहीं कहते। श्रवण उसका माध्यम होता हुआ भी उसके परिचयात्मक अवयव साहित्य प्रदत्त हैं। भजन, कीर्तन, मार्ग, देशी, दरबारी, ग्राम, ध्रुपदीय, फ़िल्मी, धार्मिक, कामुक, उत्तरी, कर्नाटकी सब प्रकार के गीतों को साहित्य ने शब्द और वाणी की काया दी है। ललित पदावलियाँ उनकी शब्दभूमि हैं। भक्ति और तसव्वुफ़ ने भारत की संस्कृति में मध्य काल में एक क्रांति उपस्थित कर दी थी। उस काल के सामाजिक समन्वय द्रष्टा ऋषियों के पद से भक्ति और तसव्वुफ़ के आन्दोलन मुखरित हुए। कबीर और रैदास, भिखारी और दादू, मीरा और सूर, तुलसी और सिक्ख गुरु सभी ने अपनी-अपनी रीति से समाज, रहस्य और अनुचित के प्रतिकार के उपाय को देखा, वाणी में ध्वनित किया और संगीत उसे अपने पंख पर डाल दिगन्त को ले उड़ा। चैतन्य और चंडीदास उतने ही ध्वनि-सम्पन्न पदकार थे जितने जयदेव और विद्यापति रहे थे। कालिदास ने विक्रमोर्वशी के चौथे अंक में अपभ्रंश के गीत लिखकर उसके गाने के राग भी सुझा दिये। जयदेव ने गीतगोविन्द के प्रत्येक गीत पर राग को सूचित कर दिया। विद्यापति ने बाहरमासे गाये, खुसरू ने खयाल, रहीम खानखाना ने बरवै। तीनों साहित्य के प्रबल स्तम्भ थे। मीरा, सूर और तुलसी के पद गाने के ही लिए थे। अनेक साहित्यकार और कवि स्वयं गीतकार भी थे, गायक भी। खुसरू, मीरा और तानसेन, हुसेनशाह शर्की, रूपमती और बाज़बहादुर इसी परम्परा के थे। और जैसे उत्तर में हुआ वैसे ही दक्षिण में भी हुआ। विशेषकर

वैष्णव भक्तों ने तो अपने पदों के संगीत से दक्षिण का वायुमंडल भर दिया। अलवारों ने दक्षिण में वही किया जो उत्तर में भक्त पदकारों ने किया। साहित्य और संगीत एक प्राण दो काया हुए।

हाँ, साज़ के वादन में, वाद्य संगीत और आर्केस्ट्रा (कालिदास की संगीतरचना)[१] में निःसन्देह साहित्य की वाणी का उपयोग शब्दतः नहीं हुआ। वाक्यों के समन्वित लय में स्वरों का ही सम्मेलन है, यद्यपि साहित्य की मूक शक्ति एक मात्रा में वहाँ भी मुखरित है क्योंकि तालों की व्यवस्था शब्दमय ही है। साहित्य इस प्रकार संगीत का न केवल समवर्ती है वरन् वाणी के रूप में उसका सर्जक भी।

[१] माल०, पृ० २२.

अध्याय पाँच

# ● ● रंगमंच

भारतीय रंगमंच अपने साहित्यिक कलेवर में समृद्ध है। जिस संस्कृत से हिंदी और प्रांतीय भाषाओं के नाटक और रंग की प्रसूति हुई है, उसका भंडार अनेक प्रकार से भरा पुरा है। वह रंग-परंपरा समझने के लिए उसकी पूर्वपीठिका स्वरूप अभिनय और नाटक के आनुक्रमिक विकास पर एक दृष्टि डालनी होगी।

## रूपक और अभिनय

कालिदास ने नाटक को 'शांत चाक्षुष यज्ञ' (शान्तं क्रतुं चाक्षुषं)[1] कहा है। इस प्रयोगप्रधान (प्रयोगप्रधानं हि नाट्य-शास्त्रं)[2] कला में भारत कब से प्रवीण रहा है, यह कहना तो निश्चय कठिन है पर इसे भी स्वीकार करना प्रायः प्रकृत है कि वह सहस्राब्दियों प्राचीन है। भरत ने नाट्यशास्त्र में नाटक के आरंभ का परम्परागत दृष्टिकोण इस प्रकार दिया है :

जग्राह पाठ्यं ऋग्वेदात्सामभ्यो गीतमेव च।
यजुर्वेदादभिनयान् रसानाथर्वणादपि ॥[3]

---

[1] माल०, १, ४.

[2] वही, पृ० १७.

[3] वही, पृ० १७.

'ऋग्वेद से पाठ्य, सामवेद से गान, यजुर्वेद से अभिनय और अथर्ववेद से रस लेकर ब्रह्मा ने पाँचवें नाट्यवेद की रचना की।' नाट्यशास्त्र के पहले अध्याय में इस परम्परा से सम्बन्धित कथा इस प्रकार दी हुई है : मानवों को दुखी देखकर इन्द्रादि देवताओं ने ब्रह्मा से चारों वेदों से भिन्न किसी ऐसे वेद का निर्माण करने की प्रार्थना की जिससे संहिताओं के साधारण अनधिकारी स्त्री, शूद्रादि का भी मनोरंजन हो। परिणामस्वरूप इस पंचम वेद की रचनाकर ब्रह्मा ने उसके प्रयोग का कार्य पुत्रों सहित भरत मुनि को सौंपा। पहले यह प्रयोग 'भारती', 'सरस्वती' और 'आरभटी' वृत्ति में आरम्भ हुआ, फिर ब्रह्मा ने भरत मुनि से 'कौशिकी' वृत्ति का प्रयोग करने को कहा। परन्तु चूंकि उसके लिए स्त्री पात्रों का होना अनिवार्य था इससे ब्रह्मा ने मंजुकेशी, सुकेशी आदि अप्सराओं को सिरज नारदादि गन्धर्वों के साथ भरत मुनि को सौंपा। मुनि ने नाटक का पहला प्रयोग इन्द्र के ध्वजोत्सव में किया। इन्द्र की आज्ञा से विश्वकर्मा ने नाट्यगृह (रंगमंच) बनाया। फिर तो एक के बाद एक अनेक नाटक खेले गए। 'अमृतमन्थन' (समवकार) और 'त्रिपुरदाह' (डिम) उनमें विशिष्ट थे। कालिदास ने भी उस परम्परा को भरत मुनि और उनके 'अष्टाश्रय' तथा 'ललिताभिनय'[1] के प्रसंगों का उल्लेख कर ध्वनित किया है :

**मुनिना भरतेन यः प्रयोगो**
**भवतीष्वष्टरसाश्रयो निबद्धः।**
**ललिताभिनयं तदद्य भर्ता**
**मरुतां द्रष्टुमनाः सलोकपालः॥**[2]

स्वयं भरत के नाट्यशास्त्र का रचनाकाल तृतीय शती ईसवी से पीछे नहीं रखा जा सकता। पांचवीं सदी के कालिदास ने उसका

---

[1] वही, पृ० ६-१८.
[2] विक्रमो०, २, १७.

उल्लेख इस श्रद्धा से किया है कि उसकी प्राचीनता प्रमाणित हो जाती है। कुछ अजब नहीं कि यह शास्त्र तीसरी सदी से भी अधिक प्राचीन हो क्योंकि साहित्यिक परम्परा यह भी है कि भरत का शास्त्र उनके सूत्रों पर अवलंबित है और सूत्र निश्चय प्राचीनतर थे। कालिदास ने अपने पहले के नाट्यकारों में महान् भास, सौमिल्ल और कविपुत्र का उल्लेख किया है,[१] पर निश्चय उनकी शक्ति मानते हुए भी महाकवि ने विशेष आदर और महिमा भरत को 'मुनि' कहकर दी है। प्रकट है कि कालिदास भरत को इन नाट्यकारों से पूर्व का मानते हैं। इनमें सौमिल्ल और कविपुत्र का काल तो जाना हुआ नहीं है पर भास का समय संदिग्ध होकर भी साधारणतः तीसरी सदी ईसवी माना जाता है, वैसे वह काल भरत मुनि के काल की भांति ही अनेक लोग ई० पू० तीसरी सदी तक मानते हैं। कुछ अजब नहीं जो भरत के नाट्यशास्त्र के कम-से-कम कुछ अंश अश्वघोष और भास से प्राचीन हों। उस स्थिति में उन्हें हमें पहली सदी ईसवी से पूर्व ही रखना होगा। फिर स्वयं भास और अश्वघोष की रचनाएं शैली और सौंदर्य में इतनी प्रौढ़ और निखरी हुई हैं कि उनको संस्कृत साहित्य की प्रारम्भिक नाट्यकृतियाँ किसी प्रकार नहीं कहा जा सकता। इससे उनका विकास-काल, भारतीय नाटक के प्रारम्भ का समय, और पूर्व फेंक देगा। साथ ही नाट्यशास्त्र स्वयं प्रस्तुत कृतियों को सामने रखकर ही रचा गया होगा। सिद्धांत (आलोचना आदि सभी) सदा प्रयोग के बाद आविष्कृत होता है। उस दशा में निःसंदेह नाट्यकृतियों की नाट्यशास्त्र से पूर्व स्थिति माननी होगी। प्राचीन साहित्य में इस ओर पर्याप्त संकेत विद्यमान है।

ई० पू० पाँचवीं सदी के वैयाकरण पाणिनि ने अपने 'अष्टाध्यायी' में शिलाली और कृशाश्व के नटसूत्रों का उल्लेख किया

---

[१] प्रथितयशसां भाससौमिल्लककविपुत्रदीनां, माल०, पृ० २.

है।[1] कौटिल्य के 'अर्थशास्त्र' में 'कुशीलव' शब्द का प्रयोग हुआ है जिसका अर्थ अभिनेता होता है। इस शब्द का प्रयोग मनु[2] ने भी अपनी स्मृति में किया है, अभिनेता के ही अर्थ में, जिससे नट, नर्तक आदि का भी अर्थ लगाया जा सकता है। मनुस्मृति का रचना-काल शुंग युग (ई० पू० दूसरी सदी) माना जाता है जिससे वह कृति और पतंजलि का 'महाभाष्य' पुष्यमित्र शुंग के समकालीन ठहरते हैं। इस महाभाष्य में दो नाटकों, कंसवध और बलिबन्ध, का उल्लेख हुआ है। साथ ही भाष्यकार ने तीन प्रकार के अभिनेताओं और उनके वर्णलेखन का उल्लेख किया है। रामायण और महाभारत के स्पष्ट संकेत भी उस दिशा में हुए हैं। रामायण ने तो 'नाटक' शब्द का ही प्रयोग किया है और महाभारत[3] काष्ठमयी नारीपात्र का उल्लेख करता है। हरिवंश में तो कृष्ण के वंशधरों द्वारा नाटक खेले जाने का स्पष्ट वर्णन मिलता है।

यह प्रसंग हमें भारतीय (संस्कृत) नाटक के मूल के सम्बन्ध में भी विचार करने को बाध्य करता है, विशेषकर इस कारण कि देशी-विदेशी विद्वानों में उस दिशा में पर्याप्त चर्चा हुई है। कुछ लोगों ने नाटक का आरम्भ विष्णु पूजा के आधार से माना है, कुछ ने पुतलियों के नाच से। कुछ उसका मूल वेदों में पाते हैं, कुछ सर्वथा ग्रीक रंग-व्यवस्था में। ऐसे भी पंडित हैं जो नाटक का आरम्भ मृत पूर्वजों की पूजा और छायानाटकों से संबंधित मानते हैं। ये सारे दृष्टिकोण समान महत्त्व के नहीं हैं। सही है कि छायानाटकों का प्रभाव असाधारण रहा है और भारत से चीन तक, तिब्बत से इंडोनेशिया तक वह प्रचलित रहा है, अनेकांश में आज भी है। पर प्रकट है कि उसे नाटक का आरंभ

---

[1] ४, ३, ११०.

[2] ८, २८७.

[3] ३, ३०, २३.

नहीं माना जा सकता क्योंकि वह स्वयं एक प्रकार का नाटक है और उसे मूल मानने पर फिर उसके मूल की भी खोज करनी होगी। इनमें और दृष्टिकोण तो गौण हैं और उनका संकेत वस्तुतः नाटकीय परम्परा के विकास में उनके सहायक होने की ओर है, नाटक का मूल होने की ओर कदापि नहीं। विचारणीय दृष्टिकोण केवल दो हैं, ग्रीक रंग-व्यवस्था और पुतलियों का नाच।

ग्रीक संस्कृति का ज्योतिष, मूर्तिकला आदि की दिशा में भारतीय संस्कृति पर निःसंदेह प्रभाव पड़ा है। कुछ अजब नहीं कि इस देश में अपने नगर बसाकर और भारतीय नगरों में अपने मुहल्ले कायम कर जब अपने ऋद्ध नाटकों को विकसित रंगमंच पर ग्रीकों ने खेला हो तो उसका प्रभाव हमारे रंगमंच पर भी पड़ा हो। वह कहाँ और किस मात्रा में पड़ा है, यह विचारणीय और अनुसन्धान का विषय है। इसमें शायद सन्देह नहीं हो सकता कि रंगमंच पर परदों का विशेष प्रयोग ग्रीक रंगमंच के सम्पर्क से ही शुरू हुआ। 'यवनिका' का अर्थ ग्रीक रंगमंच के पर्दे से भिन्न करना अनर्थ ही है।

अधिक सम्भव जान पड़ता है कि भारतीय नाटक का प्रारम्भ पुतलियों के नाच से ही हुआ। साधारणतः विद्वानों का मत है कि इस नाच का प्रारम्भ अति प्राचीन काल में भारतवर्ष में ही हुआ। उसमें सूत से नचानेवाले का नाम भी नाटकों के सूत्रधार की ही भाँति 'सूत्रधार' था। उसका सहकारी भी नाटक के स्थापक की भाँति 'स्थापक' ही कहलाता था। पुतलिकाओं के अनेक वर्णन साहित्य में आये हैं। राजशेखर ने सीता का नाट्य करती बोलती पुत्तलिका का वर्णन किया है। इतना फिर भी है कि केवल इसी आधार पर नाटक का आरम्भ मानना उचित नहीं होगा। इससे इतना निश्चय सिद्ध हो जाता है कि नाटक के प्रायः सभी प्रारम्भिक साधन पुतली के नाच ने प्रस्तुत कर दिए थे। उसे ऋग्वेद के संवादात्मक अनेक स्थलों से विशेष सहायता

मिली होगी। यम यमी, सुरमा पणियों, पुरूरवा उर्वशी, शची वृषाकपि, आदि के अनेक स्थल उस वेद में हैं जो प्रौढ़ 'डायलग' का कार्य कर सकते थे। साथ ही इन्हें अनेक प्रकार की लीलाओं विष्णु पूजन आदि से भी सहायता मिली होगी। रंगमंच खड़ा हो गया।

### रूपक

संस्कृत में नाटक को भी काव्य का ही अंग माना गया है। काव्य के दो भेद हैं, श्रव्य और दृश्य। श्रव्य काव्य केवल कर्ण-सुखद होता है, दृश्य काव्य नाटक है जिससे कानों और नेत्रों दोनों को सुख होता है। इसीसे उसकी विशिष्टता भी घोषित की गई है: काव्येषु नाटकं रम्यम्।

संगीत नृत्य, गायन और वादन तीनों के समाहार का नाम है। पर संगीत के साथ अभिनय का सम्बन्ध कर नाटक अथवा दृश्य काव्य ने दर्शकों को मुग्ध कर लिया। इसकी सर्वग्राहिता को ही लक्ष्य कर भरत मुनि ने नाट्यशास्त्र में कहा है कि ऐसा कोई ज्ञान नहीं, शिल्प नहीं, विद्या, कला नहीं, योग और कर्म नहीं जो नाटक में नहीं:

> न तज्ज्ञानं न तच्छिल्पं न सा विद्या न सा कला।
> न स योगो न तत्कर्म नाट्येऽस्मिन्यन्न दृश्यते॥[१]

संस्कृत में नाटक का शास्त्रीय नाम 'रूपक' है, नाटक तो रूपक के ही एक भेद का नाम है। साधारणतः उसके दो प्रधान भेद हैं, मुख्य (रूपक) और गौण (उपरूपक)। और इनके भी शास्त्रकार के अनुसार भिन्न-भिन्न उपभेद हैं। अपने साहित्य-दर्पण में विश्वनाथ ने रूपक के दस और उपरूपक के अठारह भेद गिनाए हैं, जो इस प्रकार हैं:

रूपक: १. नाटक (जैसे कालिदास का अभिज्ञानशाकुन्तल),

---

[१] १, ११३.

२. प्रकरण (भवभूति का मालतीमाधव), ३. भाण (वत्सराज का कर्पूरचरित), ४. व्यायोग (भास का मध्यम व्यायोग), ५. समवकार (वत्सराज का समुद्रमंथन), ६. डिम (वत्सराज का त्रिपुरदाह), ७. ईहामृग (वत्सराज का रुक्मिणीहरण), ८. अंक अथवा उत्सृष्टिकाग्र (शर्मिष्ठाययाति), ९. वीथी (भाविका), और १०. प्रहसन (महेन्द्रविक्रमवर्मन् का मत्तविलास)।

उपरूपक : १. नाटिका (हर्ष की रत्नावली), २. त्रोटक (कालिदास की विक्रमोर्वशी), ३. गोष्ठी (रैवतमदनिका), ४. सट्टक (राजशेखर की कर्पूरमंजरी), ५. नाट्यरासक (विलासवती), ६. प्रस्थान (शृंगारतिलक), ७. उल्लाप्य (देवीमहादेव), ८. काव्य (यादवोदय), ९. प्रेंगण (वालिवध), १०. रासक (मेनकाहित), ११. संलापक (मायाकापालिक), १२. श्रीगदित (क्रीड़ारसातल), १३. शिल्पक (कनकावतीमाधव), १४. (विलासिका (उदाहरण अनुपलब्ध), १५. दुर्मल्लिका (विन्दुमती), १६. प्रकरणिका (उदाहरण अनुपलब्ध), १७. हल्लीश (केलिरैवतक), और १८. भाणिका (कामदत्ता)।[1]

ईसा की पहली और चौदहवीं सदी के बीच अनेक समर्थ नाट्यकारों ने संस्कृत में नाटक लिखे, जैसे अश्वघोष ने सारिपुत्रप्रकरण, भास ने स्वप्नवासवदत्ता, प्रतिज्ञायौगन्धरायण आदि, शूद्रक ने मृच्छकटिक, कालिदास ने अभिज्ञानशाकुन्तल, विक्रमोर्वशी और मालविकाग्निमित्र, विशाखदत्त ने मुद्राराक्षस, हर्ष ने रत्नावली, नागानन्द और प्रियदर्शिका, महेन्द्रविक्रमवर्मन् ने मत्तविलास, भवभूति ने महावीरचरित, उत्तररामचरित और मालतीमाधव, भट्टनारायण ने वेणीसंहार, मुरारी ने अनर्घराघव,

[1] जिन कृतियों के रचयिता के नाम कोष्ठकों में दिये हुए हैं, वे प्रकाशित और उपलब्ध हैं, जिनके नाट्यकारों के नाम नहीं दिये, वे कृतियां आज उपलब्ध नहीं। जिन उपरूपकों के उदाहरण नहीं दिये गये हैं उनके उदाहरण विश्वनाथ ने भी नहीं दिये हैं।

राजशेखर ने बालरामायण, बालभारत, कर्पूरमंजरी और विद्धशालभंजिका, क्षेमीश्वर ने चण्डकौशिक, दामोदर मिश्र ने हनुमन्नाटक, और कृष्णमिश्र ने प्रबोधचन्द्रोदय।

संस्कृत नाटकों की यह तालिका प्रमाणतः यहीं समाप्त नहीं होती। पिछले युगों में भी संस्कृत में नाटक लिखे जाते रहे थे जो आज भी उपलब्ध हैं।

## हिन्दी नाटक और रंगमंच

इस बीच राष्ट्रभाषा हिन्दी का उदय पर्याप्त पहले ही हो गया था, उसमें काव्य की परम्परा भी बन चली थी, परन्तु नाटक का प्रणयन उसमें बहुत पीछे आरम्भ हुआ। लीलाएँ तो गाँवों और नगरों में सदा से लगती आयी थीं परन्तु उनका रंगमंच से कोई सम्बन्ध न था। वस्तुतः रंगमंच तो संस्कृत का भी स्टेज (मंच) की दृष्टि से कुछ विशेष न था और नाटक मन्दिरों के मंडप और राजाओं की संगीतशालाओं में खेले जाते थे। संभवतः केरल के खेलनेवालों ने अपना रंगमंच कुछ उन्नत किया था। संस्कृत में फिर भी कम-से-कम नाटकों की कमी न थी, और जैसा ऊपर दिखाया जा चुका है, एक-से-एक सुन्दर नाटक ही नहीं लिखे गए बल्कि उसमें प्रयोग भी विविध हुए। हिन्दी के रंगमंच पर यहाँ विचार एक तो राष्ट्र (राज्य) भाषा होने के कारण किया जा रहा है दूसरे उसे अन्य प्रान्तीय भाषाओं के विकास का प्रतीक मानकर, यद्यपि इसमें सन्देह नहीं कि कुछ भारतीय भाषाओं के रंगमंच उससे कहीं अधिक विकसित हैं, विशेषतः जैसे मराठी का।

बम्बई में यूरोपीय और सावधि अर्थ में पहला भारतीय रंगमंच खड़ा हुआ। पहले तो वहाँ और सूरत आदि के पश्चिमी तट पर आनेवाले यूरोपीय व्यापारियों ने अनियमित रूप से अपने नाटक खेले और अंग्रेजों का स्वत्व यहाँ स्थापित हो जाने के बाद बम्बई पर कला आदि की भाँति यूरोप का स्थायी प्रभाव पड़ा

और रंगमंच स्थापित हुआ। पारसियों ने उसमें विशेष भाग लिया और अधकचरे यूरोपीय रूप में विल्वमंगल आदि के-से नाटक खेलने शुरू किए। यह मथुरा आदि की रासलीला से निश्चय अच्छे थे परन्तु सिवा चीख-पुकार के अभिनय-जैसी कोई चीज़ उनमें न थी।

उन्नीसवीं सदी में हिन्दी का पहला खेलने योग्य नाटक, भारतदुर्दशा, भारतेंदु हरिश्चन्द्र ने लिखा। साहित्यिक स्तर तो उसका बहुत ऊँचा नहीं है, पर खेले जाने लायक वह नाटक सुन्दर है। विषय की दृष्टि से तो निःसन्देह उस काल वह बड़ी प्रगतिशील कृति थी। उसके बाद भी यदि उसकी परम्परा बढ़ाई जाती तो हिन्दी नाटक और रंगमंच का विकास अनायास हो जाता। अभिनय अभिनेता के अर्थ में संस्कृत में भी सम्भवतः दुर्बल पक्ष था। उस काल अभिनय कैसा होता था इसका पता तो विशेष नहीं है और इसे व्यक्त करना अभीष्ट भी यहाँ नहीं, परन्तु स्थायी रंगमंच के अभाव में महान् अभिनेताओं के नाम हम तक नहीं पहुँच सके। महान् अभिनेता का स्थायी रंगमंच से बड़ा सम्बन्ध है। यूरोप के प्रधान स्थायी रंगमंचों से सम्वन्धित अनेक प्रसिद्ध अभिनेताओं के नाम मध्य युग से ही जाने हुए हैं, पर यहाँ, अभिनय महत्व का होने के बावजूद, हम उनके नाम न जान सके क्योंकि स्थायी महत्वपूर्ण रंगमंच का प्रश्रय उन्हें नहीं मिला। वस्तुतः रंगमंच तो हमारा अबतक कोई न रहा। इधर कुछ ही सालों से पहली बार राष्ट्रीय रंगमंच की चर्चा होने लगी है और उस दिशा में कुछ सरकारी गैर-सरकारी प्रयत्न भी हुए हैं।

भारतेंदु के पश्चात् बंगला के नाटकों का हिन्दी जगत् पर आक्रमण हुआ। सीधा संस्कृत से भी सम्बन्ध उसका न हो सका। द्विजेन्द्रलाल राय की कृतियाँ अनूदित होकर आईं। विशेष लगन के साथ जयशंकर प्रसाद के ऐतिहासिक नाटक आए। उससे पहले भी इक्के-दुक्के प्रयत्न हिन्दी में नाटक लिखने के हुए

थे परन्तु विशेष प्रयत्नशील इस दिशा में वही हुए। उन्होंने अनेक गुप्तकालीन नाटक लिखे परन्तु जैसा ऐसी स्थिति में भय हुआ करता है, प्राचीन को गौरवान्वित करने के अतिरिक्त इन नाटकों का प्रयास रंगमंच को बनाने या उसको उन्नत करने का न हुआ। परिणाम यह हुआ कि ये नाटक रंगमंच के सर्वथा अयोग्य हो गए। खेले न जा सके। खेले जाने की विशेषता उनमें नहीं, जो नाटक का पहला उद्देश्य होना चाहिए और जिससे उसके गुण-दोष आँके जाने चाहिएँ। वे साहित्यिक नाटक हैं, पाठ्य (टेक्स्ट बुक) नाटक, और यदि कॉलेजों में पढ़ाये न जायँ तो उनका रूप उपन्यासादि का हो जाय, केवल पढ़ जाने का। खेले जाने की दृष्टि से अच्छे नाटक लक्ष्मीनारायण मिश्र ने लिखे। रामकुमार वर्मा और उपेन्द्रनाथ 'अश्क' के एकांकी रंगमंच के लिए अधिक सम्मत हुए।

अभी रंगमंच सम्हला भी नहीं था, नाटकों की सही परिपाटी भी प्रस्तुत न हुई थी कि सिनेमा ने उस पर छापा मार अधिकार कर लिया। सिनेमा ने संसार भर के रंगमंच पर अपना विकृत प्रभाव डाला था परन्तु और देशों ने अपने नाटकीय साहित्य की सजीवता, अभिनय की प्रवीणता आदि से अपने रंगमंच की रक्षा कर ली, पर हमारा उठता हुआ रगमंच सहसा बैठ गया। रंगमंच का महत्व यद्यपि सिनेमा के सामने उस देश के पढ़े-लिखे लोग भी कम ही समझते हैं, पर वह कला के प्रति साधारण उदासीनता के कारण है। वैसे इस प्रकार के लोगों की भी कमी नहीं जो रंगमंच की ताज़गी का महत्व समझते हैं और सिनेमा की अपेक्षा अभिनीत नाटक से अधिक आकृष्ट होते हैं। पृथ्वीराज के उस दिशा के प्रयत्नों ने यह स्थापित कर दिया है कि न तो रंगमंच के योग्य प्रतिभा की भारत में कमी है, न दर्शकों के उनके प्रति आकर्षण की। यदि सही प्रयत्न उस दिशा में हो तो निश्चय भारत के राष्ट्रीय रंगमंच का निर्माण हो सकेगा। और राष्ट्रभाषा हिन्दी, अपनी अनेक सीमाओं

के बावजूद, नाटक के क्षेत्र में अपेक्षित कृतियाँ अभिसम्भव कर सकेगी। अनधिकारी प्रयोगवाद तब अपने आप रंगमंच की तुला पर तुलकर उपेक्षित हो जाएगी और प्रतिभा उसपर अभिषिक्त होगी।

## अभिनय शास्त्र

प्रयोगप्रधान अभिनय शास्त्र की भी अपेक्षा करता है। प्रयोग की समीक्षा सिद्धांत की जननी है। सिद्धांत स्वयं प्रयोग के औचित्य को गुनकर विकसित करने में सहायक होता है। भारतीय अभिनय की प्राचीनता और विविधता ने तत्सम्बन्धी सिद्धांत के निरूपण को जन्म दिया और अनेक शास्त्र लिखकर सूक्ष्म जिज्ञासुओं ने अभिनय की व्याख्या की।

भरत के नाट्यशास्त्र के पश्चात् लगभग ५०० ई० से ल० १६०० ई० तक प्रायः हज़ार वर्ष तक रस और अलंकार पर इस देश में विचार हुआ और भामह, दण्डी, वामन, रुद्रट, आनन्दवर्धन, राजशेखर, मुकुल भट्ट, भट्ट तौत, अभिनवगुप्त, धनिक, धनञ्जय, भोजराज, क्षेमेन्द्र, मम्मट, रुय्यक, हेमचन्द्र विद्यानाथ, विश्वनाथ आदि ने तत्सम्बन्धी चिन्तन और शास्त्र को विज्ञान और दर्शन के पद पर पहुँचा दिया। उन्होंने अनेक सीमाएँ भी रंगमंच और अभिनय की बाँधी।

उन्होंने नाटक में सबसे अधिक रसबोध और रसपाक पर ज़ोर दिया। फलतः संस्कृत के नाटक नाट्य-नियमों से पर्याप्त बँधे रहे हैं। उनका दुःखांत होना अनुचित माना गया है। जनकल्याण उनका इष्ट रहा है। इससे वे सावधि दुःखमय यथार्थ से दूर हटकर दर्शकों का कल्पित सुखी संसार से साक्षात् कराते हैं। यथार्थ सम्भवतः कष्टकर है जिसका वास्तविक रूप दर्शकों में केवल अवसाद उत्पन्न करेगा। इससे उस आदर्श 'यूटोपियन' संसार को ही रूपायित करना उन्हें इष्ट हुआ जिसे अभिनीत देखकर मन को ढाढस बाँधे। इसीसे ग्रीक नाटकों की-सी शुद्ध

'ट्रजेडी' यहाँ न प्रस्तुत हो सकी। हाँ, विप्रलम्भ शृंगार में इतनी करुणा संचित हो जाती है कि स्वतन्त्र 'ट्रैजेडी' की सारो कमी एकसाथ पूरी हो जाय। इससे शोकपर्यवसायी न होकर भी उनमें गहरी वेदना की अनुभूति बनी रहती है। इसी प्रकार 'कामेडी' या सुखपर्यवसायी का शुद्ध रूप भी हमारे यहाँ नहीं मिलता। केवल अन्त निश्चय कल्याणकर अथवा सुखद होता है। इससे उनमें युद्ध, रक्तपात, मृत्यु आदि रंगमंच पर नहीं प्रदर्शित होते।

## साहित्य और कला

वास्तु, मूर्तिकला, चित्रण, संगीत के प्रसंग में हमने उनके और साहित्य के पारस्परिक प्रभाव को यथा किंचित् सूचित किया है। यहाँ अन्त में उनकी ओर फिर एकत्र संकेत कर देना अनुचित न होगा।

मंदिरों का भारतीय जीवन और साहित्य से असाधारण घना सम्बन्ध रहा है। उत्तर और दक्षिण भारत में भक्ति आंदोलनों ने वह सम्पर्क और निकट का कर दिया है। व्यक्तिकेन्द्रित भगवान से सायुज्य सम्बन्ध मूर्ति के सगुण माध्यम से स्थापित किया जा सकता था। उसके प्रति सर्वथा आत्मसमर्पण भक्ति का प्रेय हो गया। मंदिर प्रव्रज्या के केन्द्र बने और विशेषतः प्रव्रजित गायकों ने भजन, स्तोत्र आदि की रचना की। मूर्ति के प्रति जो अनुराग, आनन्द, उल्लास और प्रेम का स्रोत बहा तो रसात्मक साहित्य भी अनन्त मात्रा में प्रस्तुत हुआ। संगीत ने अपनी सभी सन्धियाँ, अपना समूचा रस मन्दिर और उसमें पधरायी देव-मूर्ति को समर्पित किया। संगीत (गीत, वाद्य और नृत्य) का विकास पर्याप्त मात्रा में मन्दिर के प्रांगणों में, उसके मंडपों और जगमोहनों में हुआ। अभिनय का तो उसीका मंडप रंगमंच बना। सदियों मन्दिरों के प्रांगण में लीलाएँ हुईं और उनके मंडपों में नाटक अभिनीत हुए। सिद्धों तक का साहित्य अनेकार्थ में उनसे सम्बन्धित था, उनकी तन्त्रसाधना भी मन्दिरों के बहिरंग पर रूपायित हुई।

मूर्ति और चित्रकला का तो साहित्य से इतना निकट का सम्बन्ध रहा है कि एक ही अभिप्राय (मोटिफ़) अनेक बार दोनों में अनुकृत हुए हैं, समान प्रवृत्तियों ने दोनों में विकास पाया है। जातक कथाओं के कल्पित संसार को मूर्ति और चित्रकला ने अपनी भूमि पर उतार दिया है। ज्ञान स्थूल चक्षु का विषय बन गया है। कथा कहने की ऐसी संमोहक पद्धति मूर्ति और चित्रकला दोनों ने अपनायी है कि उनका प्रसार आज अमित है। पत्थर की कठोर भूमि पर अनन्त कथाओं का अर्धचित्रों में उभार, भित्तिचित्रों की अटूट परम्परा में उनका अंकन, इस निष्ठा से हुआ है कि जनसाधारण की उस काल की दुष्प्राप्य ग्रंथों की तृष्णा उसने शांत कर दी है। गुजराती ग्रंथचित्रण ने भी साहित्य को कला के निकट पर्याप्त खींचा है और मुगल कलम ने तो रामायण, महाभारत और लोककथाओं को अद्भुत मांसलता प्रदान कर दी है। जावा आदि की मूर्ति कथाएँ और मुगल हस्त-लिपियों के गतिमय प्रवहमान जीवनांकन साहित्य के सुदर्शन कलेवर बन गये हैं।

राजस्थानी-पहाड़ी-रागमाला चित्रों ने तो संगीत की निर्बन्ध तरंगित लयों तक को रेखाओं में बाँध दिया है। इतिहास में पहली बार श्रोत्रविषयक अदृश्य ध्वनि को भारतीय मानव ने काया की सीमाओं में डालने का प्रयत्न किया और उसे रक्तमज्जा प्रदान कर रूप का धनी बनाया। राग की लहरियाँ रागबद्ध हो दर्शनीय हुईं। स्वयं साहित्य उस दिशा में वंचित न रहा। संकेत रूप में काव्य के स्थल रागिनी चित्रों के व्याख्यान शीर्षक बने। रीति-कालीन काव्य-साहित्य विशेषतः नायक-नायिका भेद पर केंद्रित हुआ। पहाड़ी चित्रों में उनके अनेकशः अंकन हुए।

साधारणतः संसार भर की ललित कलाएँ ललित साहित्य से सम्बन्धित हैं, परन्तु वह सम्बन्ध इतना घना और कहीं न हुआ जितना इस देश में। वस्तुतः मन्दिरों के बाह्यालंकरणों, मूर्तियों और पत्थरों के अर्धचित्रों और अजन्ता, बाघ के भित्ति-

चित्रों तथा गुजरात के ग्रंथों, मुगलों की हस्तलिपियों और राजस्थानी-पहाड़ी लघुचित्रों की रागमालाओं का सम्यक् ज्ञान बिना साहित्य का गहरा अध्ययन किये नहीं हो सकता। जातक और अवदान, इतिहास और पुराण, काव्य और नाटक, संगीत और अभिनय सभी मूर्ति और चित्रकलाओं की लपेट में आ गए हैं। कामशास्त्र और शुल्वसूत्र, लक्षण ग्रंथ और मानसार, सन्त और रीति साहित्य सभी भारतीय कला के दर्शनद्वार खोलते हैं।

दूसरा भाग

# भारतीय संस्कृति

अध्याय एक

# ●● सुमेर, मिस्र और भारत

संस्कृति सर्वजनीन सम्पदा है, संयुक्त प्रयास की परिणति। देश अथवा काल के धरातल पर कोई विन्दु नहीं जहाँ खड़ा होकर कहा जा सके कि वस इससे परे अब कुछ नहीं जिसका मुझ पर प्रभाव हो। जातियों की परस्पर प्रतिक्रिया से, योग से, संस्कृति की काया बनती है। नयी जाति आती है, सीमा पर मँडराती है, स्थानीय जाति में हलचल होती है, दोनों एक-दूसरे से टकराती हैं, संगम की धाराओं की भाँति मिलकर समान प्रवाह बन जाती हैं।

अब तक दोनों अलग-अलग थीं, अब वे संपृक्त प्रवहमान द्रव की इकाइयाँ वन गई हैं। इकाइयाँ सम्पूर्ण को बनाती हैं, सम्पूर्ण स्वयं अटूट संघात की इकाई वन जाता है। संस्कृति का यही क्रमिक विकास है—इकाई से संयुक्त इकाई, संयुक्त से संयुक्ततर, पर अगले संघात के लिए इकाई मात्र, अगली इकाई पिछली से सदा ऋद्ध, ऋद्धतर। संस्कृति इनका सम्पृक्त अटूट क्रम, अविरल परम्परा, अन्योन्याश्रित अन्तरावलंबित सम्पदा है।

महान् सभ्यताएँ नदियों के कांठों में ही जन्मी हैं—सिंधु-गंगा की घाटी में, ह्वांगहो-वक्षु के तट पर, दजला-फ़रात के कांठे में, नीलनदवर्ती भूमि पर। खूनी खानाबदोश जातियाँ सदा

अपने पैरों पर रही हैं, फिरतीं, अनुर्वर मरु से हरी घाटियों की ओर। अपने संक्रमण के वेग में उन्होंने बस्तियाँ उजाड़ दीं, जला डालीं। उनकी बर्बर धाराओं से सभ्यताएँ आप्लावित हो नष्ट हो गईं, पर जो कुछ बच पाया वह भी सर्वथा सारहीन न रहा। क्योंकि जिन्होंने वह भयंकर चोट की, जमी सभ्यता की जड़ें झकझोर दीं, स्वयं उन्होंने ही उस मरणोन्मुख पिंड में अपने जाग्रत प्राण, बर्बर सही, फूँक दिये। निश्चेष्ट पिंड फिर जी उठा। नया सोता फूटा, सूखी गाँठें हरी हो गईं, नई कोंपलों से भूमि फिर लहलहा उठी।

इस दृष्टि से भारत से बढ़कर प्रकृति का दुलारा देश नहीं। अनन्त मानव धाराएँ, सभ्य और बर्बर, एक के बाद एक, इसकी सीमाओं में प्रविष्ट हुईं, क्षणभर टकराईं-लहराईं, फिर उसके जल-प्रसार में विलीन हो गईं। भारतीय पट में नये रेशे बुन गये, नये रंगों से पट चमक उठा।

भारतीय संस्कृति भी अन्य संस्कृतियों की ही भाँति अगणित जातियों की देन है, अटूट जनपरम्परा की विरासत। उसके निर्माण में विभिन्न जातियों का योग रहा है, गहरा और प्रभूत। उसकी एकता में अद्भुत विविधता है, अनेक स्रोतों का स्राव। भारत ने सिरजा बहुत है, पर उसकी विजय सिरजने में इतनी नहीं जितनी अन्य को आत्मसात कर पचा लेने की उसकी शक्ति में रही है। द्रविड़, आर्य, ईरानी, यवन (ग्रीक), पह्लव, शक, कुषाण, हूण, मुसलमान, यूरोपीय—जिन-जिन जातियों से उसका संपर्क हुआ, उन-उनसे उसने शक्ति संचय की, प्राण लिये, नई ताज़गी ली, अपनी धारा को नये फलागम से निहाल कर दिया। आगे के पृष्ठों में इन्हीं जातियों के प्रभाव का निरावरण होगा, अत्यन्त संक्षेप में, सूची मात्र के रूप में, वरना उस विरासत का व्यास बड़ा है, निःसीम व्यापक।

पता नहीं सिंधु की द्राविड़ सभ्यता किस मात्रा में दजला-फ़रात की सभ्यता की ऋणी रही है, पर इसमें सन्देह नहीं कि

दोनों में पर्याप्त काल तक आदान-प्रदान होते रहे हैं। तेल असमर में मिली मुहरें (मुद्राएँ)[1] इसका प्रमाण हैं।

भारत पर वस्तुतः पहला और शक्तिम प्रभाव उन आर्य जातियों ने डाला जो ईसा से प्रायः डेढ़-दो सहस्र वर्ष पहले उसकी सीमा लाँघ हिन्दूकुश से उसकी धरा पर उतरीं। आक्रमण जितना निर्दय था, उसका अवरोध भी उतना ही शक्तिम हुआ। चप्पा-चप्पा भूमि के लिए संघर्ष हुआ, पर विजय आक्रामकों के हाथ रही। कुछ काल विजयी और पराजित दोनों जातियों में एक-दूसरी के प्रति बड़ी घृणा रही—आर्यों ने विजितों को 'कृष्णाः', 'अनासाः', 'अदेवयु', 'अयज्वन्', 'मृध्रवाचः', 'शिश्न-देवाः,' 'दास', 'दस्यु' आदि कहकर गाली दी। उनके ऋषियों ने अपने इन्द्र से द्रविड़ों के पक्की ईंटों से बने उन नगरों पर वज्रप्रहार करने की प्रार्थना की जो उन्हें लौह दुर्ग-से लगे थे।

घृणा और अविश्वास का यह सम्बन्ध उनमें कबतक बना रहा, नहीं कहा जा सकता, परंतु कुछ ही काल बाद आर्यों की सामाजिक परिस्थिति में दूरगामी परिवर्तन तीव्र गति से होने लगे। सांस्कृतिक रूप से उन्होंने द्रविड़ों के प्रति अधिकाधिक आत्मसमर्पण किया। प्राचीन काल में जिन-जिन विजेताओं का सभ्यतर जातियों से सामना हुआ, विजयी होकर भी उन्हें विजितों के सामने कालान्तर में झुकना पड़ा। क्रीटवासियों के विजेता दोरिय ग्रीक, असुर-बाबुलियों के विजेता ईरानी आर्य, मिस्रियों के विजेता ईरानो-ग्रीक, ग्रीकों के विजेता रोमन, सभी अपने पराजितों से संस्कृति के क्षेत्र में पराजित हुए। इसी प्रकार भारतीय आर्यों को भी द्रविड़ों की ऋद्ध परम्परा के सामने नत-मस्तक होना पड़ा। अथर्ववेद के रचना काल तक पहुँचते-पहुँचते चारों वर्ण स्पष्ट हो गये, वह चौथा 'शूद्र' वर्ण भी जो ईरानी आर्यों का अनजाना था और जिसके निर्माण में विजित द्रविड़ों

[1] पैट्रिक कार्लटन : बरीड एम्पायर्स, पृ० १४२.

का योग विशेष सहायक हो चला था। शिव की मर्यादा अब बढ़ चली और देर-सबेर 'लिंगपूजन' आर्य अर्चना का भी अंग बन गया। योग की क्रिया आर्यों को अभिमत हुई, और वृषभ के साथ-साथ, धीरे-धीरे उससे अधिक भी, गाय की महिमा का विकास होता गया। सम्भव है आर्य वृषभ का माहात्म्य उस पश्चिमी एशिया से साथ लाए हों जहाँ उसका सम्मान विशेष रूप से होता था,[१] पर स्वयं सिन्धु की घाटी में उसका मान कुछ कम न था। कालान्तर में वही वृषभ 'नन्दी' के रूप में विशेष पूज्य हुआ। गाय के प्रति आर्यों का आदर[२] तो निश्चय उन्हें भारत ने दिया। शीघ्र आर्यों की नयी आवास भूमि ब्रह्मर्षिदेश में उपनिषदों की परम्परा के संजीवक नगरों का एक विस्तार खड़ा हो गया, जहाँ अध्यात्म का अमृतमन्थन होने लगा। पुष्कला-(रा)वती, तक्षशिला, आसन्दीवन्त, हस्तिनापुर, इन्द्रप्रस्थ, विराटनगर, काम्पिल्य, अहिच्छत्र, काशी, अयोध्या, मिथिला, सभी से नागरिकता की गंध आने लगी, प्राचीन सिन्धु सभ्यता के नगर नयी महिमा लिये नये परिधान पहने खड़े हुए। नगरों की परम्परा द्रविड़ों की थी। गाँवों का जीवन बितानेवाले आर्यों ने, जिनके भारत पहुँचने के पहले के जीवन में नगर सदा अनजाना था, द्रविड़ों से ही नगर बसाने की कला सीखी और इन नगरों का निर्माण किया। अश्वपति कैकेय, प्रवाहण जैवलि, अजातशत्रु काशेय, जनक विदेह प्राचीन द्राविड़-वैदिक विरासत काल की सन्धि पर खड़े हो बौद्ध-जैन-शैव-वैष्णव-शाक्तों की जनाकुल परम्परा को प्रदान करने लगे। बीज नये बने खेतों में लहलहाकर उगे, धरा नवीन सांस्कृतिक शस्य-भार से ढक गई। इसी द्राविड़-आर्य परम्परा की संमिलित दाय प्रधान भारतीय संस्कृति की

---

[१] वृषभ की पूजा मिस्र, सुमेर, बाबुल, असुर, इस्रायल, क्रीट सर्वत्र प्रचलित थी।

[२] ऋग्वेद में वह अब 'अघ्न्या' (अवध्य) हो गई थी, देवताओं की माता अदिति, 'मा गां अनागां अदितिं वधिष्ठ'।

रीढ़ बनी। नयी आनेवाली जातियों का योग उसे मिलता रहा, नयी मज्जा-मांसलता उस पर चढ़ती रही, रक्त की नयी नसें उसमें दौड़ती रहीं, पर रीढ़ वही बनी रही, जो आज तक बनी है।

भाषाओं पर भी स्वाभाविक अनिवार्य प्रभाव पड़ा। पर तभी से दो स्पष्ट पृथक् भाषायें इस देश में चल पड़ीं, एक संस्कृत जो अपने प्राकृत के आधार से उठकर स्वयं 'संस्कृत' हुई और विविध प्राकृतों पर भी उसने अपना प्रभाव डाला, उन प्रभावों से स्वयं विकसी और धीरे-धीरे उत्तर भारत की साधारणतः आर्य भाषाओं के नाम से जानी जानेवाली जन-बोलियों की प्राकृतों आदि के साथ दूर की जननी हुई। दूसरी वह जो द्रविड़ भाषाओं के नाम से दक्षिण में फली फूली। उसकी चार स्वतन्त्र भाषाएँ बनीं—तमिड़, तेलुगू, कन्नड़ और मलयालम। इन पर भी संस्कृत का अत्यधिक प्रभाव पड़ा। इन में अनेक संस्कृत शैलियों का अनुकरण हुआ। तमिड़ को छोड़ शेष पर तो उसके भाव और रचना सरणि का इतना प्रभाव पड़ा कि भाषा को छोड़ शेष दिशाओं में वे दीर्घ काल तक संस्कृत साहित्य के वातावरण में ही साँस लेती रहीं। उनकी भाषा में भी संस्कृत के शब्दों की वहुलता हुई। हाँ, तमिड़ अवश्य अपेक्षाकृत स्वतन्त्र रही। इसका विशेष कारण यह था कि उसमें स्वतन्त्र साहित्य रचना का आरम्भ वहुत पहले स्वतन्त्र रूप से हो गया था। तमिड़ साहित्य प्रायः उतना ही प्राचीन है जितना वैदिकेतर संस्कृत साहित्य।[१] फिर भी उस पर भी संस्कृत भाषा और साहित्य का प्रभाव पड़े विना न रहा। इसी प्रकार दाक्षिणात्य भाषाओं का भी प्रभाव संस्कृत और उसकी परवर्ती भाषाओं और उसके माध्यम से प्राकृतों और जनवोलियों पर भी पड़ा। द्राविड़ भाषाओं के अनेक शब्द शुद्ध संस्कृत, प्राकृतों और जनबोलियों में मिलते हैं, जिनकी खोज स्वतन्त्र रूप से महत्व रखती है।

---

[१] सी० एस० श्रीनिवासाचारी : तामिल लिट्रेचर, एन्साइक्लोपीडिया आफ़ लिट्रेचर, शीप्ले, पृ० ५७५, कालम २.

भाषा की दृष्टि से वैदिक साहित्य अन्य बाह्य प्रभावों से भी वंचित न रह सका। आर्यों का, भारत आने से पहले, राह में अनेक जातियों से शत्रु मित्र का-सा संपर्क रहा था। उनके विचारों, विश्वासों, जीवन और साहित्य पर उनका प्रभाव पड़ना स्वाभाविक ही था। ऋग्वेद और अथर्ववेद में 'तुर्फरी,' 'जुर्भरी',[१] 'आलिगी', 'विलिगी,' 'उरुगुला', 'तैमात',[२] 'यह्वे'[३] आदि पर दिवंगत बालगंगाधर तिलक ने रामकृष्ण भण्डारकर स्मारक ग्रन्थ में विचार करते समय उनके अर्थ के सम्बन्ध में सुमेरी-बाबुली सभ्यता की ओर संकेत किया था। उनका कहना है कि ये दजला-फ़रात की घाटी की प्राचीन भाषाओं के ही शब्द हैं। 'तैमात' को उन्होंने बाबुली का 'तियामत' माना।[४] यह्वा, यह्वे, यह्वती रूप में जिस शब्द का अनेकतः ऋग्वेद[५] में देवार्थ में प्रयोग हुआ

---

१ जर्भरी तुर्फरीतू···, ऋग्वेद, १०, १०६, ६.

२ असितस्य तैमातस्य बभ्रोरपोदकस्य च।
सात्रासहस्यहं मन्योरिव ज्यामिव धन्वनो विमुञ्चामि रथां इव ॥६॥
आलिगी च विलिगी च पिता च माता च।
विद्म वः सर्वतो बन्ध्वरसाः किं करिष्यथ ॥७॥
उरुगुलाया दुहिता जाता दास्यसिक्न्या।
प्रतङ्कं दद्रुषीणां सर्वासामरसं विषम् ॥८॥
·································
ताबुवं न ताबुवं न घेत्त्वमसि ताबुवम्।
ताबुवेनारसं विषम् १० ॥ अथर्ववेद, ५, १३.
देखिए, भ० श० उपाध्याय, संस्कृतियों का अन्तरावलम्बन, भारतीय समाज का ऐतिहासिक विश्लेषण।

३ देखिए, निघण्टु, ११२; २, ९; ३, ३; निरुक्त ८, ८.

४ कैल्डियन ऐण्ड इण्डियन वेदाज़, आर० जी भण्डारकर कमेमोरेशन वाल्यूम, पृ० २९-४२.

५ (धातु यह्=तीव्र गति से जाना, बहना; यह्=जल); अग्नि के लिए ऋग्वेद ३; १, १२, १०, ११०, ३, इन्द्र के लिए, ८, १३, २४; सोम के लिए ९, ७५, १ (यह्वे या जेहोवा यहूदी भगवान का गुह्य नाम था जिसका उसने हज़रत मूसा को भेद बताया)।

है वह वस्तुतः इब्रानी शब्द 'जेहोवा' से निकला है। यहूदी संसार की पहली जाति है जिसने देवताओं की अनन्त परम्परा को हटा कर एकेश्वरवाद का वितन्वन किया। उसका वह ईश्वर जेहोवा था। अग्नि, इन्द्र, सोम, आदि विशिष्ट विशेषण के लिए इसी शब्द का अनेक बार प्रयोग ऋग्वेद में हुआ है। एकेश्वरवाद, बल्कि उससे भी अधिक वेदांत के आभास रूप में, मिस्र के फ़राऊन आमेहेनतेप-इखनातून ने ईसा पूर्व तेरहवीं सदी में सूर्य की शक्ति को प्रतीक मान उसीको विश्व का व्यापक देव घोषित किया।[१] तब उसकी आयु केवल पन्द्रह वर्ष की थी। उसके अपने देश में तो निश्चय वह बौद्धिक लौ बुझ गई, पर अन्यत्र के चिंतन में उसका प्राचीन जगत् पर गहरा प्रभाव पड़ा था।[२] इसमें सन्देह नहीं कि ऊपर के उद्धृत शब्द विदेशी और बाहरी भाषाओं और संस्कृतियों से लिए गए। ये केवल कुछ ही शब्द उदाहरणार्थ दिये गये हैं, वैसे उनकी संख्या वेदों और वैदिक साहित्य में पर्याप्त है। इन शब्दों में से 'आलिगी', 'विलिगी', और 'उरुगुला' का संदर्भ बड़े महत्व का है। अथर्ववेद (ऋग्वेद में भी) के जिस मन्त्र में इनका उल्लेख हुआ है वह साँप का विष झाड़ने का मन्त्र है। ओझा नागी (या साँप) का संबोधन करता हुआ कहता है कि 'आलिगी तुम्हारा पिता है, विलिगी तुम्हारी माता, तैमात (तियामत) और उरुगुला की तुम दुहिता हो, आदि। तियामत या तैमात की ओर पहले संकेत किया जा चुका है। आलिगी और विलिगी में क्रमशः पिता और माता होने का कोई लिंग-चिह्न नहीं है। मन्त्रकार ने, प्रकट है, दोनों का अर्थ जाने बिना ही उनका प्रयोग किया है। वह उलट कर विलिगी को पिता और आलिगी को माता भी कहता तो प्रभाव में कोई अन्तर नहीं पड़ता क्योंकि आज भी मन्त्रों में जैसे निरर्थक पर अद्भुत शब्दों

[१] एच० आर० हाल : द एंशेन्ट हिस्ट्री आफ़ द नियर ईस्ट, पृ० ३००.
[२] वही, पृ० २९९; भ० श० उपाध्याय, द एंशेन्ट वर्ल्ड, पृ० २१.

का प्रयोग होता है। उस काल के ओझा ने भी ऐसे अद्भुत शब्दों का व्यवहार किया है जिनका अर्थ वह नहीं जानता, लिंग-भेद तक नहीं, और जिन्हें वह किसी प्राचीन शब्द-भंडार से चुन लेता है। इस प्रकार के अनेक शब्द तब के मन्त्रकारों के जानने में रहे होंगे, जो अपनी भाषा के होंगे, पर बाहरी होने से उनका सुनने वालों पर असर पड़ सकता होगा। इसीसे इनका प्रयोग हुआ है। प्राचीन सुमेर (बाबुल) के नगर ऊर की खुदाई में एक पट्टिका मिली है जो ब्रिटिश म्यूज़ियम के असीरी-बाबुली विभाग के हैंडबुक में उद्धृत की गई है। वह ऊर के प्रायः ३००० ई० पू० के एक राजकुल की वंशतालिका है,[१] जिसमें दो राजाओं —क्रमशः पिता-पुत्र—के नाम 'एलूलू', 'बेलूलू', दिए हैं। वस्तुतः ये ही आलिगी विलिगी के समीपवर्ती हैं या उनके पूर्वज, जैसे वे 'अलाय' 'वलाय' (अलैय, वलैय) आदि के भी हैं। अलाय, वलाय का कुछ फेर-बदल के साथ इसी अर्थ में प्रयोग अरबी (प्राचीन अरबी, प्रागिस्लामी), फ़ारसी आदि में भी होता आया है। विशेष बात तो यह है कि पट्टिका ऊर नगर में मिली है जिस नगर का उल्लेख उसी मन्त्र के उरुगुला शब्द में हुआ है। इसी शब्द का उत्तरार्ध गुल या गुला शब्द है जिसका प्राचीन बाबुली-असीरी भाषा में (देखिये, बज की तत्सम्बन्धी 'डिक्शनरी') अर्थ होता है 'साँपों के विष का वैद्य'। इस प्रकार वेदों का यह साँप झाड़नेवाला मन्त्र बाबुल और असुर देश के साँप के विष-वैद्यों या ओझों से अपना सम्पर्क स्थापित करता है। निरुक्तकार यास्क को छठी-सातवीं ई० पू० में भी इन शब्दों का अर्थ नहीं ज्ञात था जिससे वह इन्हें 'निरर्थकाः शब्दाः' कहता है। स्वाभाविक ही सन्देह हो सकता है कि तीन-चार सौ वर्ष और पहले के स्वयं मन्त्रकार को इनका अर्थ ज्ञात न था। इस प्रकार विदेशी शब्दों ने न केवल हमारे भाव और भाषा पर प्रभाव डाला है,

---

१ पैट्रिक कार्लटन : बरीड एम्पायर्स, पृ० ९०.

वरन् विश्वास और जीवन पर भी।

'बाल' शब्द, जिसका उपयोग केश और नाज की बालों, दीपक की लौ आदि के अर्थ में होता है, अभारतीय है, प्राचीनतर इब्रानी, प्राचीनतम बाबुली, जिसका मूल अर्थ है, ऊपरवाला, सबसे ऊपर का। इसी 'ऊपरवाला' अर्थ में ही यह मक्के आदि के मस्तक-बाल के लिए, दीप की ऊपर को जलनेवाली वाती (लौ), दूध की बालाई, बालाखाना, बालाई आमदनी के लिए प्रयुक्त हुआ। इसी सम्बन्ध से एक साथ अनेक से सम्बन्धित वरि-वनिता, वारांगना आदि शब्द बने। इसीसे ऋग्वेद के ग्यारह मन्त्रों के कर्ताद्रष्टा बालखिल्य (पुराणों के अनुसार बाल की ही भाँति संख्या में एकस्थ अनन्त साठ हज़ार और अँगूठे के बराबर ऊँचे) ऋषियों का नाम पड़ा। स्वयं बाल, बालक, बाला, बालिका का प्राचीनतम संस्कृत में अर्थ है घोड़े की पूँछ, जो बालमय होने के अतिरिक्त उठने पर अश्व के शरीर का उच्चतम अंग प्रमाणित होती है। स्वामी, सबसे ऊँचा, के अर्थ में मौलिक रूप में यह शब्द बाबुलियों-सुमेरियों ने अपने देवताओं के राजा के लिए प्रयुक्त किया। इसीसे सबसे ऊपर होने से मस्तक का केश और अन्न की बाली के सन्दर्भ में, इस शब्द का संस्कृत आदि भारतीय भाषा में उप-योग हुआ (देखिए, लेखक का लेख, 'बाल और कला,' नागरी प्रचारिणी पत्रिका, १९६३, में)।

इसी प्रकार 'असुर' शब्द का प्रयोग ऋग्वेद से लेकर आज की हमारी प्रांतीय भाषाओं (और हिंदी) तक में होता आया है। यह सही है कि पिछले काल की संस्कृत और हिंदी आदि में इसका प्रयोग 'सुरविरोधी' (न सुराः इति असुराः) अर्थ में हुआ है। वस्तुतः यह शब्द शक्ति प्रकट करता है और 'असवः' (प्राणाः) से बना है। इसी अर्थ में यह पाणिनि आदि द्वारा प्राचीन काल में प्रयुक्त हुआ है, जातिवाचक (जेनरिक) अर्थ में। इसी अर्थ में यह उस असाधारण शक्तिमान विजयिनी 'असुर' जाति को व्यक्त करता है, जिसकी राजधानी असुर थी, जिसका प्रधान

देवता असुर था, जाति का नाम असुर था।[1] ई० पू० दूसरी सहस्राब्दी से ईसा पूर्व ६१२ तक उस जाति ने पश्चिमी एशिया पर अपना प्रभुत्व रखा और हज़ारों पट्टिकाओं, स्तम्भों पर अपनी प्रशस्तियाँ खुदवाईं। उसकी अन्तिम राजधानी निनेवे ई० पू० ६१२ में बाबुल के ख़ल्दी नरेश नाबोपोलस्सर और मीदी आर्य उवक्षयार्ष की सम्मिलित चोट से नष्ट हो गई।[2] असुरों के प्रबल राजा तिगलाथ पिलेज़र, सारगोन, सेनाखरिब, एसरहद्दन, असुरनज़ीरपाल, असुरबनिपाल आदि थे।[3] पिछले दोनों सम्राट् तो शतपथ ब्राह्मण की रचना काल के प्राय: समकालीन थे। इसी शक्तिमान के अर्थ में ऋग्वेद में भी कम-से-कम ग्यारह बार वरुण, इन्द्रादि के विशेषण के रूप में 'असुर' शब्द का उपयोग हुआ है। बहुत पीछे, महाकवि कालिदास ने अपने रघुवंश में रघु की दिग्विजय के क्रम में राजाओं को जीतकर उनका राज्य लौटा देने की जो बात कही (श्रियं जहार न तु मेदिनीम्) और यह रीति 'धर्मविजयी नृप' की घोषित की वह टीकाकार के अनुसार 'असुरविजयी नृप' की नीति के विपरीत थी।[4] असुर-विजयी नृप विजित राजाओं को सर्वथा उखाड़ फेंकता और सिंहासन छीन लेता था। वास्तव में यह उन असुर राजाओं की ही ऐतिहासिक परम्परा थी जिनका उल्लेख ऊपर हुआ है। असुरनज़ीरपाल ने जो बन्दियों की जीवित खाल निकालने और समूची विजित जनता को एक सूबे से उजाड़ कर दूसरे सूबे में बसाने की नीति चलाई उसका निर्वाह उसके सभी वंशधर करते रहे। इस नीति ने संसार के इतिहास में अपना सानी न रखा। उसीका प्रभाव हमारे पीछे के साहित्यकारों की परम्परागत स्मृति पर भी पड़ा। वैसे भी हमारी सारी पौराणिक परम्परा

---

[1] देखिए, लेंगडन की तत्सम्बन्धी डिक्शनरी।

[2] हाल : द एंशेन्ट हिस्ट्री., पृ० ३२२; ४४४—५१७.

[3] वही, पृ० ५१३.

[4] रघुवंश, ४, ४३०.

में असुर देवताओं के शत्रु का प्रतीक बना। यह सम्भवतः आर्य-ईरानी राजाओं की उनसे शत्रुता के कारण हुआ होगा, क्योंकि पहले के वैदिक साहित्य में उनका उल्लेख केवल शक्ति-प्रदर्शन में हुआ है। जो भी हो, असुरों की छाप हमारे प्राचीन-अर्वाचीन सभी परम्परा पर खासी पड़ी और आज भी उस शब्द का उपयोग साहित्य में होता है।

इस देश के साहित्य और विश्वास पर बाबुली (सुमेरी) परम्परा और इतिहास-पुराण के जल-प्रलय की कथा का प्रभाव पड़ा। डाक्टर लियोनार्ड वूली आदि की ऊर, कीश, बाबुल आदि की खुदाई ने उस प्राचीन जल-प्रलय की ऐतिहासिकता सिद्ध कर दी है जो ३२०० ई० पू० के लगभग वहाँ हुआ था।[१] उस घटना को इस देश के अधिवासियों ने अपना माना और अपनी प्राचीन तथा पावन पुस्तकों में उसका उल्लेख किया। जल-प्रलय का इस देश के साहित्य में सबसे प्राचीन उल्लेख शतपथ ब्राह्मण में हुआ है जो सातवीं सदी ई० पू० के लगभग का है। कीलनुमा लेख-पद्धति के अभिलेखों में वह कथा प्रायः २००० ई० पू० में ही सुमेरी (बाबुली) भाषा में लिख ली गई थी।[२] महत्व की बात यह है कि शतपथ ब्राह्मण ने अनजाने अपनी उस कथा के मूल का भी उल्लेख कर दिया है क्योंकि उसमें लिखा है कि मनु (बाइबिल के नूह, सुमेर की वास्तविक घटना के नायक ज़िउसिद्दू) जब प्रलय का जल सूखने के बाद भूमि पर उतरे तब उन्होंने यज्ञ द्वारा भगवान के प्रति अपनी कृतज्ञता जतानी चाही। पर यज्ञ कराने के लिए उन्हें कोई पुरोहित (ऋत्विज) न मिला तब बाध्य होकर उन्हें असुर ब्राह्मण (असुरब्राह्मण इति आहूतः) बुलाना पड़ा।[३] शतपथ ब्राह्मण की रचना काल के पूर्व ही ऋत्विजों की संख्या सत्रह से बीस तक जा पहुँची थी पर मनु के

---

[१] हालः द एंशेन्ट हिस्ट्री., पृ० ४४५.

[२] पैट्रिक कार्लटन : बरीड एम्पायर्स, पृ० ६४, ६५.

[३] अध्याय १, अपा ८-६.

यज्ञ के लिए एक भी ऋत्विज न मिला ! इसका विशेष कारण था। इसी काल असुरनज़ीरपाल के, उसके पूर्ववर्तियों और परवर्तियों के, वे विजयनाद एशिया की हवा में थे जिनकी प्रतिध्वनि शीघ्र ही बाद पाणिनि (हेलय)[१] आदि तक करने लगे थे। कुछ आश्चर्य नहीं कि तभी जब अपनी विजयों से असुर सम्राट् सारे पश्चिमी एशिया के स्वामी हो रहे थे, यह ब्राह्मण रचा गया हो और तभी की जानी हुई वह जल-प्रलय की कथा उस ग्रंथ में पिरो ली गई हो। उन्हीं दिनों असुरबनिपाल और उसके पूर्ववर्ती सम्राट् अपना विशाल पुरातत्व सम्बन्धी संग्रह एकत्र कर रहे थे, संग्रह, जिसमें लाखों लिखी ईंटें भी थीं। इन्हीं में 'गिल्गमेश' के उस प्रसिद्ध महाकाव्य की ईंटें भी थीं, जिसके नायक गिल्गमेश से उसके पूर्वज और जल-प्रलय की कथा के वीर ज़िउसिद्दू ने अपने मुँह से (पौराणिक) वह कथा कही थी।[२] निश्चय जहाँ से यज्ञ के लिए मनु को 'असुरब्राह्मण' बुलाने पड़े थे वहीं से वह कथा भी आई थी और उसे भारत की पवित्रतम पुस्तकों में स्थान मिला। इसी प्रकार की एक और कथा गरुड़ की है जो सर्प से लड़ता है और राजा को लेकर सूर्य तक उड़ने का प्रयत्न करता है।[३] हमारे पुराणों में इसके समानान्तर कथा लिखी है।

कला के क्षेत्र में भी उस काल के कुछ विदेशी प्रभावों की ओर संकेत किया जा सकता है। स्तूपों की अशोककालीन परम्परा बहुत पीछे तो नहीं जाती, पर सम्भवतः संकेत रूप में उसे बुद्ध का समवर्ती आसानी से माना जा सकता है, क्योंकि लिखा है कि बुद्ध के मरने पर जब आठ राष्ट्रों में उनकी भस्म के लिए युद्ध ठन गया, तब उनमें बीच-बचाव कर एक ब्राह्मण ने उसके आठ भाग कर उन्हें दे दिए और उन्होंने अपने-अपने भाग

---

१ अष्टाध्यायी, ५, ३, ११७.

२ पैट्रिक कार्लटन : बरीड एम्पायर्स, पृ० २१०-११.

३ वही, पृ० ७५-७६.

पर स्तूप खड़े किए। स्तूप के दो भेद हैं, स्मारक और अस्थि-धारी। स्मारक ठोस ईंट-पत्थर के बनते थे और बुद्ध, महावीर सम्बन्धी किसी महत्वपूर्ण घटना की याद दिलाते थे। अस्थि-धारी स्तूप वे थे जिनमें बुद्ध, महावीर आदि के भस्म, अस्थि, आदि अवशेष सुरक्षित किये जाते थे। कहना न होगा कि दोनों प्रकार की स्तूपनुमा इमारतें पश्चिमी एशिया और मिस्र में बनती थीं। बाबुल आदि स्थानों में ज़ग्गुरत नाम के मंदिर केवल ठोस इमारत थे जिनके शिखर पर घुमावदार सोपान मार्ग से चढ़ा जाता था।[1] इस प्रकार की इमारतों के अनेकों अवशेष दजला-फ़रात के द्वाब में आज भी खड़े हैं। दूसरे प्रकार के अस्थि-संचायक स्तूप स्पष्टतः पिरामिड हैं, यद्यपि इनका रूप, उनका-सा नहीं है। सातवीं-आठवीं सदी ईसवी पूर्व की एक समाधि उत्तर बिहार के लौड़िया नन्दनगढ़ में खोदी गयी थी।[2] उसका शिखर प्रायः वर्तुलाकार था। जूवों दुब्रइल ने मालाबार में मृतक समाधियाँ ढूँढ़ निकाली थीं, जो पहाड़ों में खोदीं खोखली स्तूपाकार हैं, और जिनके बीच छत तक एक स्तम्भ है।[3] उस पुराविद का कहना है कि ये समाधियाँ काल के विचार से प्रायः वैदिक हैं, अर्थात् भारतीय स्तूपों से अधिक दूर, मिस्र की मृतक समाधियों के निकट। मिस्र के पश्चिमी पर्वतों में प्रसिद्ध पिरामिडों के पहले और पीछे को कटी हुई इसी प्रकार की मृतक समाधियाँ हैं। हमें यह न भूलना चाहिए कि मिस्र और फ़िलिस्तीन (जूदिया और इस्रायल) दोनों से ईसा से प्रायः हज़ार वर्ष पूर्व सुलेमान और हीराम के समय भारत का घना व्यापार संबंध था और भारतीय उन पश्चिमी देशों में पर्याप्त संख्या में जा बसे

---

[1] वही, पृ० ३२, ४६.

[2] आनन्दकुमार स्वामी : हिस्ट्री आफ़ इण्डियन ऐण्ड इन्डोनेशियन आर्ट, पृ० १०; ब्लाक : एक्सकेवेशन ऐट लौरिया, ए० एस० आई० आर्क्यालाजिकल रिपोर्ट, १९०६-०७.

[3] वैदिक ऐण्टिक्विटीज़, हिस्टी आफ़ इण्डियन०, पृ० १०.

थे ।[१] लघु एशिया (एशिया माइनर) के दक्षिण तटवर्ती नगरों पिनारा और ज़ैन्थस की पर्वतों में कटी एक पत्थर की मृतक समाधियाँ भारत के प्राचीनतम चैत्य गृहों की शक्ल की हैं, यद्यपि उनसे बहुत प्राचीन हैं । अशोककालीन अथवा बुद्धकालीन (पिप्रावा) स्तूपों की गोलार्द्धवाली परम्परा, लगता है, बाद में विकसित हुई और, कम-से-कम, रूप में भारतीय ही हैं, यद्यपि अस्थि रखनेवाली प्रथा मिस्र के पिरामिडों से आई हो तो कुछ आश्चर्य नहीं । यह महत्व की बात है कि अशोक ने, जैसा हम आगे देखेंगे, ईरान से अनेक कला, लेखन सम्बन्धी आदि रीतियाँ सीखीं, विशेषकर इस कारण कि तब प्राय: डेढ़ सौ वर्षों तक पंजाब और सिन्ध ईरानी सम्राटों के अधिकार में रहे थे । बुद्ध के समय में भी, तब सिंधु नद से लेकर पूर्वी यूरोप और मिस्र तक की भूमि पर ईरानी दारा का शासन था । कुछ आश्चर्य नहीं कि एक ही साम्राज्य में रहनेवाली जातियों का घनिष्ठ पारस्पर्य उन्हें एक-दूसरे के साथ सांस्कृतिक आदान-प्रदान सुकर कर देता हो ।

स्तूपों के वर्तुलाकार ( अर्द्धवृत्त ) रूप भी दजला-फ़रात के द्वाब ( मेसोपोतामिया—बाबुल और असुर ) में बने गुम्बजों के सदृश ही हैं ।[२] वहाँ ई० पू० पहली सहस्राब्दी में सैकड़ों गुम्बज-नुमा छतें बनी थीं । स्वयं ईरानियों ने असुरों के साम्राज्य वैभव के साथ ही उनकी संस्कृति, वास्तु आदि भी ले ली थी ।[३] उनका ही पक्षधारी मानव मस्तक वृषभ अपादान (दाराकालीन ईरान)

---

१ बाइबिल, राजाओं का खंड (बुक आफ़ किंग्स), द एंशेन्ट वर्ल्ड, पृ० १०८, ९; 'शदीन (सिंध तीर की मलमल) बाइबिल, पुरानी पोथी, मिलाइए—बाबुली वस्त्रों की तालिका का 'सिन्धु' उसी अर्थ में ए० एच० सेस, हिब्बर्ट लेक्चर्स, ८, ७, पृ० १३७-३८.

२ हिस्ट्री आफ़ इन्डियन०, पृ० १२.

३ हिस्टोरियन्स हिस्ट्री आफ़ द वर्ल्ड, भाग १, एसीरियन आर्ट, पृ० ५५२, उपाध्याय : द एन्शेन्ट वर्ल्ड, पृ० ९८.

के शालीन अचरज भरे नन्दी के आदर्श बने, जो बाद में स्वयं अशोक के वृषभ के आदर्श बने। साधारणतः वास्तुविशारद मानते हैं कि गोल मेहराब और प्रशस्त गुम्बज संसार को मेसोपोतामिया की ही देन हैं।[१] ईसा से हज़ार वर्ष पहले से लेकर प्रायः ६०० ई० पू० तक असुरों ने असुर, निनेवे आदि के अपने नगरों में जो वास्तु संबंधी अमर निर्माण किये थे वे क़ला और खोरसाबाद की खुदाइयों से निकलकर यूरोप और अमेरिका के संग्रहालयों में असुर स्थापत्य की महिमा व्यक्त कर रहे हैं। अपने निर्माण के समय भी वे अन्य राष्ट्रों के आश्चर्य और अनुकरण की वस्तु बन गये थे। अनेक असुर स्थपति देशान्तरों की तब माँग और आवश्यकता बन गये थे। हमारे साहित्य, संस्कृति और दाक्षिणात्य सभी साहित्यों में, मय असुर की वास्तु विद्या में बड़ी महिमा गाई गई है। अगणित उल्लेख उसके उस प्रसंग में हुए हैं। सांस्कृतिक आदान-प्रदान और संस्कृति के विकास को देखते यह संभव ही नहीं अनिवार्य प्रतीत होता है कि मय नामक असुर ने इस देश में भी असुर वास्तु के कुछ प्रतीक गढ़े और प्रचलित किये हों।

इस अत्यन्त प्राचीन काल के पश्चिम से संबंध के बाद भारत का दूसरा गहरा संपर्क ईरानियों से हुआ। वैसे कम-से-कम पश्चिमी जगत् में, संबंध की ऐतिहासिक शून्यता कभी नहीं संभव हो सकी। सैन्धव, मिस्री और सुमेरी सभ्यताएँ प्रायः समकालीन थीं। इनमें पहली तो शीघ्र मिट गई पर दूसरी और तीसरी अशोक के समय तक अपनी विरासत की कड़ियाँ एक के बाद एक जोड़ती गईं— मिस्र-सुमेर, मिस्र-सुमेर-बाबुल, मिस्र-बाबुल-असुर, मिस्र-असुर,

---

[१] आर्थर उफ़म पोप : सर्वे आफ़ पर्सियन आर्ट, देखिए पर्सिपोलिस-अपादान के वृषभ शीर्ष—स्तम्भ और विशाल वृषभ-मस्तक। दोनों शिकागो (यू० एस० ए०) विश्वविद्यालय के ओरियन्टल इन्स्टिट्यूट के संग्रहालय में प्रदर्शित।

असुर-ईरान, ईरान-भारत, भारत। ईसा पूर्व चौथी सहस्राव्दी से लेकर ई० पू० तीसरी सदी तक का एशिया का देश और काल संवंधी प्रसार मिस्र से पाटलिपुत्र तक प्रायः एक है। पश्चिम और पूर्व के वीच ईरान विशिष्ट संधिस्थल है। छठी सदी ई० पू० (५१५ और ५१० ई० पू० के वीच कभी) में दारायवौष् (दारा) प्रथम ने, जो अपने को 'आर्यों में आर्य' और 'क्षत्रियों में क्षत्रिय' कहता था, सिंध और पंजाब के एक भाग पर अधिकार कर लिया। उसके प्रसिद्ध लेख नक़्श-ए-रुस्तम के अनुसार भारत, 'हिंदू'[१] (भारतीयों के लिए पहली वार हिन्दू या हिन्दी शव्द का उपयोग दारा के उस अभिलेख में हुआ है) ईरान (फ़ार्स) का 'वीसवाँ' प्रांत (क्षत्रपी) था, अत्यन्त लाभकर, जहाँ से प्रतिवर्ष ईरानी सम्राट् को आय के रूप में ३६० 'ईत्रोई' भार की स्वर्ण धूलि (लगभग डेढ़ करोड़ रुपयों के मूल्य की) मिला करती थी।[२] दारा के पूर्वी यूरोप और दक्षिण रूस की विजयवाले आक्रमण में संभवतः भारतीय योद्धा भी लड़े थे। कम-से-कम उसके बेटे क्षयार्षा (४८६-४६५ ई० पू०) के ग्रीक आक्रमण में तो निश्चय भारतीय सैनिक यूनान के नगरों में लड़े थे (४८० ई० पू०) और उनके रुई के वने कपड़ों और लौह फलकवाले बेंत के लंबे बाणों को देखकर यूनानियों (ग्रीकों) ने आश्चर्य किया था।[३] ३३० ई० पू० की दारायवौष् कोदामानस् (द्वारा तृतीय) और सिकंदर के वीच गोगामेला (या अरबेला) के युद्ध में भी भारतीय योद्धा लड़े थे।[४] उसके कुछ ही काल पहले पंजाव और सिंध के

---

१ दारायवौष का नाक़्श-ए-रुस्तम का लेख, 'हिन्दु'।

२ वही, और देखिए, सेइस : हेरोडोटस, १-३ पृ० २७३, ४४२; कुरूष के साम्राज्य में गांधार, वही, १, पृ० १५३ और १७७; और देखिए—ज़ेनोफ़न : कीरोपेदिया, १; ४, वही, २, १, ११; कुरूष भारतीय युद्ध की चोट से मरा—**क्तेसियस**, ग्लीमोर संस्करण, फ्रैगमेंट १३७.

३ हेरोडोटस, ३, ९४.

४ एबांट : हिस्ट्री आफ़ ग्रीस, खण्ड २.

द्वारा जीते भाग ईरानियों के हाथ में रहे थे। इस प्रकार प्रायः डेढ़ सौ बरस (ल० ५१०-४४० ई० पू०) ईरान और भारत का घना संबंध रहा था। और इस प्रकार ईरान के माध्यम से, जो सिंधु तट से दक्षिण रूस, पूर्वी यूरोपीय सीमा और मिस्र तक का स्वामी था, भारत का संपर्क भूमध्यसागर और नीलनद की घाटी से हो गया था। ईरान न केवल इस सारे भूखंड का स्वामी था वरन् समग्र मिस्री, बाबुली, असूरी सभ्यता और कला का वारिस भी था। उसका और उसके साधन से उस पश्चिमी जगत् का प्रभाव भारत की राजनीति, समाज, साहित्य और कला पर पर्याप्त रूप से पड़ना स्वाभाविक और अनिवार्य था। व्यापार का जलगत और स्थलगत मार्ग प्रस्तुत करने के अतिरिक्त उसका विशाल साम्राज्य चाणक्य और चंद्रगुप्त मौर्य के लिए आदर्श बना, साथ ही उनकी राजनीतिक सावधानी का संकेत भी, क्योंकि चाणक्य ने देखा कि दूर के ढीले प्रांत साम्राज्य को दुर्बल कर देते हैं और उसने अपने भारतीय प्रांतों को शासन केन्द्रों द्वारा जकड़ लिया। साम्राज्य, प्रांत वितरण, शासन केन्द्र और अपनी दुर्बलता से नए उपायों का योग मौर्य शासकों को ईरानी राजनीति से मिला। उसी प्रकार चंद्रगुप्त मौर्य ने ईरानी दरबार की अनेक रीतियाँ अपने दरबार में प्रचलित कीं जिनमें एक सभा-भवन में केशसिंचन की प्रथा थी।[१] परंतु प्रभूत और दूरगामी प्रभाव तो अशोक की नीति, देश की लिपि और साहित्य और कला पर पड़ा।

इस प्रभाव पर तनिक विस्तार से लिखना उचित होगा। अत्यन्त प्राचीन काल (सैंधव सभ्यता ३२५० ई० पू०-२७५० ई० पू०) के अतिरिक्त अशोक (ल० २७२-२३२ ई० पू०) से पहले प्रायः हज़ार वर्ष तक भारत में लिखने की प्रथा का अभाव

---

[१] मुखर्जी : हिन्दू सिविलाइज़ेशन, पृ० २८९; देखिए, एरियन : अनाबासिस्, पृ० ३, ८, ३-६.

था, कम-से-कम उसकी जानकारी के अकाट्य प्रमाण नहीं मिलते। उससे तीन सौ वर्ष पहले के लेख तो मिलते ही नहीं, और इन तीन सौ वर्षों के भीतर भी अभिलेखों की संख्या दो-चार ही है और कम-से-कम शैली ( इबारत ) के साथ लंबा अभिलेख तो बिलकुल ही नहीं मिलता। यह कहना ( जबतक कि 'ब्राह्मी' लिपि के मूल का पता नहीं लग जाता ) तो कठिन है कि भारत में लिखने की परिपाटी नहीं थी ( और ब्राह्मी का आरंभ न तो अशोक ने किया और न शायद वह ईरानी आधार से उठी), परन्तु यह भी कुछ कम कुतूहल की बात नहीं कि अशोक से पूर्व या कम-से-कम ईरानी संबंध के पूर्व के संस्कृत साहित्य में 'लिपि' अथवा इसका कोई निश्चित पर्याय प्रकट रूप में प्रचलित नहीं मिलता। स्वयं अशोक ने जिन 'लिवि' (लेखन), 'लिबिर' (लेखक), 'दिबि' (लेखन) 'दिविर' शब्दों का उल्लेख किया है वे उस काल के पह्लवी (ईरानी, फ़ारसी) हैं। अशोक ने अपने कुछ अभिलेख ( सीमाप्रांत, काबुल घाटी के ) दाहिनी ओर से बाँई ओर लिखी जानेवाली खरोष्ठी लिपि में लिखवाई जो अरमई ( ईरानी ) का ही एक रूप है। इसके अतिरिक्त उसके एकाध लेख अरमई भाषा में भी लिखे मिले हैं जिससे सिद्ध है कि उत्तर-पश्चिम में अरमई लिखी-पढ़ी जाती थी और वहाँ की प्राकृतों ( जनबोलियों ) और साहित्य पर उस काल की फ़ारसी का खासा प्रभाव था। इस देश में साधारणतः अभिलेखों का प्रायः सर्वथा अभाव था ही, राजनीति के क्षेत्र में तो उनका अशोक से पहले कभी उपयोग ही नहीं हुआ था। उधर ईरान, असुर, बाबुल और मिस्र में हजारों वर्ष से चट्टानों, स्तंभों और ईंटों पर विजय-प्रशस्ति लिखाने की प्रथा चली आती थी। अशोक से प्रायः डेढ़ सौ वर्ष पहले के दारा के बेहिस्तून और नक्श-ए-रुस्तम के प्रशस्त अभिलेख इसी प्रकार की प्रशस्तियाँ हैं। सो न केवल अशोक अपने पड़ोसी शासन से अभिलेखों की प्रथा लेता है, वरन् उसके अभि-लेखों के प्रारंभिक शब्द 'देवानं पियो पियदसि राजा (लाजा) एवं

( हेवं ) ग्राह ( ग्राहा )' प्राय: वही हैं, जो दारा के ग्रभिलेखों के हैं—'थातिय् दारायवोष क्षयाधिय ...' । इस प्रकार ग्रपने देश में उस परंपरा के ग्रभाव में पड़ोसी देश की परंपरा में ग्रशोक के शिलालेख ग्रौर स्तंभलेख सहसा ग्रमित मात्रा में लिख गए। ग्रशोक ने उस स्वाभाविक मानव दाय का प्रचुर उपयोग किया।

इससे भी ग्रधिक महत्व का ईरानी प्रभाव भारतीय मूर्तिकला पर पड़ा। भारत में ग्रशोक से पहले की मूर्तियाँ पारखम यक्ष ग्रौर उसी शैली की एक ग्राध ग्रौर, मनसा देवी ग्रादि, को छोड़ केवल सैंधव सभ्यता की, प्राय: डेढ़ हज़ार वर्ष पूर्व की हैं। पारखम यक्ष ग्रशोक से सौ-डेढ़-सौ साल पुराना है पर ग्रत्यंत भोंड़ा, कला की दृष्टि से सारहीन, रुखड़ा, ग्रशोकीय नागर स्निग्धता के सर्वथा विपरीत। जो कोई भारतीय कला को भारत से विलग होकर बाहर से देखता है उसे मौर्य कला पश्चिमी एशियाई कला का एक ग्रंग (चाहे जितनी भी विशिष्ट, पर ग्रंग ही) जान पड़ती है। वह कला नि:संदेह ग्रसाधारणरूप से परिष्कृत ग्रौर प्रौढ़ है, पर है वह एक शैली की ही परिणति। यहाँ मौर्य मूर्तिकला ग्रौर साधारण रूप से समूची कला के संबंध में कुछ बातें नितांत विचारणीय हैं। कला प्रयोगप्रधान वस्तु है। ग्रभ्यास, ग्रनुक्रम ग्रौर शृंखलाबद्ध विकास उसके स्वरूप हैं। केन्द्रीभूत निष्ठा ग्रौर ग्रविरल साधना उसकी सफलता के लिए ग्रनिवार्य हैं। कला के क्षेत्र में ग्रीकों की देवी मिनर्वा की भाँति सहसा कुछ प्रसूत नहीं हो सकता, ग्रौर प्राय: डेढ़ हज़ार वर्षों का ग्रन्तर, दूर की सैंधव कला से किसी प्रकार मौर्य (ग्रशोकीय) कृतियों का प्रेरणा पाना ग्रसंभव कर देता है। ग्रौर इसमें तनिक भी संदेह नहीं कि ग्रशोक को किसी सैंधव सभ्यता का लेशमात्र ज्ञान भी न था। ग्राज हम उस सभ्यता के विषय में पर्याप्त ज्ञान रखते हैं, ग्रशोक ने उसका नाम भी न सुना था। फिर ग्रशोक की प्रस्तर कृतियों की ग्रद्भुत पालिश ग्रौर चमक उन्हींके साथ शुरू भी होती है, खत्म भी हो जाती है। इस देश में उसका विकास तो दूर रहा,

न तो उस काल से पहले कोई उसे जानता था न पीछे। इससे यह निष्कर्ष स्वाभाविक हो जाता है कि स्तंभों और उनके पशु-शीर्षों के 'अभिप्राय' (मोटिफ़) और उनकी पालिश उसी दिशा से इस देश में आई, जिस दिशा से अशोक की खरोष्ठी लिपि और अरमई भाषा, अभिलेखों की परंपरा और उनकी भूमिका तथा उसके पितामह (चन्द्रगुप्त) के सभाचार आये थे—उसी शक्ति के देश से, जिसके अधिकार में भारत का एक भाग डेढ़ सौ वर्ष तक रह चुका था और जहाँ उनकी घनी और अटूट परंपरा थी—सहस्राब्दियों प्राचीन, उस देश को, जहाँ वह परंपरा न तो पहले साहित्य में थी, न कला में। फिर देश और काल दोनों की परिधि के भीतर ही, सीमा के ईरान में ही, अशोक के समय से प्रायः सौ वर्ष के भीतर ही, उसकी कृतियों के प्रतीक, अभिप्राय और आदर्श प्रस्तुत हो चुके थे। शिकागो विश्वविद्यालय के प्राच्य प्रतिष्ठान के संग्रहालय में रखा अपादान (ईरान) का वृषभशीर्ष-स्तंभ अशोक के पशु-शीर्ष-स्तंभों का पुरोगामी प्रतीक है।[१] वस्तुतः इस वृषभ के संबंध में कला असाधारण रूप से क्रमागत रही है। उसने प्रायः एक समूचा काल चक्रम पूरा किया है। यह तो सही-सही नहीं कहा जा सकता कि वृषभ का अभिप्राय (मोटिफ़) पहले-पहल कहाँ उदय हुआ—भारत (सैंधव सभ्यता) में या मिस्र (द्वितीय राजवंश के काकौस ने ३००० ई० पू० से पहले मिस्र में वृषभ की पूजा प्रचलित की थी)[२] में, परन्तु यदि मिस्री (एपिस) और सिंधी (ब्रह्मनी) वृषभ समकालीन भी रहे हों तो उनका यह रूप (अभिप्राय) बाबुल, असुर और ईरान होता इस देश को लौट आया है। यहाँ हमारा इष्ट वृषभ या नंदी की पूजा प्रारंभ करनेवाले देश का पता लगाना नहीं वरन् अशोकीय अभिप्रायों (कृतियों) के उन निकट पुरोगामियों को

---

१ देखिए, उस संग्रहालय का वह स्तम्भ नं० एन० २६०५१.

२ हाल्मन : एन्शेन्ट हिस्ट्री ऑफ़ इण्डिया, पृ० ११०.

निश्चित करना है, जो वृषभ के अतिरिक्त भी वृषभ की ही भाँति, हम्मुराबी (ल० २००० ई० पू०) के अभिलेखधारी स्तंभों से लेकर असुरनज़ीरपाल, असुरबनिपाल और उनके वंशधरों की कृतियों की राह हखमनी सम्राटों की मंज़िलें पार करते अशोक तक चलते चले आए थे। मौर्योत्तरकालीन कृतियों से अशोकीय (ईरानी) पालिश का लोप हो जाना प्रमाणित करता है कि भारतीय सीमा प्रदेश की सामाजिक स्थिति को डावांडोल और क्षुब्ध कर देनेवाली हिंदुकुश पार की प्रबल घटनाओं के कारण वे हाथ अब उपलब्ध न थे, जिन्होंने कला की पालिश प्रस्तुत की थी। इस प्रकार विदेशी छेनी का भारतीय अभिप्रायों और कला प्रतीकों में उपयोग पीछे की सदियों में तो भरपूर हुआ। तक्षशिला और अन्य ग्रीक नगरों में बौद्ध कथाओं को कोरने-उभारने में वह छेनी इतनी गतिशील रही कि उसने प्रतीकों के भारतीकरण का एक आंदोलन ही चला दिया। यह आंदोलन, कुछ आश्चर्य नहीं, जो ईरानी टेक्नीक का भी विरोधी हो गया हो।

ऊपर के प्रमाणों से प्रकट है कि भारत ने आर्यों के इस देश में आने से पहले और बाद भी किस मात्रा में अपनी संस्कृति के अंगांग विदेशों और विजातियों से लिए और उनके द्वारा अपनी सांस्कृतिक काया को पुष्ट करते हुए उस स्वाभाविक परम्परा को प्रमाणित किया जो सदा संस्कृतियों के विकास की कारण है।

●

अध्याय दो

# ● ● यवन-पह्लव

मौर्यकाल के बाद की शताब्दियाँ भारत के लिए बड़ी विपज्जनक सिद्ध हुईं। स्वयं मौर्य साम्राज्य सिकन्दर के आक्रमण की उथल-पुथल के बाद खड़ा हुआ था, उसके परिणामों की समृद्धि के लिए सिकन्दर के आक्रमण का बहुत गहरा प्रभाव तो देश पर नहीं पड़ा, फिर भी उसे सर्वथा नगण्य भी नहीं ठहराया जा सकता। यह सही है कि चाणक्य-चन्द्रगुप्त ने सिकन्दर के विजय-चिह्नों को प्रायः मिटा दिया, भारतीय साहित्य ने उसकी कहीं चर्चा तक न की, परन्तु इतने पैमाने के हमले सर्वथा परिणामहीन भी नहीं हुआ करते, यह मानना होगा।

सिकन्दर के आक्रमण का एक विशेष परिणाम तो यूरोपीय देशों से भारत का सम्बन्ध स्थापित हो जाना ही हुआ। शासक सेनाएँ भारतीय प्रहारों से अधिकतर नष्ट हो गईं, पर, चन्द्रगुप्त मौर्य की चोट के बावजूद, सिकन्दर के बसाए निकाइया, बुकाफ़ेला आदि नगर कुछ काल तक बने रहे। सीमा के नगरों में ग्रीक बस गए—यह दूसरा परिणाम था। तीसरा परिणाम यह हुआ कि भारतीयों को अपनी सामरिक दुर्बलता ज्ञात हो गई। पंजाब के छोटे-छोटे राज्यों के नष्ट हो जाने से मौर्य साम्राज्य

के एकतन्त्री शासन के लिए भूमि तैयार हो गई। पर ग्रीक नगर-राज्यों की ही भाँति भारतीय गणतन्त्रों के नष्ट हो जाने से लोकतांत्रिक आधार उखड़ चला। सिक्कों के क्षेत्र में सम्भवत: कुछ प्रगति हुई। एथेंस के 'उलूकीय' सिक्कों और 'अत्तिक' भार के अनुकरण में यहाँ भी कुछ चाँदी के सिक्के बने। पर चाँदी के विशिष्ट और वास्तविक सिक्के तो भारत को मौर्योत्तर ग्रीकों ने दिए।

ऊपर मौर्यों के पतन के बाद की विपज्जनक स्थिति की ओर संकेत किया जा चुका है। पिछले मौर्य राजाओं की दुर्बलता और एशियाई ग्रीकों के चुटीले घावों ने साम्राज्य के प्रान्तों को छिन्न-भिन्न कर दिया। ईरानी साम्राज्य के आधार पर सिकंदर का साम्राज्य खड़ा हुआ पर उसका लावारिस यूरोपीय एशियाई मिस्री साम्राज्य भी अनेक स्वतन्त्र और परस्पर संघर्षशील ग्रीक राज्यों में बँट गया। मकदूनिया से बाख्त्री (वह्लीक) तक ग्रीक प्रभुत्व छाया हुआ था। एशिया की भूमि पर असंख्य ग्रीक बस्तियाँ बस गई थीं। इन्हीं में से एक आमूदरिया (वक्षु नद) की घाटी के बाख्त्री का राजकुल बड़ा प्रबल और मौर्य साम्राज्य तथा उस काल के भारतीय समाज के लिए बड़ा घातक सिद्ध हुआ। सिकन्दर ने उदीयमान ग्रीक राज्यों और साहसिकों को राह दिखा दी थी। सिकन्दर के बाद पहला ग्रीक आक्रमण उसी के एक जनरल, और अब सीरिया के सम्राट्, सिल्यूकस का हुआ। उसका परिणाम यह हुआ कि हिन्दुकुश-पर्यन्त सारे प्रदेश भारत से आ मिले।

उसी सिल्यूकस के वंशधर अंतिओकस् द्वितीय के शासनकाल में एक महती क्रांति हुई जिससे भारत पर भी दूरगामी प्रभाव पड़ा। उसके परिणामस्वरूप एशिया के दो प्रान्त सीरिया के साम्राज्य से सहसा स्वतन्त्र हो गए, पार्थव और बाख्त्री के। इनमें पहला ईरानी था, दूसरा गीक। शीघ्र बाख्त्री की शस्य-श्यामला घाटी में मैग्नेशिया के स्वच्छन्द सामरिक यूथिदेमो ने

जिस राज्य की शक्ति प्रतिष्ठित की उसका विशिष्ट राजा उसी का पुत्र दिमित्रिय हुआ। दिमित्रिय का श्वसुर सीरिया का अंतिओकस तृतीय था जिसने सिल्यूकस के बाद हिन्दुकुश लाँघा। उसे तो तत्काल स्वदेश लौट जाना पड़ा, पर अपने आक्रमण द्वारा जिन हमलों का उसने उन दिनों आरंभ किया उनका ऐसा ताँता बँधा कि वह तीन सौ सदियों तक बराबर चलता रहा।[१] और इन हमलों का अधिकतर आधार बाख्त्री ही था। दिमित्रिय ने शीघ्र स्वयं अपने आक्रमणों की परम्परा बाँध दी, जिससे वह भारत का 'राजा' (रेक्स इन्दोरम) ही कहा जाने लगा। भारत पर ग्रीक आक्रमणों के परिणाम जानने से पूर्व बाख्त्री-भारत के सम्बन्ध को समझ लेना आवश्यक होगा।

दिमित्रिय के आक्रमण इतने तीव्र और महत्व के हुए कि ग्रीक इतिहासकारों ने तो उसे 'भारत का राजा' कहा ही, भारतीय साहित्य में भी उसका विशद उल्लेख हुआ।[२] पतंजलि ने अपने 'महाभाष्य' में उनके आक्रमण का उल्लेख किया (अरुणद् यवनः साकेतम्, अरुणद् यवनो माध्यमिकाम्),[३] 'गार्गी-संहिता' के युगपुराणकार ने उसे 'धर्ममीत' कहकर सराहा,[४] और समकालीन कलिंगराज खारवेल ने अपने हाथीगुम्फा के अभिलेख में 'दिमित' नाम से प्रकाशित किया।[५] पंचाल (गंगा-यमुना के बीच का द्वाब) और साकेत, नगरी आदि को रौंदता

---

१ स्त्राबो; देखिए, डब्ल्यू० डब्ल्यू० टार्न, **ग्रीक्स इन बैक्ट्रिया ऐण्ड इण्डिया**, पृ० १४४ और अन्यत्र।

२ गार्गीसंहिता का युगपुराण; देखिए, विक्रम जयंती ग्रन्थ, ग्वालियर (लेखक का) पहला लेख, युगपुराण का संस्कृत पाठ 'धर्ममीत'; 'योनराज दिमित', खारवेल का हाथीगुम्फा लेख; पतंजलि के 'सौवीरों का दत्तामित्री', देखिए, टार्न : ग्रीक्स०, पृ० १४२ और नोट।

३ महाभाष्य, ३, २, ११.

४ देखिए, ऊपर।

५ देखिए, ऊपर।

वह पाटलिपुत्र (पटना) जा पहुँचा। मध्यप्रदेश पर यह पहला विदेशी आक्रमण था। पर अपने गृहयुद्ध से सशंक होकर दिमित्रिय को शीघ्र उलटे पाँव लौटना पड़ा। उसका सफल प्रतिस्पर्धी उक्रेतिद स्वयं विजेता था और उसने पश्चिमी पंजाब पर अधिकार कर लिया था। इस प्रकार बाख्त्री, काबुल, गांधार और पश्चिमी पंजाब पर उक्रेतिद के कुल का राज्य स्थापित हुआ और सिंध तथा पूर्वी पंजाब और पश्चिमी उत्तरप्रदेश पर दिमित्रिय और उसके वंशजों, सम्बन्धियों का शासन प्रतिष्ठित हुआ। उसका दामाद मिनांदर, जिसका बौद्ध नाम मिलिन्द हुआ, पूर्वी पंजाब और पश्चिमी उत्तरप्रदेश का स्वामी था। उसकी राजधानी साकल (स्यालकोट) थी और उसके राज्य की सीमाएँ पुष्यमित्र शुंग की मागध सीमाओं से टकराती थीं।[1] ग्रीक मध्यदेश के प्रायः एक भाग तक छाये हुए थे। उनका प्रभाव देश पर होना अनिवार्य था।

इन ग्रीकों का भारत से सम्बन्ध न सिकन्दर का-सा था न पिछले यूरोपीय जातियों का-सा। ये भारत में रह जाने के लिए आ बसे थे। इसी देश को उन्होंने अपना घर बनाया और इसी के धर्मों में वे दीक्षित हुए। दो सदियों से ऊपर उनका जो इस देश पर स्वत्व बना रहा और शक्ति खोकर भी जो वे बाहर न लौट इसी देश की जनता में खो गए, तो उनका भारत की राजनीति, समाज, धर्म, कला, साहित्य आदि पर गहरा प्रभाव पड़ना स्वाभाविक था। नीचे हम उसी पर प्रकाश डालेंगे।

जिन 'दुष्टविक्रांतयवनों' का गार्गीसंहिता के युगपुराण ने सविस्तर उल्लेख किया है, उनके अनेक सर्वथा ग्रीक, ग्रीकप्रधान अथवा ग्रीक मुहल्लोंवाले नगर भारत में बस गए थे। युथिदेमिया, पत्तल, दत्तामित्री, उक्रेतीदिया, तक्षशिला और साकल ऐसे ही नगर थे जहाँ ग्रीक लोग अपने प्रख्यात नाटककारों के नाटक खेलते थे,

---

[1] टार्न : ग्रीक्स् इन बैक्ट्रिया ऐण्ड इण्डिया।

ग्रीक कला, साहित्य आदि की साधना करते थे। सन्त क्रिसोस्तोम (११७ ई०) ने जो कहा है कि "भारतीयों ने होमर का अपनी विविध भाषाओं में अनुवाद कर लिया है और उन्हें वे प्रायः गाया करते हैं," और जिसे प्लुतार्च ने दुहराया है, संभव है सर्वथा सही न हो और रामायण तथा इलियद की समानताएँ नगण्य हों, तथापि इसमें सन्देह नहीं कि ग्रीक और भारतीय भाषाओं की एक-दूसरे के प्रति प्रतिक्रिया हुई। यह प्रतिक्रिया या प्रभाव कितना गहरा गया, यह कहना तो कठिन है पर अपने साहित्य में जो अनेकतः संकेत मिलते हैं उनसे प्रमाणित है कि भाषा और साहित्य की दिशा में भी ग्रीक प्रभाव नगण्य न था।

ग्रीक अर्थ में तो पतंजलि के महाभाष्य और मनु की स्मृति से लेकर संस्कृत के पिछले साहित्य तक में यवन शब्द का निरंतर प्रयोग होता ही आया है, ग्रीक भाषा के अनेक शब्दों और लाक्षणिक पदों का भी पर्याप्त उपयोग हुआ है। पाँचवीं सदी ई० पू० के स्वयं पाणिनि ने यवनानी लिपि का उल्लेख किया है।[1] लिखावट से भाषा का घना सम्बन्ध होता है, लिपि लेते ही भाषा भी, कम-से-कम शब्दों के रूप में, आदमी अनजाने ले लेता है। संस्कृत में अनेक ग्रीक शब्दों का उपयोग हुआ है। प्राकृतों में भी उनके होने की कुछ कम संभावना नहीं है। संस्कृत में व्यवहृत कुछ ग्रीक शब्द निम्नलिखित हैं : सुरंग (हिन्दी में भी, ग्रीक सीरिंक्स से), क्रमेल (ऊँट, कामेल से), कलम, मरगा आदि।[2]

इसी प्रकार अनेक ज्योतिषपरक ग्रीक शब्दों का प्रयोग भी संस्कृत में हुआ है, जिनसे उस दिशा में भारत की भाषाओं पर ग्रीक का प्रभाव प्रकट होता है। जन्मपत्रियों के लिए संस्कृत में

---

[1] अष्टाध्यायी, ४, १, ४६; कीथ : हिस्ट्री आफ़ संस्कृत लिट्रेचर, पृ० ४२५.

[2] कीथ, वही।

अपना शब्द नहीं है, सदा उसके लिए ग्रीक होराचक्र का प्रयोग होता आया है। जन्मपत्रियों आदि के खंड के लिए वराहमिहिर ने 'होरा' शब्द का व्यवहार किया है।[१] होरापाठक नक्षत्र या जन्मपत्रियों को पढ़नेवाला है। इसी प्रकार ग्रीक ज्योतिष से लिये संस्कृत के कुछ लाक्षणिक शब्द हैं, पणफर (एपानाफ़ोरा), आपोक्लिम (ग्रीक अपोक्लिम), हिबुक (हिपोगियोन्),[२] त्रिकोण, जामित्र (यह लग्न विवाह के लिए अत्यन्त शुभ माना जाता है)। कालिदास ने कुमारसम्भव में देवदम्पति शिव और उमा को विवाहसूत्र में बाँधने के लिए यही लग्न चुना है। इसका ग्रीक मूल है द्यामितर (द्यामित्रान्), मेषूरण (मेसूरनिओस्)। भारतीय ज्योतिष के राशिचक्र (ज़ोदियक) के सभी संस्कृत नाम ग्रीक मूल या अनुदित रूप में ही व्यवहृत होते हैं, जैसे क्रिय (कियास्. मेढ़ा), ताबुरि (अथवा तौरुरी, ग्रीक तौरस्, वृषभ), जितुम (दिदिमस्), लेय (लियो, सिंह), पाथोन (पाथेन, कन्या ग्रीक पार्थेनस्), जुक (जुगोन्), कौर्प्य (स्कार्पियस्, वृश्चिक), तौक्षिक (धनुर्धर) आदि। इसी प्रकार कुछ अन्य शब्द हैं, आनोकेरो (ऐगोकेरस्), हृद्रोग (हिद्रोल्स),[३] इत्थ्य (इत्थ, इथुसि ग्रीक इख्यिस्)। ग्रीक ज्योतिष के शब्द अधिकतर सिकन्दरिया (मिस्र का ग्रीक नगर अलेग्ज़ेन्द्रिया) से आये थे, जिसे भारतीय यवनपुर कहते थे।[४] उनके पाँच सिद्धान्तों में से एक रोमक सिद्धांत अपना मध्याह्न (खमध्य, याम्योत्तरवृत्त) उसी नगर से गिनता था।[५]

भारतीय ज्योतिष पर ग्रीक ज्योतिष का प्रभाव केवल निष्कर्षतः नहीं माना जाता। भारतीय ज्योतिषाचार्यों ने इसे स्वीकार किया है। प्राचीन ज्योतिष ग्रंथ गार्गीसंहिता का कहना

---

१ वराहमिहिर के ग्रन्थ का नाम ही 'होराशास्त्र' है।

२ कीथ, हिस्ट्री आफ़ संस्कृत०, पृ० ५३०.

३ कीथ, वही, पृ० ५३०.

४ वही, पृ० ५१८.

५ वही।

है कि यवन (ग्रीक) यद्यपि म्लेच्छ हैं, परन्तु चूंकि ज्योतिप शास्त्र का आरम्भ उन्होंने ही किया है, इससे वे ऋषिवत् पूज्य हैं। इस प्रकार गर्ग ज्योतिष शास्त्र का आरम्भ यवनों से मानते हैं। प्रमाणतः ही उन्हें ज्ञात न था कि ज्योतिप शास्त्र का वास्तव में प्रारंभ बावुलियों ने किया था जिनसे ग्रीकों ने लिपि के साथ-साथ वह शास्त्र भी सीख लिया था। वराहमिहिर (मृत्यु ५८७ ई०) ने अपनी पंचसिद्धांतिका में ज्योतिष के पाँच सिद्धान्तों का संग्रह किया है, उनमें पहले पितामह के अतिरिक्त शेप सभी चारों पर कम-बेश ग्रीक ज्योतिष का प्रभाव लक्षित है। उनमें दो रोमक और पौलिश, जैसा नाम से ही प्रकट है, तो स्पष्ट ही विदेशी सिद्धांत हैं, एक रोम से सम्बन्ध रखनेवाला, दूसरा ग्रीकों से। रोमवाला भी नाममात्र से ही रोम से सम्बन्ध रखता है, वरन् है वह भी ग्रीक आचार्यों का ही, सिकन्दरिया से सम्बन्धित। पौलस अलेक्ज़ान्द्रिनस् का नाम प्राचीन आचार्यों में गिना जाता है। उसका एक ज्योतिप ग्रंथ आज भी हमें उपलब्ध है। भारतीय ज्योतिप के प्राचीन आचार्यों—सत्याचार्य, विष्णुगुप्त, देवस्वामिन्, जीवशर्मन्, पिंडायु, पृथु, शक्तिपूर्व, सिद्धसेन—के जो नाम वराहमिहिर ने गिनाये हैं, उन्हीं में तीन विदेशी आचार्यों के नाम भी हैं—मय, मणित्थ और यवनाचार्य। मय का उल्लेख असूरी स्थापत्य के सम्बन्ध में पहले भी किया जा चुका है। साधारणतः यह माना जाता है कि भारतीयों ने भविष्यकथन की विद्या बावुलियों से सीखी। सम्भवतः राशिचक्र भी पहले-पहल, ग्रीकों से भी पूर्व, उन्होंने ही स्थापित किया। असुर राजाओं के दरबार में, असुर और निनेवे में, देव-चिंतक रहते थे। राजा सारे कृत्य, विशेपकर विजययात्रा, उनसे पूछकर ही करता था। भारतीय नीतिग्रंथों में भी राजा को अपनी सभा में देव-चिंतकों को रखना आवश्यक था। कौटिलीय अर्थशास्त्र आदि ने उसका विधान किया है। सूर्यसिद्धांत का कहना है कि उसे सूर्य भगवान ने रोमक (नगर) में असुर मय को सिखाया। (यह स्मरण

रखने की बात है कि २००० ई० पू० में बाबुली हम्मुराबी को भी सूर्य से ही दंडविधान मिलने का उल्लेख उस काल के उसके स्तंभ में हुआ है)। रोमक सिद्धांत भारतीय युग विधान को नहीं मानता और मध्याह्न की गणना यवनपुर (मिस्र की ग्रीक नगरी सिकन्दरिया) से करता है। पौलिश सिद्धांत यवनपुर और उज्जैन की दूरी देशांतर में देता है। सूर्यसिद्धांत रोमक और पौलिश दोनों से पूर्णतर है और सम्भवतः दोनों के अनेक सिद्धांत स्वायत्त कर उनके भारतीकरण का उदाहरण प्रस्तुत करता है। क्रांतिवृत्त का नाक्षत्रिक विभाजन होते ही ग्रीकों का राशिचक्र, उनके नाम के साथ, ले लिया जाता है। अब तक उपेक्षित ग्रहों की गति परिचक्रों के सिद्धांत द्वारा निर्दिष्ट होने लगती है। अक्षांशभेदांश (लंबन) के सिद्धान्त और उसकी गणना की विधियों का आरम्भ हो जाता है। ग्रहणों की गणना की नई विधियाँ स्वीकृत होती हैं। नक्षत्रों का, सौर उदयास्त का, मानव प्रारब्ध पर उनके फल के साथ अध्ययन प्रारम्भ हो जाता है। दिन-रात का सही मान और वर्षा का नया परिमाण प्रस्तुत होता है। ग्रहों के नाम पर सप्ताह के दिनों के नाम रख लिये जाते हैं। पौलिश सिद्धांत के आधार पर ही भारतीय त्रिकोण-मिति (ग्रीक त्रिगोनोमेत्री) का उदय होता है। तोलेमी की तन्तु-पीठिका से उसकी अपनी चिह्नपीठिका प्रस्तुत होती है पर व्यासादि को ६० भागों में बाँटकर वे १२० भागों में बाँटते हैं जिससे चिह्न आधे-आधे कोण के हो जाते हैं।

ज्योतिष के ग्रन्थ यवनजातक के एक टूटे अंश से पता चलता है कि संस्कृत में अपनी भाषा से उसका अनुवाद किसी यवनेश्वर ने किसी अज्ञात संवत् के वर्ष ६१ में किया। स्वयं वराहमिहिर ने यवनाचार्य का नामोल्लेख किया है। यवनजातक के एक पिछले पाठ का रचयिता भी कोई मीनराज यवनाचार्य ही है। ऊपर मणित्थ के नाम का भी उल्लेख किया गया है। उसके सिद्धांत के सम्बन्ध में कहते हैं कि वह वराहमिहिर और सत्याचार्य

से विपरीत प्राचीन ग्रीकशास्त्र के अनुकूल था। सम्भवतः मणित्थ अपेतेलेस्माता का रचयिता था। वस्तुतः सूर्य से वराहमिहिर की ग्रहगणना का आरम्भ भी तभी हुआ। प्रायः तभी भारत ने यहूदी ईसाई साप्ताहिक तिथिचक्र (कलेंडर) भी स्वीकार किया था। ईसाई रोमन सम्राट् कोन्स्तान्तीन ने ३२१ ईसवी में इन ग्रहों के नामोंवाले सप्ताह को प्रचलित किया और रविवार को आराम का दिन माना था।[१]

वराहमिहिर ने तो अपनी वृहत्संहिता के एक खंड का नाम 'होरा' रखा ही था, एक ७५ छंदों के पृथक् होराशास्त्र की भी उसने रचना की थी। इसी प्रकार उसके पुत्र पृथुयशस् ने भी होराषट्पञ्चाशिका नाम का ज्योतिष ग्रन्थ रचा। ग्रीक सिद्धांतों और लाक्षणिक शब्दों से इस देश का ज्योतिषशास्त्र समृद्ध हुआ।

ग्रीकों का प्रभाव केवल ज्योतिष सम्बन्धी साहित्य पर ही नहीं पड़ा। अन्य साहित्य भी उस सम्पर्क से वंचित न रह सके। दर्शन, गणित और कथा-साहित्य में ग्रीस और भारत अत्यन्त प्राचीन काल से स्वतंत्र रूप से महान् रहे हैं। अनेक समानान्तर सिद्धांत और कहानियाँ उनकी प्रायः एक ही रूप में विकसित हुई हैं, पर यह कहना कठिन है कि उस दिशा में भी दोनों में आदान-प्रदान हुए हैं। इसी प्रकार यह कहना भी कठिन है कि इस देश के अनेक ग्रीक नगरों में यूनानी रंगमंच रहते भी उसका भारतीय रंगमंच या नाटक पर कुछ प्रभाव पड़ा या नहीं। फिर भी उस दिशा में रंगमंच की व्यवस्था सँवारने में संभवतः ग्रीक परम्परा का एक सीमा तक हाथ रहा है। 'यवनिका' शब्द, जिसका अर्थ ड्रापसीन का पर्दा होता है, उस दिशा में ग्रीक रंगमंच के प्रति भारत का ऋण प्रकट करता है। निश्चय यह केवल ग्रीक पट का द्योतक नहीं है, जैसा कुछ लोगों ने उसका अर्थ लगाने का प्रयत्न किया है, बल्कि वह भारतीय रंग-व्यवस्था का एक अंग

---

१ कीथ : वही, पृ० ५३१.

है। इसी प्रकार, लगता है, हास्यपूरित ग्रीक 'कोमेदी' ने भी तीसरी सदी ईसवी के लगभग लिखे शूद्रक के नाटक मृच्छकटिक पर अपनी छाप छोड़ी है। भारतीय नाटकों में परिहास का अंश अत्यन्त थोड़ा और हास्यास्पद दुर्बल होता है, अधिकतर केवल विदूषक के पेटूपन तक ही सीमित। मृच्छकटिक में हँसी के फ़व्वारे छूटते हैं, वस्तुतः संस्कृत साहित्य भर में ग्रीक कामेदी के निकटतम वही नाट्यकृति आती है। तब तक निश्चय ग्रीक रंगमंच का भारत में अभाव न हो गया होगा, यह निःसन्देह कहा जा सकता है, क्योंकि प्रायः वही काल था जब ज्योतिष का इतना गहरा प्रभाव उस दिशा के भारतीय साहित्य पर पड़ा। इसी प्रकार हिंदू-ग्रीक मुद्राओं (सिक्कों) की ग्रीक और खरोष्ठी दुभाषी लिखावट से पता चलता है कि कम-से-कम समाज के एक भाग में दोनों लिपियाँ समझी जाती थीं।

सिक्कों का उल्लेख करते हुए यह बात नहीं भूली जा सकती कि ग्रीक सिक्कों ने भारतीय सिक्कों को एक नया अभिप्राय, नया आदर्श प्रदान किया। उससे पहले देश में केवल चिह्नांकित सिक्के बनते थे जिन पर चैत्य, बोधिवृक्ष आदि के चिह्न बने रहते थे (उन्हें आज के मुद्राविद् 'पंचमार्क्ड' कहते हैं)। अब ग्रीकों के अनुकरण में अच्छे, गोल, बराबर किनारों के ढाले हुए सिक्के चलने लगे। सिक्कों के लिए जो ग्रीक शब्द 'द्रख्म' तब 'द्रम्म' के रूप में भाषा में ले लिया गया, वही आज भी हिंदी में मूल्य के अर्थ में 'दाम' शब्द से प्रचलित है। हिंदू-ग्रीक सिक्कों के आधार पर भारतीय इतिहास का हिंदू-ग्रीक युग भी खोज निकाला गया है। इसी प्रकार उसी विधि से हिन्दू-पार्थवों अथवा पह्लवों का राजकुल भी भारतीय इतिहास का अंग बना। इन हिन्दू-ग्रीक सिक्कों का महत्व भारतीय इतिहास में असाधारण है।

परन्तु ग्रीक सम्बन्ध का सबसे गहरा प्रभाव भारतीय कला पर पड़ा। उस कला की एक महान् और विशिष्ट शैली ग्रीक छेनी

और भारतीय अभिप्राय (मोटिफ़, रूप) के सम्मिलित योग से प्रस्तुत हुई जो लाक्षणिक रूप से गांधार-शैली के नाम से विख्यात हुई। पाकिस्तान का उत्तर-पश्चिमी भाग तब गंधार कहलाता था। तक्षशिला उसका केंद्र थी। पिछले साठ वर्षों में ग्रीक वेश-भूषा और शक्ल की हज़ारों मूर्तियाँ, बौद्ध प्रतीकों में रूपायित गंधार प्रदेश से मिली हैं। गंधार का विस्तार सिन्धु नद और झेलम के बीच पश्चिमी पंजाब से पेशावर ज़िला, काबुल नदी की घाटी, स्वात, बुनेर और अन्य कबीलाई प्रदेशों तक रहा है। सबसे अधिक मूर्तियाँ इस शैली की यूसुफ़ज़ई इलाके में जमाल-गढ़ी, शहर-ए-बहलोल, तख़्त-ए-बाही से उपलब्ध हुई हैं। स्वात ने उस शैली की सुन्दरतम विभूतियाँ प्रदान की हैं। साधारणतः इस शैली का काल-प्रसार ईसा की प्रथम सदी के प्रारम्भ से लगभग ३०० ई० तक रहा है, यद्यपि दोनों सीमाओं के परे भी इस प्रकार की मूर्तियों का निर्माण असाधारण नहीं माना जा सकता। जहाँ तक ये मूर्तियाँ जानी हुई हैं प्रायः सभी बौद्ध केंद्रों से प्राप्त हुई हैं और सभी बौद्ध धर्म की हैं, न जैन न ब्राह्मण। कुछ बुद्ध की अपोलों के रूप में, कुछ ब्रह्मा की संत पीटर या पालस अथेनी के द्वारपाल के रूप में कोरी मिली हैं, पर रूप चाहे जितना भी ग्रीक क्यों न रहा हो, तक्षण का विषय सर्वदा भारतीय रहा है, बुद्ध को केंद्रायित करता, उसे विशेष ऊँचाई और शालीनता प्रदान करता।

इस प्रकार ईरानी छेनी की ही भाँति ग्रीक छेनी भी भारतीय परम्परा को नयी काया, नये परिधान प्रदान करती है। भारतीय जीवन की कथाएँ, बुद्ध के जीवन से आकृष्ट कर, सिलसिले से पत्थर पर उभार दी गई हैं। बुद्ध ने अपनी मूर्ति का निर्माण रोक दिया था, इससे अबतक हीनयान की परंपरा के अनुसार केवल बोधिवृक्ष, छत्र, धर्मचक्रप्रवर्तन आदि के प्रतीकों द्वारा ही तथागत की उपस्थिति प्रकट की जाती रही थी। परन्तु ईसा की पहली सदी से, महायान के उदय से जो व्यक्तिगत देवता की

संभावना हुई, तो पहली बार बुद्ध की मूर्ति कोरी गई। आज की हज़ारों बुद्ध प्रतिमाएँ, जो देशी-विदेशी संग्रहालयों में प्रदर्शित हैं, अथवा भूमि में गड़ी पुराविदों की कुदाल की प्रतीक्षा कर रही हैं, उसी आकार की छाया या प्रतिकृति हैं जिसे पहलेपहल ग्रीक कलावंत ने रूपायित किया। वही मूर्ति पिछली मूर्तियों का आदर्श बनी। वही चेहरा, नाक, कान, आँख आदि के वही मान भारत की भव्यतम बौद्ध प्रतिमाओं के लिए दृष्टांत बने। इन मूर्तियों के अतिरिक्त तक्षशिला में अनेक इमारतें, एक मंदिर और कुछ यवन (आयोनियन) शैली के स्तंभ भी मिले हैं। परन्तु इतनी विशिष्ट और महत्व की होकर भी यह शैली दीर्घकाल तक जीवित न रह सकी। शीघ्र उसका भारतीकरण शुरू हो गया और गुप्तकाल तक पहुँचते-पहुँचते गांधार भूषा बौद्ध संघाटी (ऊपर का वसन) की चुन्नटमात्र रह गई। गांधार शैली की भारत को शालीन देन बुद्ध की सावयव मूर्ति थी।

शुंगों का ब्राह्मण साम्राज्य ई० पू० दूसरी सदी के दूसरे चरण में मगध में खड़ा हुआ। संस्कृत लौटी, पौरोहित्य लौटा, यज्ञक्रियाएँ लौटीं। पुष्यमित्र ने अश्वमेध किए, पतंजलि ने अपना महाभाष्य लिखा, मनु ने अपना धर्मशास्त्र। पर बौद्ध भी अपनी खोई हुई शक्ति लौटाने के लिए कटिबद्ध हुए। उनके विहार साम्राज्य के विरुद्ध षड्यन्त्रों के केन्द्र बन गए। उन्होंने पाटलिपुत्र जीतनेवाले बाख्त्री नृपति दिमित्रियस् के जामाता, साकल के नरेश मिनांदर को बौद्ध धर्म में दीक्षित कर लिया। नागसेन ने उसीके परिणामस्वरूप पालि की अपनी दार्शनिक कृति 'मिलिंदपञ्ह' लिखी। बौद्ध मिनांदर को मगध पर चढ़ा लाए। पुष्यमित्र ने उसे पराजित कर गंगा की घाटी में मार डाला। पाटलिपुत्र से जलंधर तक के बौद्धविहारों को वह जलाता ग्रीक राजधानी साकल पहुँचा और वहाँ उसने घोषणा की—यो मे श्रमणशिरो दास्यति तस्याहं दीनारशतं दास्यामि—'जो मुझे एक श्रमण का सिर देगा उसे मैं सोने के सौ सिक्के

(दीनार) दूंगा।'[१] पुष्यमित्र का पोता वसुमित्र उसके यज्ञाश्व का रक्षक वना और सिंधुतट पर ग्रीकों की सम्मिलित वाहिनी को पराजित कर उसने उन्हें देश से बाहर निकाल दिया।[२] ग्रीक शक्ति के रूप में लौटे और, लगता है, पुष्यमित्र के मरते ही उन्होंने फिर पंजाव पर अधिकार कर लिया। तभी पार्थव (पह्लव) भी भारत के पश्चिमोत्तर प्रदेश में, कावुल की घाटी में, घुसे और उस भाग पर शासन करने लगे।

अनेक ग्रीक भारतीय धर्मों में दीक्षित हुए। मिनांदर का उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। उसके माध्यम से भारतीय वौद्ध दर्शन का मिलिंदपञ्ह के रूप में कलेवर वढ़ा। स्वात से प्राप्त एक कलशलेख से थियोदोर नामक एक ग्रीक के बौद्ध हो जाने का पता चलता है। दल के दल यवन तव भारतीय धर्म ग्रहण कर रहे थे। दिय का पुत्र हेलियोदोर भी, जैसा बेसनगर के स्तंभलेख से पता चलता है, वैष्णव (भागवत) हो गया था। उसी यवन ने विष्णु की पूजा में वह स्तंभ खड़ा किया था। वैष्णव धर्म का भारत में पहला स्तंभ स्थापित करनेवाला वह विदेशी यवन था। तक्षशिला के ग्रीकराज अंतलिखिद का राजदूत बनकर वह शुंगराज काशीपुत्र भागभद्र के पास गया था।

हिंदू-यवन राजाओं के सीमाप्रान्त और वाहर के देशों के अधिपति हो जाने से भारतीय व्यापार को वड़ा प्रसार मिला। ग्रीक उत्तर और दूर पश्चिम के विदेशी थे और उन्होंने विदेशों से अपना सम्पर्क वनाए रखा था। इससे भारतीय व्यापारियों का उनकी संरक्षता में विदेशों में घूमना स्वाभाविक ही था। सिक्कों का एक विशेष समान तौल और आकार का हो जाना

---

[१] दिव्यावदान में अशोकावदान (कावेल और वील का संस्करण), पृ० ४३३-३४०. पूरे पाठ के लिए देखिए, **इण्डिया इन कालिदास**, पृ० ३६६, फुटनोट।

[२] मालविकाग्निमित्र, अंक ५, १५.

भी व्यापार के क्षेत्र में लाभकर सिद्ध हुआ जिससे विनिमय और क्रय-विक्रय में आसानी हुई। महत्व की बात है कि १६६ ई० पू० में दाफ़्नी नामक स्थान पर अंतिओकस् चतुर्थ ने भारतीय हाथी-दाँत की बनी वस्तुओं और गरम मसालों का बृहत् प्रदर्शन किया था। कुछ काल बाद ही एक अज्ञातनामा ग्रीक ने जो भारत और पश्चिमी देशों के बीच के व्यापार सम्बन्धी अपनी पुस्तक 'पेरिप्लस' लिखी उसमें भारत आने और यहाँ से बाहर जाने-वाली वस्तुओं की एक तालिका दी। उनमें दास बनाकर लायी जाने और इस देश में बेची जानेवाली यवन कुमारियों का भी उल्लेख है। यवनियाँ अनेक श्रीमानों के अन्तःपुर में विशिष्ट दासियों और उपपत्नियों के रूप में रहने लगी थीं। राजा तो उस काल इस देश में सम्भवतः कोई न था जिसके अवरोध की रक्षक यवनियाँ नियुक्त न होती हों। अर्थशास्त्र में कौटिल्य ने लिखा है कि यवनियों का दर्शन शुभ होता है, इससे प्रातः सोकर उठने के समय उसे यवनियों का मुँह देखना चाहिए।[1] परंपरया वे आखेट के समय राजा को घेर कर चलती थीं और नाटकों में सर्वत्र उन्हें पुष्पहारों से सुसज्जित अपने विशेष वेश में राजा की शस्त्रधारिणी के रूप में प्रस्तुत किया गया है।[2] कालिदास के समय तक यानी गुप्त सम्राटों के आवासों में भी उनका प्रचलन था। चन्द्रगुप्त मौर्य ने तो एक ग्रीक राजकुमारी से विवाह भी किया था।[3] एक विद्वान ने तो यहाँ तक लिखा है कि वह्लीक के ग्रीक राजा दिमित्रिय ने जो पाटलिपुत्र पर अंतिम मौर्य सम्राट् के शासनकाल में आक्रमण किया था वह उसी सम्बन्ध के अधिकार से।[4]

---

[1] अर्थशास्त्र, ६, २१.

[2] शाकुन्तल, पृ० २५४.

[3] स्मिथ : अशोक, पृ० १५, नोट १; और देखिए, ग्रीक्स इन बैक्ट्रिया ऐण्ड इण्डिया।

[4] टार्न: वही।

भारतीयों को यवनों के इस देश में नगर बनाकर रहने से निकट से देखने-जानने का पर्याप्त अवसर मिला था। इसीसे रामायण, महाभारत, स्मृतियों, साहित्य और नाटक ग्रंथों में उनके बराबर उल्लेख हुए हैं। उनकी चोट से न केवल भारतीय राजसत्ता नष्ट हो गयी थी (नश्येरन् च पार्थिवाः, युगपुराण, गार्गीसंहिता), प्रांत बिखर गये थे, बल्कि समाज की वर्ण-व्यवस्था भी छिन्न-भिन्न हो गयी थी, उसकी पुरानी सीमाएँ टूट गयी थीं।[1] विशेषकर इससे कि यद्यपि ग्रीक की शक्ति पीछे तोड़ दी गयी थी, वे इसी देश की जनता में घुल-मिल गये, यहाँ के रीति-धर्म उन्होंने अपना लिये थे। कुछ विद्वान तो ब्रज के चौबों को इन्हीं ग्रीकों (यवनों) के वंशधर मानते हैं। उनका रंग, कृष्ण बलराम के प्रति उनकी पूजा, क्रीड़ाशील जातीय विशिष्ट व्यवस्था आदि उन्हें उस प्रदेश के अन्य सहवासियों से सर्वथा भिन्न कर देते हैं। चौबे चाहे ग्रीक न हों, पर निःसन्देह ग्रीकों की नस्ल भी भारतीय समाज में घुल-मिल गयी है। बृहत्कथा-मंजरी[2] की अनेक कथाओं में उन्हें बड़ा दक्ष शिल्पी माना गया है। उड़नेवाले यंत्रचालित घोड़ों के निर्माता के रूप में उस पुस्तक में उनका विशेष उल्लेख हुआ है। इसमें सन्देह नहीं कि इस देश के सामाजिक, साहित्यिक और कलाविज्ञान के विकास में यवनों (ग्रीकों) का असामान्य योग रहा है।

अधिकतर प्राचीन भारतीय साहित्य में अन्य विदेशियों, विशेषकर यवनों, के साथ ही पह्लवों (हिन्दू-पार्थवों) का भी उल्लेख हुआ है। पह्लव ईरानी थे और पहली सदी ई० पू० तथा पहली सदी ईसवी के बीच उन्होंने भारत के उत्तर-पश्चिमी प्रदेश पर प्रायः सौ वर्ष राज किया। वे पूर्वी ईरान के स्वामी थे।

---

[1] यवना ज्ञापयिष्यन्ति नश्येरन् च पार्थिवाः—जे० बी० ओ० आर० एम०, १६, ३, १६२८, पंक्ति ४१.

[2] खण्ड १४; कीथ : हिस्ट्री आफ़ संस्कृत लिट्रेचर, पृ० २७६.

भारतीय शक राजा उन्हें अपना स्वामी मानते थे। उनका अपने को क्षत्रप अथवा महाक्षत्रप कहना उसी सम्राट्-सामंत वाले संबंध को प्रकट करता है। पह्लवों के भी अनेक सिक्के मिले हैं, जिनसे इस देश पर उनके शासन का पता चलता है। इससे प्रकट है कि एक काल तक उन्होंने भी भारत की राजनीति सँभाली और, यद्यपि उनके आँकड़े हमारे पास नहीं हैं, राजवर्ग का देश और शासितों पर जितना प्रभाव पड़ता है, उसे देखते स्पष्ट है कि इनका प्रभाव भी यहाँ के आचार-विचारों पर प्रभूत पड़ा होगा। संस्कृत में मुद्रा, क्षत्रप, बहादुर, शाह, शाही, मिहिर आदि शब्द पह्लवों के ही छोड़े हुए हैं। उनके संबंध से खरोष्ठी लिपि के प्रचलन में कितनी सरलता हुई होगी, इसका अनुमान किया जा सकता है। वस्तुतः उस प्रदेश में कुरुष और दारयवौष आदि छठी-पाँचवीं सदी ई० पू० के सम्राटों के समय से ही अरमई भाषा और खरोष्ठी लिपि का व्यवहार चला आता था और कुषाणों के अंत काल तक चलता रहा था, और यह संदिग्ध है कि काल के प्रभाव से बदलती भाषा और लिपि के अतिरिक्त उनके व्यवहार का वहाँ कभी भी अंत हुआ। ग्रीकों के अन्य भाषाभाषी होते भी अपने सिक्कों पर उन्हें खरोष्ठी लिपि खुदवानी पड़ी थी। आज की कबीलाई ज़बान पश्तो भी ईरानी से गहरी प्रभावित है, उस दिशा में स्वयं पह्लवों का प्रभाव कुछ कम न रहा होगा। बहुत कुछ उस प्रभाव का प्रसार और वितरण तो उन शकों के माध्यम से ही, पह्लवों के इस देश से लुप्त हो जाने के प्रभूत काल पश्चात् तक, होता रहा था जो न केवल ईरान होकर आये थे, वरन् पूर्वी ईरान के स्वामी पार्थव (पह्लव) नरेशों को अपना प्रभु मानते और ईरानी शब्द 'क्षत्रप' के व्यवहार से अपने को उनका प्रांतीय शासक अथवा प्रतिनिधि सामंत स्वीकार करते थे। भारत पहुँचते-पहुँचते शब्दों की वेषभूषा भी प्रायः संपूर्ण रीति से ईरानी हो गयी थी, और जिस अचकन, सलवार, पगड़ी अथवा जंगी टोप का उन्होंने इस देश में प्रचार किया वह वस्तुतः

ईरानी ही थी। सूर्य की कुषाणकालीन पहली भारतीय मूर्ति की वेशभूषा भी वही है और उसी काल की स्तूप रेलिंग स्तंभ (लखनऊ संग्रहालय) की दीपवाहिका की भी, जो छींटदार लंबी आस्तीनों वाली ब्लाउज़, घाँघरी और हल्की पगड़ी पहने हुए है।[१] उस काल का यह नारी वेश था जिसका विशेष प्रसार, यदि हुआ हो तो, पह्लवों के ही समय हुआ होगा।

ईसाई परंपरा में पह्लवों के अंतिम राजा गुदफर (गुदह्वर, विदफर्ण) का नाम ईसा के शिष्य संत टॉमस से संबंधित है। कहते हैं कि पहली सदी ईसवी में जब ईसाई धर्म के प्रचार के लिए ईसा के शिष्यों में विविध देश बँटे तब भारत इस संत टॉमस के हिस्से पड़ा। वह भारत आया भी और मद्रास में उसकी कब्र भी दिखाई जाती है। नहीं कहा जा सकता यह अनुश्रुति कहाँ तक सही है, पर यदि यह सही हुई, तो इस देश में पहले ईसाई को प्रवेश कराने का श्रेय पह्लव नरेश गुदफर को होगा, जिसने १९ ई० और ४५ ई० के बीच राज किया।

इसी सिलसिले में रोमन प्रभाव की चर्चा कर देना भी उचित होगा। रोमक सिद्धांत का उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। रोम नगर से ज्योतिष का, जैसा पहले कहा जा चुका है, विशेष सम्बन्ध न था परन्तु चूंकि यवनपुर (सिकन्दरिया) तब रोम के अधिकार में था, और रोम का सर्वत्र बोलबाला था, उस सिद्धांत का नाम रोमक पड़ा। भारत का रोम से सम्बन्ध तो निःसन्देह घना था। कनिष्क ने पहली सदी ईसवी में अपने दूत रोम भेजे। गुप्तों के समय भी रोमन साम्राज्य से एक प्रकार का सम्बन्ध बना था। पहले जिस 'पेरिप्लस' का उल्लेख हुआ है, वह पहली सदी के ही पहले-पीछे के भारत और पश्चिम के व्यापार पर प्रकाश डालता है। इतिहासकार प्लिनी ने भारतीय विलास वस्तुओं मोती, मलमल और गरम मसालों के विरुद्ध अपने इतिहास में उस काल

---

१ लखनऊ संग्रहालय, पुरातत्व विभाग, प्रधान हाल।

बड़ा ज़हर उगला और रोम की सिनेट ने उन चीज़ों पर शत-प्रतिशत कर भी लगा दिया। पर वहाँ के विलासियों और विलासिनियों ने भारतीय माल ख़रीदने से हाथ न रोका। कुछ ही सदियों बाद विज़िगोथ अलारिक रोम जीतने पर जब उसका विध्वंस करने पर तुला तब उसकी मुक्ति के बदले रोम के शासकों के अनुनय पर उसने उनसे अन्य वस्तुओं के साथ-साथ प्रायः ४० मन काली मिर्च भी माँगी। इन सब वस्तुओं के बदले भारत की भूमि पर धारासार सोना बरसता था। पश्चिमी तट पर हज़ारों की संख्या में रोमन सम्राटों के सोने के सिक्के मिले हैं। वे सब इसी व्यापार के बदले आए थे। उसी व्यापार के फलस्वरूप उज्जैन इतना संपन्न और धनाढ्य नगर हो गया था। दीनार शब्द रोमन भाषा का है जो वहाँ के सोने के सिक्के का नाम था। उसका प्रयोग संस्कृत में भी होने लगा था। जान पड़ता है कि वह सोने का सिक्का व्यापार की विधि से आकर और इस देश का सिक्का न होकर भी यहाँ चलता था। उसकी अगणित संख्या होने के कारण ही उसका प्रचलन सम्भव हो सका होगा। पहली सदी ईसवी के आसपास के बौद्ध ग्रंथ दिव्यावदान में दीनार शब्द का उल्लेख हुआ है। बौद्धविरोधी ब्राह्मण सम्राट् पुष्यमित्र शुंग सम्बन्धी उसकी एक कथा में सम्राट् ने प्रत्येक श्रमण शिर के ऊपर सौ दीनारों का पुरस्कार घोषित किया था। अपनी मुद्राएँ उसकी थीं ही, पर उनको छोड़ रोमान दीनारों (दिनारियस) में उसका पुरस्कार घोषित करना अवदानकार अस्वाभाविक नहीं मानता।[1] और यह घोषणा मगध का सम्राट् साकल (स्यालकोट, पंजाब) में करता है। निष्कर्ष स्वाभाविक है कि रोमन दीनार मगध और पंजाब दोनों प्रदेशों में चलते थे। पंचतंत्र, कथासरित्सागर, नारदस्मृति, कालिदास आदि सभी इस शब्द को जानते हैं। प्रकट है कि देशी-विदेशी दोनों प्रकार के दीनार यहाँ चलते थे। शुद्ध

[1] देखिए, पूर्वनिर्दिष्ट अशोकावदान का पाठ।

देशी रूप में तो स्वर्ण का सिक्का 'सुवर्ण' कहलाता था परन्तु स्वर्ण मुद्राओं का साधारण रूप से दूसरा रोमन नाम दीनार भी चल पड़ा था। वैसे इसका भी प्रमाण मिलता है कि इस देश में पहली सदी ईसवी के बाद दीनार नाम का, सुवर्ण से मान तोल में भिन्न, सिक्का भी बनने लगा था।[१] जो भी हो, यह स्पष्ट है कि दीनार मूल रूप में रोमन था पर रोम के साथ व्यापार इस मात्रा में इस देश पर छा गया था कि उसका सिक्का और उस सिक्के का नाम दोनों इस देश में प्रचलित हो गये।

रोम के सौदागरों की संभवतः कल्याण, शूर्पारक (सोपारा), भरुकच्छ (भड़ोच) तथा अन्य पश्चिमी समुद्र तट के पत्तनों में बस्तियाँ बस गयी थीं। रोमन सौदागरों का आना-जाना उज्जैन में भी लगा रहता था। इसी घनिष्ठ संपर्क से ईसाई रोमन सम्राट् कोन्स्तान्तीन का प्रचलित किया हुआ यहूदी ईसाई ग्रहपरक सप्ताह इस देह में मान्य हुआ होगा। कहते हैं कि पश्चिमी समुद्रतट के एकाध नगरों में तो रोमन सम्राट् ओगस्तस की मूर्ति की पूजा भी होती थी। निःसंदेह रोम के सम्राटों की मूर्तियों की पूजा उनके साम्राज्य के नगरों में तो होती थी, किन्तु उस रूप से ओगस्तस का यहाँ मंदिर होने की संभावना तो नहीं है. यह हो सकता है कि व्यापार में बड़ी संख्या में आनेवाले या बंदरगाहों में बस्तियाँ बनाकर रहनेवाले रोमनों को यह सम्मत रहा हो और ओगस्तस के मंदिर उन्होंने वहाँ अपने लिए बना लिये हों। यह जानी हुई बात है कि क्रंगनूर के स्थान पर पहले मूज़िरिस बसा था, जहाँ रोमन बसे थे। उसीके एक भाग में यहूदियों की भी एक बस्ती थी, जिन्हें चेरराज भास्कर रविवर्मन् ने दसवीं सदी में कुछ अधिकार भी दिये थे।

इसके भी प्रमाण मिलते हैं कि रोमनों की इस देश में पर्याप्त संख्या थी। पांड्य राजा अपनी शरीर-रक्षक सेना में

---

[१] ब्राउन : दि क्वायन्स आफ़ इण्डिया, पृ० ४५.

रोमन सैनिकों को भरती करते थे। उनकी देखादेखी और राजा तथा श्रीमान् भी यदि उन्हें अपना शरीररक्षक बनाते रहे हों तो कुछ आश्चर्य नहीं। एक प्रकार की सेना का उल्लेख कल्हण ने अपनी राजतंरगणी में 'कम्पन' नाम से किया है। इस शब्द का संस्कृत साहित्य में इस अर्थ में कभी प्रयोग नहीं हुआ। रोमनों की सैन्य शब्दावली का एक शब्द 'कम्पस' है जिससे यह बना जान पड़ता है।[1] रोम की सीमाएँ अब तक अरब और पार्थव तक आ पहुँची थीं।

इनके अतिरिक्त भी यवनों आदि विदेशियों के देश के समाज पर पर्याप्त प्रभाव पड़े। स्मृतियों-धर्म-शास्त्रों की व्यवस्था पर भी उनका प्रभाव पड़ा। कुछ अजब नहीं जो बाल-विवाह का आरंभ भी उनके भय से ही हुआ हो। पिता का अपनी पत्नी के साथ-साथ कन्याओं की भी विदेशियों से रक्षा कर सकना कठिन था, इसके विपरीत पति अपनी पत्नी की रक्षा भलीभांति, अपनी बलि देकर भी, कर सकता था। सम्भव है इसी सुरक्षा के कारण स्मृतियों में बालाओं के विवाह का विधान हो गया हो।

---

१ कीथ : हिस्ट्री०, पृ० १७०; देखिये, इण्डेक्स पृ० ५४५ कालम २, 'कम्पन'।

अध्याय तीन

## ● ● शक-कुषाण

सीर दरिया के उत्तरी कांठे में शक नाम की एक वीर जाति का निवास था। चीनी युएह्-ची उनसे जा टकराये और उन्हें इस प्रकार फेंका कि उनकी चोट से पार्थव और वाख्त्री राज्यों के मेरुदण्ड टूट गये। बर्बर शक वाख्त्री पर अधिकार कर दक्षिण-पश्चिम चले। ईरानी मज़ददात ने ईरान में उनके पाँव टिकने न दिये, इससे वे भारत की ओर बढ़े। राह में काबुल के ग्रीक-राज्य का पच्चर गड़ा था। उसकी बगल से चलते वे सिन्ध पहुँचे जहाँ उनके बसने से वह स्थान शकद्वीप कहलाया। भारत में विशेषकर मालवा आदि के पश्चिमी इलाकों में राजनीति अस्थिर हो उठी थी। उज्जैन के राजा के अनाचार से पीड़ित होकर जैन कालकाचार्य पहले ही सीस्तान (शक-स्थान, काबुल के पीछे) जाकर उन्हें देश पर आक्रमण करने के लिए बुला लाया था। पहली धारा में शकों के ६१ प्रमुख कुल सिन्ध में आ बसे। धीरे-धीरे भारत में पाँच स्थानों से उनके पाँच राजकुल राज करने लगे। सिन्ध, तक्षशिला, मथुरा, उज्जैन और महाराष्ट्र उनके शासन-केंद्र हुए। सारे उत्तरी और पश्चिमी

प्रदेश उनके अधिकार में आ गये। भारतीय राजनीति ने करवट ली।

रावी तट की वीर मालव जाति से एक बार पश्चिमी शकों की टक्कर हुई और कुछ काल के लिए सम्भवतः शकों को उज्जैन की राजलक्ष्मी मालवों को सौंप देनी पड़ी। अपनी विजय के उपलक्ष में मालव वीर विक्रमादित्य ने ५७-५६ ई० पू० में प्रसिद्ध विक्रम-संवत् चलाया।[१] पर शकों की धारा-पर-धारा ईरान और सिन्ध की दिशा से आती और देश को आप्लावित करती गयी। सदियों के लिए फिर उनकी शक्ति इस देश में सुरक्षित हो गयी। उन्होंने पहले अपने को ईरानी पार्थव सम्राटों का 'क्षत्रप' (प्रान्त-शासक) कहा, फिर वे 'महाक्षत्रप' कहलाये और अन्त में 'शाहिशाहानुशाही'।[२] परन्तु एक दिन के लिए भी उनकी सत्ता ईरानी सम्राटों के अधीन न रही थी, वे आदि से ही भारत में स्वतंत्र शासन करने लगे थे।

ग्रीकों (यवनों) और पीछे कुषाणों और हूणों की भाँति वे इस देश में बसने आये थे और प्रायः पाँच सदियों तक भारत की राजनीति किसी-न-किसी मात्रा में उनसे सम्बन्धित रही। इस दीर्घकाल में अनेक प्रकार से उन्होंने यहाँ की राजनीति, समाज, साहित्य आदि को प्रभावित किया। उन्हीं की शक्ति से टक्कर लेने के कारण इस देश में विक्रमादित्यों की परम्परा चली। एक ओर तो वे सातवाहन-सम्राटों के साथ भूमि के लिए जूझते थे दूसरी ओर भारत की संस्कृति को सँवारते थे। शक सभी प्रकार से भारतीय हो गये थे। साहित्य और विज्ञान को उनकी संरक्षा से बड़ा बल मिला। उनसे एक नयी चेतना, एक नया उद्दीपन उस दिशा के साधकों को मिला।

---

[१] पूरे तर्क के लिए देखिए, विक्रम-स्मारक ग्रंथ (ग्वालियर) में तत्सम्बन्धी लेखक का पहला लेख।

[२] समुद्रगुप्त का प्रयाग स्तम्भ का प्रशस्ति-लेख।

पर साहित्यादि का व्यसन अधिकतर शान्त राजनीतिक वातावरण का ही परिणाम है। निश्चय सारा पश्चिमी सिन्ध—पंजाब से प्रायः काठियावाड़-महाराष्ट्र तक—शकों के अधिकार में आ गया था और मध्यदेश पर भी उत्तर और पश्चिम से उनकी चोटें पड़ने लगी थीं। उत्तर-पश्चिम की ओर से उनके आक्रमण मगध तक होने लगे। हमारे संस्कृत साहित्य की अनेक कृतियों में उनके कृत्यों की प्रतिध्वनि उठी। गार्गीसंहिता के युगपुराण में उन्हीं के शक सेनापति अम्लाट के पाटलिपुत्र पर भीषण आक्रमण का विवरण दिया हुआ है। मगध पर शुंगों के पश्चात् काण्वायनों का शासन हुआ था, फिर उनके हाथ से दक्षिण के आन्ध्र-सातवाहनों ने तलवार छीन ली। किन्तु शकों के पश्चिमी भारत पर अधिकार कर लेने पर आन्ध्रों को उस नयी विपत्ति का अपने घर में ही सामना करना पड़ा। तब उत्तर का अधिकार-दण्ड उनके हाथ से सरक पड़ा। तभी शक अम्लाट ने मगध पर भीषण आक्रमण किया और मध्यदेश को रौंदता वह पाटलिपुत्र तक जा पहुँचा। वहाँ उसने इतनी मारकट की कि नगर और जनपद नरविहीन हो गये। युगपुराण कहता है कि उस नरसंहार के कारण पुरुष उस धारा से सर्वथा लुप्त हो गये। सारे कार्य स्त्रियों को ही करने पड़े। तलवार से हल तक उन्हीं के हाथों में आ गया। समाज में पुरुषों के अभाव के कारण बीस-बीस, पचीस-पचीस स्त्रियों को एक पुरुष से विवाह करना पड़ा। पुरुष यदाकदा ही दिख जाते और जब दिखते तब स्त्रियाँ चिल्ला उठतीं—आश्चर्य ! आश्चर्य ![१]

इससे उस काल की राजनीतिक उथल-पुथल का पता चलता है। इससे समाज पर क्या प्रभाव पड़ा होगा, इसका अटकल लगाया जा सकता है। ग्रीकों ने, उसी युगपुराण के अनुसार,

---

१ जे० बी० ओ० आर० एस०, १६, ३; वही, १४, ३; विक्रम स्मारक ग्रंथ, लेखक का पाठ।

पहले ही राजाओं को नष्ट और प्रांतों को छिन्न-भिन्न कर दिया था और अब जो अम्लाट के नेतृत्व में शक आये तो स्थिति और दयनीय हो उठी।[1] नारी-जगत् पर उनके रक्षक पुरुषों के अभाव में जो अत्याचार हुआ होगा उसका अनुमान सहज ही किया जा सकता है। लाखों की संख्या में संकर उत्पन्न हुए होंगे और वर्ण-धर्म सर्वथा बिखर गया होगा। युगपुराण में जो लिखा है कि ब्राह्मण अपने आचार की रक्षा न कर सके, शूद्रता को प्राप्त हुए और शूद्र तथा अस्पृश्य ब्राह्मणों का आचरण करने लगे,[2] वह उस काल की सामाजिक वस्तु-स्थिति प्रकट करता है। स्वाभाविक है कि वर्णव्यवस्था टूट गई होगी और, म्लेच्छ कहलाने के बावजूद, शक विजयी होने के कारण समाज में निम्न स्थान स्वीकार कर नहीं सकते थे जिससे उनको वर्णों के उपरले स्तर में कहीं रखना पड़ा होगा। जो भी हो, भारतीय सामाजिक स्थिति पर राजनीतिक स्थिति की ही भाँति शकों का गहरा प्रभाव पड़ा।

और शक, जैसा ऊपर कहा जा चुका है, देश से लौट जाने के लिए यहाँ नहीं आये थे। दक्षिण को छोड़ भारत की प्रायः सारी भूमि धीरे-धीरे उनके हाथ में आ गई और दक्षिण की शक्ति स्वायत्त करने के लिए भी आन्ध्र-सातवाहनों से उनका संघर्ष चलता रहा। कुछ काल बाद गुप्त सम्राट् समुद्रगुप्त ने उन्हें (दैवपुत्रशाहिशाहानुशाही—प्रयाग का स्तम्भ लेख) काबुल की ओर खदेड़ दिया, पर उसके मरते ही वे फिर देश में प्रबल हो उठे। इतने, कि उनके आक्रमण से डरकर समुद्रगुप्त के बेटे रामगुप्त को नितान्त शर्मीली सन्धि स्वीकार करनी पड़ी, जिसकी एक शर्त यह भी थी कि वह अपनी सुन्दर रानी ध्रुवदेवी शकराज को दे दे। गुप्तवंश की मर्यादा की रक्षा तब रामगुप्त के अनुज

---

[1] वही।

[2] वही।

चन्द्रगुप्त ने की और विशाखदत्त के नाटक देवीचन्द्रगुप्तम् के अनुसार, ध्रुवदेवी के वेश में शक शिविर में जाकर उस तरुण ने शकराज को मार डाला।[१] फिर शकों की सम्मिलित वाहिनी बंगाल में सबल हुई पर चन्द्रगुप्त द्वितीय ने, जो भाई को हटाकर उसकी पत्नी ध्रुवदेवी के साथ उसकी पृथ्वी भी भोग रहा था, उनका संघ तोड़ दिया। फिर उज्जैन में भी शकों की शक्ति तोड़ उसने 'शकारि' और 'विक्रमादित्य' के विरुद धारण किये और उज्जयिनी को अपने सुविस्तृत साम्राज्य की दूसरी राजधानी बनाकर पश्चिमी समुद्र तक का शासन स्वायत्त किया।

शकों का पश्चिम में उत्कर्ष-काल तीसरी सदी ईसवी तक रहा था यद्यपि वहाँ उनका राज्य चौथी सदी के अन्त तक बना रहा था। दूसरी सदी ईसवी में रुद्रदामन् के शासन-काल में उनकी शक्ति सूर्य की भाँति तप उठी। सारे पश्चिमी जगत् का भारतीय व्यापार उनके हाथ लगा और उनकी सजायी नगरी उज्जयिनी व्यापार और धन का केंद्र बन गयी। उत्तर से दक्षिण-पश्चिम और दक्षिण-पश्चिम से उत्तर जानेवाला प्रशस्त वाणिक् पथ उज्जयिनी में ही मिलते थे।

इस समृद्ध वातावरण में शक नृपतियों ने कला और साहित्य को अपनी संरक्षा दी। उन्होंने अनेकानेक अभिलेख संस्कृत में लिखवाये। प्रायः सारे सांस्कृतिक व्यसनों पर वे छा गए पर संस्कृत भाषा और साहित्य के प्रति जो निष्ठा और अनुराग विदेशी और विजाती होकर उन्होंने दिखाया वह ब्राह्मण-नृपति आन्ध्र-सातवाहन भी न दिखा सके। जहाँ सातवाहनों ने अपने अभिलेख प्राकृत में खुदवाये, शकराजाओं ने अपने संस्कृत में लिखवाये। और रुद्रदामन् की संस्कृत की सेवा तो असाधारण थी। उसने जिस शुद्ध संस्कृत में गिरनार पर्वत पर १५० ई०

[१] देवीचन्द्रगुप्तम् (विशाखदत्त); मुजमालुत—तवारीख, इलियट ऐण्ड डाउसन : **हिस्ट्री ग्राफ़ इण्डिया**, १, पृ० ११०–१२.

में अपनी प्रशस्ति लिखवायी वह ब्राह्मण, आरण्यक ग्रंथों के बाद संस्कृत गद्य की पहली अभिराम शैली बनी।

साहित्य से भी अधिक शक-राजाओं की संरक्षा ज्योतिष विज्ञान को मिली। उज्जयिनी उस काल की 'ग्रीनविच' बनी और वहीं नक्षत्र-विद्या और गणित का केन्द्र बना जो प्रायः अभी हाल तक किसी-न-किसी रूप में बना ही रहा है। ग्रीकों के भारतीय ज्योतिष पर प्रभाव का सविस्तर उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। वह प्रभाव ग्रीकों के इस देश की राजनीति का कर्णधार रहते नहीं पड़ा, शक-काल में पड़ा क्योंकि उनके शासन-काल में ग्रीकों के पश्चिमी जगत् में ज्योतिष के सिद्धान्त अभी बन ही रहे थे और उनका इस देश में आना प्रायः पहली सदी ईसवी में शुरू हुआ। वस्तुतः ग्रीक ज्योतिष का वह भारतोन्मुख संक्रमण शक-शासन के मध्याह्न में पहली और तीसरी सदियों के बीच हुआ। शीघ्र ही बाद वराहमिहिर ने देशी-विदेशी ज्योतिष के प्रचलित पाँच सिद्धांतों को अपने प्रसिद्ध ग्रंथ पंचसिद्धान्तिका में संग्रहीत किया। इसके अतिरिक्त उसने अपनी बृहत्संहिता और होराशास्त्र में भी गणित और फलित ज्योतिष के अध्ययन प्रस्तुत किये। कुछ आश्चर्य नहीं जो स्वयं वराहमिहिर, जैसा उसके नाम से ध्वनित है, शक रहा हो और उसका नाम ईरानी (-मिहिर) रहा हो।

आज के हमारे राष्ट्रीय परिधान—अचकन और पाजामा—उनके मूल और अविकसित रूप में पहले-पहल इस देश में शकों ने ही प्रस्तुत किये। सही, वह परिधान उस काल देश में प्रचलित न हो सका पर उसका आरम्भ निश्चय, चाहे फिर लुप्त ही हो जाने के लिए, तभी हुआ। शक नीचे लम्बा कुरता, ऊपर क़सीदा कढ़ा लम्बा भारी चोग़ा, नीचे सलवार और घुटनों तक ऊँचे मध्य-एशियाई बूट पहनते थे। शकों और कुषाणों की पोशाक समान थी, ईरानियों की तरह की, जो उनके सैनिकों और कुषाण राजाओं की मूर्तियों पर कोरी मिलती हैं। मथुरा संग्रहालय की

कडफ़िसिस, कनिष्क ( मस्तकहीन ), चष्टन और सूर्य की मूर्तियों पर यह पोशाक आज भी देखी जा सकती है। इसी परिधान को बहुत पीछे मुगलों और अवध के नवाबों ने परिष्कृत किया जो अब इस देश का राष्ट्रीय लेबास बना। परन्तु मुगल या उनसे पहले के पठान आदि यह पोशाक मध्य एशिया से अपने साथ लाये, शकों के परिधान से उसका कोई सम्बन्ध न था। सूर्य की प्रतिभा का इस सम्बन्ध में उल्लेख एक बड़े महत्व की समस्या सामने लाता है। पहली सदी ईसवी की यह मूर्ति, शकों और कनिष्क की समकालीन, इस देश में मिली पहली सूर्य-प्रतिमा है जो उन्हीं की भाँति कुरता, चोगा, सलवार, पगड़ी और घुटनों तक ऊँचे बूट पहने एक हाथ में खंज़र धारण किये है। इस प्रकार का परिधान कोई भारतीय देवता नहीं पहनता, पगड़ी और जूते तो कभी नहीं। सूर्य की प्रतिमा कभी खंज़र धारण नहीं करती और यदि दूसरे हाथ में कमलदण्ड न होता तो मूर्ति को भ्रमवश शक या कुषाण नृपति की प्रतिकृति मान लेना स्वाभाविक था और एकाध विद्वानों को पहले यह भ्रम हुआ भी।[१] यह स्थिति एक नयी समस्या प्रस्तुत करती है—सूर्य की पूजा इस देश में शक-कुषाणों ने प्रचलित की या वह भारत की अपनी है? निश्चय, वैदिक काल में सूर्य की सविता, विष्णु, प्रजापति आदि के रूप में पूजा होती थी, पर वह पूजा सूर्य के प्रज्ज्वलित बिम्ब के पीछे की अलक्षित शक्ति की थी, उसकी मूर्ति की नहीं। इसे नहीं भूलना चाहिए कि मथुरावाली मूर्ति सूर्य की पहली प्रतिमा है और कुषाण काल के पहले की कोई सूर्य प्रतिमा आज तक नहीं मिली। धोती, उत्तरीय और मुकुट पहने सूर्य की खड़ी मूर्तियाँ तो अनेक मिली हैं पर वे मध्यकालीन हैं, छठी सदी ईसवी के बाद की, प्राय: नवीं-दसवीं सदियों की।

---

[१] कुमारस्वामी : हिस्ट्री आफ़ इण्डियन ऐण्ड इण्डोनेशियन आर्ट, प्लेट १८, चित्र ६४.

सूर्य के मन्दिर भी इस देश में इने-गिने ही हैं, जैसे कश्मीर में मार्त्तण्ड का, उड़ीसा में कोणार्क का, बहराइच (उत्तरप्रदेश) में बर्ह्वचि का, जोधपुर में ओसिया का, और राजपूताना में ही एकाध और, पर सबके सब, बिना अपवाद के, मध्यकालीन, अधिकतर उत्तर-मध्यकालीन हैं। फिर किसने मूर्ति के रूप में सूर्य की पूजा इस देश में प्रचलित की ? निःसन्देह शकों ने ही अपने परिधान से सुसज्जित मथुरावाली यह सूर्य-प्रतिमा हमें दी। यह अकारण नहीं कि पुराणों ने प्रथम भारतीय सूर्य-मन्दिर के निर्माण का सम्बन्ध सिन्ध (शकद्वीप) के मुलतान से किया है, जहाँ शकों ने पहले प्रवेश किया था और अपनी पहली बस्तियाँ बसायी थीं। यह भी अकारण नहीं कि अधिकतर सूर्य-मंदिर पश्चिमी भारत में ही, विशेषकर राजपूताना में, मिले हैं। पौराणिक परम्परा के अनुसार कृष्ण के पुत्र या (पौत्र) शाम्ब ने सूर्य का पहला मंदिर मुलतान में बनवाया, पर मंदिर बनवा चुकने पर मूर्ति पधराने और उसकी पूजा के लिए जब उसे उचित ब्राह्मण न मिला तब उसने शक-ब्राह्मणों को विदेश से बुलाया। यह वैसे ही हुआ जैसे मनु ने जल-प्रलय के पश्चात् यज्ञ के लिए असुर ब्राह्मणों को बुलाया था। कुछ आश्चर्य नहीं जो इस प्रकार बुलाये शकद्वीपी ब्राह्मणों को वर्णेतर मानकर उत्तर भारत के धर्मभीरु ब्राह्मण आज भी उनका छुआ खाने-पीने में आपत्ति करते हों। जो भी हो, इन शक-पुरोहितों के आने से शकों की ही भाँति ब्राह्मण वर्ग में एक इकाई और आ मिली। यह उल्लेखनीय प्रसंग है कि शक और कुषाण सूर्योपासक थे और कनिष्क के सिक्कों पर सूर्य की आकृति खुदी मिलती भी है। प्रमाणतः शक-कुषाणों ने ही पहले-पहल सूर्य की पूजा इस देश में प्रचलित की और अपने परिधान से उसकी प्रतिमा को सजाया।

शक भारत में अगणित संख्या में आये थे और, सातवाहनों तथा चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य की घनी शत्रुता के बावजूद, देश से सर्वथा निकाले न जा सके होंगे। उनकी साधारण असैनिक

जनता वहीं रह गयी और स्थानीय जनता का धर्म आदि स्वीकार कर समाज में घुल-मिल गयी थी। रुद्रदामन् का हिन्दू नाम तो प्रसिद्ध ही है, शक उषवदात (ऋषभदत्त) और उसकी पत्नी दक्षमित्रा के नाम भी उस काल के शक अभिलेखों में मिलते हैं। पहले ग्रीक मिनान्दर, हेलियोदोर, थियोदोर आदि के भारतीय धर्म स्वीकार करने की बात कही जा चुकी है। उनके बाद ही सातवाहन-शक काल में दो ग्रीकों के नाम सिहध्वज और धर्म (कार्ले का अभिलेख) मिले हैं जिन्होंने भारतीय धर्म के साथ ही भारतीय नाम भी धारण कर लिये थे। उन्हीं की भाँति शक भी इस देश के सांस्कृतिक कलेवर के अंग बन गये। उन्होंने स्थानीय जनता से विवाहादि कर उस काल की भारतीय जन-संख्या में अपनी सन्तति का योग दिया और यहाँ के साहित्य, कला, विज्ञान को सभी प्रकार से सँवारा। साथ ही यह भी सही है कि शकों की राजसत्ता समय-समय पर नष्ट होती रही और एक समय शकों के अनेक अभिजात कुल भारतीय राज-नीति से उखड़कर काबुल में जा बसे, जैसा समुद्रगुप्त के प्रथम स्तम्भवाले लेख के 'शाहिशाहानुशाही शकमुरुण्डाः' पाठ से प्रकट है। ईरानी विरुद धारण करनेवाले (शाही और शाहानुशाही) ये शाहिय (साहिय) महमूद गज़नी के समय बड़े विख्यात हुए। गज़नी दरबार के समकालीन पण्डित अलबरूनी ने उनका उल्लेख अपने ग्रंथ तहकीक-ए-हिन्द में 'तुर्क-साही' और 'हिन्दू-साही' नाम से किया है।[१] साहियों का यह राजकुल इस प्रकार दीर्घकाल तक गुप्तों के बाद काबुल-घाटी का स्वामी बना रहा। जिन शक-कुषाणों को सातवाहनों और गुप्तों ने अभारतीय और म्लेच्छ मानकर इस देश की सीमा से बाहर कर दिया था, अनेकानेक पीढ़ियों तक वे निर्भीक सन्तरी बन भारत की सीमा की रक्षा करते रहे। जहाँ मुस्लिम विजेताओं से लड़ते अन्हिलवाड़ के

[१] सचाऊ का अंग्रेज़ी अनुवाद, खण्ड २, पृ० ६०-६६.

नृपति की राजधानी उसकी अनुपस्थिति में लूटने में हमारा श्रद्धेय भोज न हिचका वहाँ हिन्दुकुश की प्राचीरों और भारत के पश्चिमी सिंहद्वार के ये दिलेर पहरेदार अपने रक्त से मातृभूमि को सींचते रहे, सीमा के आर-पार सदियों जूझते रहे और अन्त में इस देश की रक्षा के लिए मध्य एशिया की रक्त और लूट के नाम पर दौड़ पड़नेवाली खूनी जातियों के प्रवाह में विपन्न हो गए या मान को जीवन से प्रियतर मान अग्नि की लपटों में समा गए।

भारत का सबसे महत्वपूर्ण संवत् (विक्रम संवत् से भिन्न) ७८ ई० में कुषाण कनिष्क का चलाया हुआ 'शक' संवत् है। कहने की आवश्यकता नहीं कि 'शाके' 'विक्रमे' से भी अधिक हमारे निकट है, जो इससे कहीं अधिक पवित्र माना जाता है। राष्ट्रीय विक्रम संवत् से कहीं अधिक, अनेक वार तो एकमात्र वही, पंचांगों और जन्मपत्रों में व्यवहृत होता है। भारतीय सांस्कृतिक सहिष्णुता का यह उदाहरण अनुपम शालीन है। अब भारतीय स्वतन्त्र सरकार ने उसे राष्ट्रीय संवत् घोषित भी कर दिया है।

भारतीय इतिहास का कुषाण-युग भी शक-काल की ही भाँति बड़े महत्त्व का था। एतद्देशीय शुंगों और गुप्तों के (नागों के भी) बीच खड़ा यह पश्चिम और पूर्व का सन्धि-काल सिद्ध हुआ। कनिष्क के अधिकार में मध्य एशिया के अनेक प्रांत, कुछ चीनी रियासतें (काशगर, खुत्तन और यारकन्द), काबुल की घाटी, समूचा कश्मीर, समूचा पंजाब, सम्भवतः साकेत तक थे। और धावे वह पाटलिपुत्र तक मारता था। बौद्ध परम्परा के अनुसार उसने उस नगर से प्रकाण्ड बौद्ध दार्शनिक और कवि अश्वघोष का बलपूर्वक हरण कर लिया था। कुषाणों का इस देश की कला और धर्मादि पर असाधारण गहरा प्रभाव पड़ा। साधारणतः भी इतनी विभिन्न जातियों पर शासन करने के नाते उसे विश्वास के सम्बन्ध में सार्वभौम और उदार होना चाहिए था और वह वैसा हुआ भी। इसी से उसके सिक्कों पर

उसकी उदारता के प्रमाणस्वरूप मध्य एशियाई देवता सूर्य, चन्द्रमा और ग्रीक देवताओं के साथ ही भारतीय बुद्ध की भी आकृतियाँ बनी हैं। यही सिक्के गुप्तों के सिक्कों के लिए आदर्श बने थे। गुप्तों ने शकों के चाँदी के सिक्कों को भी उनका मूल स्वरूप कायम रखते हुए फिर से टंकित कर उनसे शासित होने वाले मालवा, गुजरात, काठियावाड़ आदि में चलाये। बौद्ध धर्म के लिए जितना प्रयास उसने किया उतना अशोक के सिवाय और किसी ने इस देश में नहीं किया। उसके शासन-काल में अनेक बौद्ध और जैन स्तूप बने, जिनकी प्राकार वेष्टनियाँ (रेलिंगें) कला के प्रतीकों की खान बन गयीं। स्वयं उसने अनेक स्तूप बनवाये।[1] उसका उस धर्म की सेवा में एक विशेष कार्य कश्मीर में चौथी बौद्ध संगीति का अधिवेशन था। इस अधिवेशन को सफल बनाने के उसने अनेक प्रयत्न किये, उन्हीं में अश्वघोष का बलतः हरण भी था। उसी की संरक्षा में सर्वास्तिवादिन् संप्रदाय के महान् दार्शनिक एकत्र हुए और पिटकों पर विभाषा-शास्त्र की गंभीर व्याख्या प्रस्तुत कर उलझे और विवादग्रस्त सिद्धांतों को सुलझा दिया। विभाषा-शास्त्र को ताम्रपत्रों पर लिखवाकर कनिष्क ने एक स्तूप बनवाकर पत्रों को उसमें बन्द कर दिया।[2] सम्भवतः उसी की संरक्षा में महायान के प्रवर्तक नागार्जुन और भारतीय आयुर्वेद के महान् स्तम्भ चरक ने अपने अध्यवसाय किये और कृतियाँ रचीं। उसी ने पूर्वी पंजाब में चिनभुक्ति चीनियों की पहली बस्ती बसायी जहाँ उसने अपने राजकुलीय चीनी बन्दी रखे।[3] इन्हीं चीनी बन्दियों ने इस देश में पहले-पहल चीन में बहुतायत से होनेवाले आड़ू और नाशपाती के वृक्ष लगाये। लीची नाम का तीसरा चीनी फल-वृक्ष इस देश

---

[1] देखिए, हुएनत्सांग : सि-यू-की (बील का अनुवाद) खण्ड १, पृ० १५१-५६ ; वाटर्स का अनुवाद, खण्ड १, पृ० २७०-७८.

[2] वही।

[3] लाइफ़, पृ० ५६-५८ ; स्मिथ: अर्ली हिस्ट्री आफ़ इण्डिया, पृ० २७८-८०.

में किसने और कब लगाया इसका पता नहीं चलता। एक बड़े महत्व की बात यह है कि कनिष्क जिन उदार कुषाणों में उत्पन्न हुआ था वे तुर्की-चीनी जाति के युएह्-ची परिवार के थे और इस प्रकार मूलरूप में चीनी थे, चीन के कान-सू प्रांत में बसने वाले घुमक्कड़। इससे यह कहना अनुपयुक्त न होगा कि चाहे परोक्ष रूप में ही सही पर चीनियों ने भी हमारी महान् संस्कृति के निर्माण में पर्याप्त योग दिया। यह भी सकारण था कि कनिष्क ने चीनी सम्राटों का परम्परागत विरुद 'देवपुत्र' धारण किया था। फिर उसके सिक्कों के विविध देवताओं से चीनियों की धर्म के क्षेत्र में स्वाभाविक सहिष्णुता का परिचय मिलता है। वही मूलभूत सहिष्णुता कनिष्क ने भी कायम रखी।[१] उसके सिक्कों पर ग्रीक, मिस्री, ज़रतुश्ती, बौद्ध और हिन्दू देवताओं (हेरैक्लिज़, सेरापिज़, उनके ग्रीक नामों—हेलियोस और सेलिनी के साथ सूर्य और चन्द्र, मिहरो, अथ्रो, अग्नि, देवी ननाइया, शिव आदि) की आकृतियाँ उभरी हुई हैं।

जैसा ऊपर कहा जा चुका है, इस देश के प्रसिद्ध शक संवत् का चलानेवाला कुषाण-नृपति कनिष्क ही था। उसके शासन-काल में बौद्ध धर्म का विशिष्ट संप्रदाय महायान का जन्म हुआ जिसने भक्ति मार्ग के अनुकूल वैयक्तिक देवता का सृजन किया और परिणामस्वरूप भारत को बुद्ध की पहली प्रतिमा मिली। तत्काल भारतीय तक्षक अगणित संख्या में बुद्ध की मूर्ति कोरने लग गये। तथागत की अनन्त प्रतिमाएँ बनीं और भक्तों के पूजन की परिधि में आईं। गांधार-कला की यह परिणति थी। भारतीय कला की गांधार शैली का आरम्भ तो ग्रीकों के उत्कर्ष काल में कनिष्क से पहले ही हो गया था परन्तु उसका समुचित

---

[१] देखिए, जे० आर० ए० एस० १९०३, पृ० १-६४; इण्डियन ऐण्टिक्वेरी पृ० ३७, (१९०८) पृ० ३५ और आगे; सी० आई० आई०, २, भूमिका, पृ० ४९-८२.

विकास मय बुद्ध-प्रतिमा की अभिसृष्टि के, कुषाणों विशेषकर कनिष्क की ही संरक्षा में हुआ। पेशावर उसकी राजधानी थी और यूसुफ़ज़ई, काबुल तथा तक्षशिला के इलाकों में ही वह शैली विशेष फली फूली। कुषाणकालीन भारतीय कला के तीन विशिष्ट केंद्र थे—मथुरा, सारनाथ और अमरावती। इनमें तीसरा आंध्र राजाओं के अधिकार में था। कुषाण काल में यद्यपि गांधार शैली उत्तर-पश्चिम के नगरों में विशेष जाग्रत थी, कला के भारतीकरण का भी भले प्रकार आरम्भ हो गया था। मथुरा केंद्र में भी कुछ गांधार शैली की मूर्तियाँ बनीं, पर उनका अधिकाधिक झुकाव भारतीय शैली की ओर ही था। 'हेरैक्लिज़ और नेमियन सिंह,' 'सिलेनस,' ग्रीक मुद्रा में ग्रीक परिधान से युक्त परिचारिकाओं द्वारा सेवित 'आसवपायी कुबेर' आदि की अनेक मूर्तियाँ निश्चय वहाँ भी यवन टेकनीक में प्रस्तुत हुईं। पर इस प्रकार की मूर्तियाँ प्रायः मात्र ये ही हैं। वस्तुतः मथुरा की कुषाण-संरक्षित कला तो भारतीय संकेतों और प्रतीकों में विलास करती है। बुद्ध और बोधिसत्वों, नाग और नागियों, विविध प्रकार की रेलिंग-स्तम्भगत शालिभंजिकाओं, यक्ष-यक्षिणियों, किन्नर-सुपर्णों की अमित संपदा उस युग में प्रस्तुत हुई जब कनिष्क और उसके वंशधरों—वाभिष्क, हुविष्क, वासुदेव आदि—ने मध्यदेश पर शासन किया।

भारतीय कला का टोन (मुद्रा) अधिकतर मूक, गंभीर और जन्म को दुःख मानने के कारण प्रायः खिन्न रहा था। पर इस विदेशी कुषाण भावसत्ता ने उसे अपनी प्रसन्न मुद्रा प्रदान की। छाया को धूप का योग मिला, भारतीय कला धूप-छाँह से खिल उठी। बुद्ध के मूक और शांत रूप पर बोधिसत्व की अभिराम प्रसन्न छटा छिटकी। अर्हतों, बुद्धादि की प्रतिमाएँ चाहे कुछ एकान्तिक बनीं पर उनका परिवार, उनके पार्षद और उनके सम्बन्ध की अनन्त प्रतीक-माला तारुण्य, चापल्य, गति, क्रीड़ा, हास और उल्लास लिये पत्थर की पृष्ठभूमि से उठी और जीवन

पर सर्वत्र छा गयी। स्तूप निर्वाण—मृत्यु—के प्रतीक थे, पर उनको घेरनेवाली रेलिंगों पर उल्लसित अनियंत्रित जीवन लहराता था और जीवन के उस उल्लास को गति दी महायान ने। हीनयान वस्तुतः 'हीन' था, ओछा स्वार्थमय प्रयास, जिसमें अर्हत् अपने निर्वाण का प्रयास करता था, जलधारा लाँघनेवाली क्षुद्र नौका। उसके विपरीत महायान, सागर तिरनेवाला महापोत था जिसमें अनन्त जीवों के निर्वाण की, बहुजनहिताय-बहुजनसुखाय कल्याण की कल्पना थी, जिसपर चढ़कर सभी भव-सागर से पार हो सकते थे। वह बोधिसत्वों का उदार पथ था। हीनयान ने जीवन को बाँध रखा था, महायान ने उसके बन्ध तोड़ उसे विश्रृंखलित कर दिया। सहसा जीवन वेग से अनेक धाराओं से उछलता, झूमता, टूटता बह चला। स्तूपों की रेलिंग (वेष्टनी, वेदिका)-स्तम्भों के शिखर पर और सामने लंबायमान दण्डों पर, द्वार-तोरणों पर जीवन उछल चढ़ा, उसके हँसते प्रतीक उत्कीर्ण हो गये। वृक्ष की डाल पकड़े झुकीं शालभंजिकाएँ, अल्हड़ नग्न यक्षिकायें अनन्त रूपों में अभिव्यक्त हुईं। उनके ऊपर स्नेहभरी गृहिणी अन्नपूर्णा-सी अंकित हुई, लाजवन्ती तरुणी नुपुरझंकृत पदों से अशोक-दोहद सम्पन्न करने लगी, रक्ताशोक जैसे अंगार की लाल कलियों से झुक पड़ा, आसव के कुल्ले से बकुल हस्तलभ्य स्तवकों से झूम उठा। आकर्षक ईरानी परिधान से समूची ढकी अनवगुण्ठिता दीपवाहिका निर्वात लौ लिये वेदिकाओं को उजागर कर चली। कन्दुक उछालती, स्नान करती, प्रसाधन करती, अंजन करती, पुष्पचयन करती, वीणा-वादिनी नारी अपनी अगणित मुद्राओं में उनपर उभर आई, स्तूप का अन्तर्मुख कलेवर उनके माध्यम से पुलकित हो उठा। कुषाणों ने भारतीय भावसत्ता को जिह्वा देकर मुखर कर दिया। प्रतीकों में उभारी आकृतियाँ और उनके मुग्ध दर्शक एकप्राण हो नाच उठे।

स्वयं कुषाणकालीन कलाकार ने विदेशी प्रभाव का भारती-

करण करते समय ग्रीक परिधान की चुन्नटों को, लहराते लेबास की ऊँची लहरों को नीची कर दिया जिससे गुप्त कलाकार ने संकेत लिया और उन उर्मियों से परिधान को लांछित मात्र कर शरीर के अंगांगों में उन्हें विलुप्त कर दिया। ग्रीक चुन्नटें शरीर में खोकर उसका अलंकरण मात्र बन गयीं। आश्चर्य होता है कि पत्थर में सुईकारी और ध्वनि का स्रष्टा गुप्तकाल का सुरुचि विधायक शिष्ट कलावन्त क्या कर पाता यदि कुषाणों द्वारा प्रस्तुत अनन्त प्रतीक उसे उपलब्ध न होते। गुप्तकाल की कला चयनप्रधान थी, पुष्पलावीमण्डित अभिराम वाटिका, कुषाणकाल की कला प्रकृतिप्रधान थी, वसन्त में सहसा फूल उठनेवाली वनान्तव्यापी उपत्यका।

भारतीय संस्कृति को शकों और कुषाणों ने संस्कृत की गद्य-शैली दी, ज्योतिष दिया, सूर्य की प्रतिमा और कला में नयी प्रवृत्तियाँ दीं, शक-संवत् दिया, कनिष्क की कला में शक-संवत् का उपयोग अधिकाधिक शकों ने किया जिससे उनका नाम शक-संवत् से जुड़ गया। उन्होंने राष्ट्रीय परिधान को एक झलक दी और अन्ततः इस देश के इतिहास के स्वर्ण-युग गुप्त शालीनता के अवतरण के लिए भूमि प्रस्तुत कर दी। और उन्होंने अपनी यशस्विनी सन्तति को उस धरा को समर्पित कर दिया जिसने उन्हें निर्वासित कर दिया था! उनके वंशधर साहिय देश के सिंहद्वार के रक्षक हुए। इन्हीं साहियों ने सुबुक्तगीन और उसके बेटे महमूद के मरणान्तक आघातों से भारत की रक्षा करते हुए परस्पर लड़ती बिखरी देश की शक्ति को सर्वत्र से खींचकर एकत्रित किया। इस प्रकार भारत की आधारभूत एकता और सम्मान रक्षा की आवश्यकता घोषित करते हुए उन्होंने भारतीय इतिहास में पहली बार राष्ट्रीयता का अलख जगाया।

इस विदेशी संपर्क का भारत पर इन प्रायः पाँच सदियों (दूसरी सदी ई० पू० से तीसरी सदी ईसवी तक) में अपूर्व प्रभाव पड़ा। लोगों के सामाजिक दृष्टिकोण में प्रभूत अन्तर पड़ गया। जहाँ विदेशी भारतीय जीवन और विचारों से आकृष्ट

होकर उसके धर्म और संस्कृति को अपनाने और उसकी साहित्य-कला को सँवारने लगे, वहीं समाज का एक अंग नयी सामाजिक व्यवस्था के संगठन में लगा। स्मृतियाँ और धर्मशास्त्र नये सिरे से लिख डाले गये। उनके नये संस्करणों ने वर्णों की पवित्रता की रक्षा के लिए उनके विधान और कठोर कर दिये, उनको नये अनुबंधों से जकड़ दिया, यद्यपि विदेशियों के सदियों के निरन्तर आघातों से वे जर्जर हो उठे थे। बाल-विवाह तक का विधान कर दिया गया जिससे तरुण कन्याओं की विदेशी लुटेरों से रक्षा हो सके, क्योंकि पति का अपनी पत्नी की रक्षा कर सकना अनेक बच्चोंवाले पिता की अपेक्षा सुकर था। परन्तु इन विधानों के बावजूद पर्याप्त मात्रा में समाज में जातियों का संमिश्रण हो चुका था, संमिश्रण रोकने के सारे नियंत्रण निष्फल हुए क्योंकि विदेशी विजयी थे और बगैर स्त्रियों के अकेले आये थे और उन्हें न तो अनुबन्धों का डर था न उन्हें घोषित करनेवाले अनुबन्धकों का। फिर भी समाज में वर्णच्युत व्यक्तियों अथवा म्लेच्छों के अनाचार से भ्रष्ट पतितों की कमी न थी। जो भी हो, भारतीय समाज के विविध स्तरों में अनेक जातियाँ प्रविष्ट हुईं।

अधिकतर जातियाँ पश्चिम के मार्ग से ही आती थीं। उत्तर-पश्चिम के मार्ग से भारत की सीमा लाँघ लेने पर पश्चिमी मार्ग से दक्षिण की ओर बढ़ना आसान था क्योंकि उधर का भाग कुछ अरक्षित और कमज़ोर पड़ता था और संख्या से आप्लावित हो जाने का भय नहीं रहता था। ग्रीक उधर से ही पहले बढ़े थे, शक भी उधर ही होकर आये थे और अब आभीर (अहीर) और गुर्जर (गूजर) भी उसी राह भारत के भीतर घुसे। इन दोनों जातियों का भारत में प्रवेश तो बहुत पहले, संभवत: १५० ई० पू० से भी पहले, हो गया था, परन्तु उनकी शक्ति यहाँ काफ़ी देर बाद प्रतिष्ठित हुई। मौर्य साम्राज्य के पतन-काल में उत्तर-पश्चिमी सीमा अरक्षित हो गयी थी और यवनों (ग्रीकों) के साथ ही अनेक अन्य जातियाँ इस देश के खुले द्वार से घुस आयी थीं।

उन्हीं में आभीर और गुर्जर भी थे। वे कौन थे और कहाँ से आये, यह कहना कठिन है। संभव है, वे दरदों की कोई शाखा रहे हों, संभव है, शकों से ही उनका दूर का सम्बन्ध रहा हो।

पतंजलि ने अपने महाभाष्य में (१५० ई० पू०) आभीरों का उल्लेख किया है।[१] इनका भारत में पहला पड़ाव पेशावर ज़िले के सिन्धु देश में था। उनसे लगे उनके पूरबी पड़ोसी गुर्जर थे।[२] सम्भवतः उन्हीं के सम्बन्ध से पंजाब के ज़िलों और स्थानों के नाम गुजरात और गुजरानवाला पड़े। आभीर और गुर्जर दोनों साथ ही साथ देश में फैले। गुर्जर गूजर, बड़गूजर नामों से उत्तर प्रदेश के पश्चिमी भागों में बड़ी संख्या में बसे हैं। पर अधिकतर वे दक्षिण चले गये और गुजरात (लाट) में बसकर उसे अपने नाम से प्रसिद्ध किया। महाभारत ने आभीरों के पंजाब में होने का उल्लेख किया है।[३] पीछे उनका उल्लेख कुरुक्षेत्र, शूरसेन (व्रज) आदि में होने लगा। उनके वंशधर आज अहीर नाम से पूर्वी बिहार तक फैले हुए हैं। उनकी एक शाखा गुर्जरों के ही साथ दक्षिण जाकर गुजरात के पश्चिम समुद्र तट पर काठियावाड़ आदि में जा बसी और अति प्रबल हुई। यज्ञश्री शातकर्णि के उत्तराधिकारियों के दुर्बल होते ही आभीरों के राजा ईश्वरसेन ने तीसरी सदी ईसवी के मध्य उनसे महाराष्ट्र छीन लिया।[४] साथ ही शक क्षत्रपों को भी उसने निःशक्त कर दिया। क्षत्रपों के अभिलेखों में उनका उल्लेख प्रायः हुआ है। आभीरों की एक शाखा सम्भवतः गणतांत्रिक भी थी। ऐसी जातियों की गणना करते समय, जिन्होंने समुद्रगुप्त के प्रति आत्मसमर्पण कर दिया था, प्रयागस्तम्भ के प्रशस्ति-लेख में हरिषेण ने आभीरों को भी गिनाया है। वे आभीर सम्भवतः मध्यभारत में

---

१ कीथ : हिस्ट्री आफ़ संस्कृत लिट्रेचर, पृ० ३३.

२ वही।

३ वही।

४ त्रिपाठी : हिस्ट्री आफ़ एंशेन्ट इण्डिया, पृ० २४५, नोट।

पार्वती और बेतवा के द्वाब में अहिरवाड़ में बसे थे। अहीर और गूजर दोनों अपने विशिष्ट यष्टिकाय और विविध सामाजिक रीतियों से पृथक् पहचाने जा सकते हैं। अहीर तो बालकृष्ण की विशेष मनोयोग से पूजा करते हैं। पिछले काल में तो अहीरिनें, ग्वालिनों और प्राचीन गोपियों का पर्याय मान ली गयीं और अनेक हिन्दी के रीतिकालीन कवियों ने उनको पर्याय के रूप में ही व्यवहृत किया। अहीरों और गूजरों को वर्ण-व्यवस्था के स्तरों में भी सही-सही नहीं रखा जा सकता। वैसे अहीरों ने यादवों से अपना सम्पर्क स्थापित कर अपने वर्ण-विचार में पर्याप्त जटिलता उत्पन्न कर दी। शूरसेन प्रदेश का सौराष्ट्र से सम्बन्ध और अहीरों का दोनों स्थानों में संख्या-प्राबल्य इस समस्या को और उलझा देते हैं।

इसी प्रकार गुर्जरों ने भी गुजरात में अपना प्राधान्य स्थापित कर लिया था। हर्षचरित में बाण ने प्रभाकरवर्द्धन द्वारा उनकी पराजय का उल्लेख किया है।[1] हर्ष के बाद राजपूताने में वे विशेष प्रबल हो गए और एक बार अवन्ती (मालवा) पर भी उन्होंने अधिकार कर लिया। उनका एक केन्द्र जोधपुर के निकट मन्दौर भी था जहाँ से बढ़कर उन्होंने कन्नौज पर अधिकार लिया और मध्यदेश के एक बड़े खण्ड पर अपना गुर्जर-प्रतिहार नाम से साम्राज्य स्थापित किया।[2]

दोनों ने आरम्भ से ही भारतीय प्राकृतों को प्रभावित किया। गुजराती पर विशेषकर गूजरी का और कुछ मात्रा में आभीरी का भी प्रभाव है। शौरसेनी और महाराष्ट्री को भी आभीरी ने प्रभावित किया। दण्डी का तो कहना है कि अपभ्रंश आभीरों के शब्दों के प्रभाव से बनी पद्यगत भाषा को कहते

[1] 'गुर्जरप्रजागर'; और देखिए हर्षचरित का टामस का अनुवाद, पृ० १०१; कलकत्ता-संस्करण, पृ० २४३, ४३.

[2] त्रिपाठी, पूर्वनिर्दिष्ट, पृ० ३१९.

हैं।[१] लगता है कि प्राकृत में आभीरी बोली के प्राधान्य (अथवा मिश्रण) से ही अपभ्रंश का निर्माण हुआ। इस प्रकार संभवत: आभीरों ने अपनी बोली को साहित्यिक रूप देकर उसे अपभ्रंश कहा। आभीर और गुर्जर राजाओं का प्रभाव जैसे-जैसे बढ़ा वैसे ही वैसे अपभ्रंश लोकप्रिय हुआ और वह शैली के रूप में मूल पश्चिम से पूर्व और उत्तर की ओर फैला। स्थानीय अपभ्रंश धीरे-धीरे खड़े हुए। सिन्ध की व्राचट (व्राजड) का तो आभीरी प्राय: पर्याय है।[२] इस प्रकार आभीरों और गुर्जरों का देश की भाषा और संस्कृति पर खासा प्रभाव पड़ा, विशेषकर जब हूणों के आने के समय देश में आभीरों और गुर्जरों की बाढ़-सी आ गयी। जाट भी सम्भवत: इन्हीं के साथ आये। कुछ आश्चर्य नहीं यदि वे गूजरों की ही कोई शाखा रहे हों। कुछ लोगों ने तो गुप्त सम्राटों को कारस्कर गोत्र का जाट ही माना है[३] यद्यपि उस सिद्धान्त को स्वीकार करने में अनेक कठिनाइयाँ हैं।

शक-कुषाणों के बाद का युग गुप्त सम्राटों का भारतीय इतिहास का स्वर्ण युग है। वह काल पिछले और अगले युगों की संधि पर खड़ा है, इतिहास के एक छोर का वह अन्त है, दूसरे का आरम्भ। उस काल संस्कृति का फिर से लेखा-जोखा लिया गया। विदेशी जातियों के कमज़ोर होते ही जब सबल भारशिव नागों और गुप्तों का प्रताप बढ़ा तब उनमें से अनेक शूद्र और अस्पृश्य तक मान ली गयीं। तब पौराणिक परम्परा का विकास हुआ और देवताओं और उनकी प्रतिमाओं की बाढ़-सी आ गयी। पुराणों का साहित्य प्रस्तुत हुआ। गुप्तों की स्वाभाविक उदारता उसमें प्रतिबिम्बित हुई और यद्यपि धर्मशास्त्रों में शूद्रों के प्रति

---

[१] काव्यादर्श, १, ३२.

कीथ : हिस्ट्री०, पृ० ३३, ३४.

[३] काशीप्रसाद जायसवाल : जरनल बिहार उड़ीसा रिसर्च सोसाइटी, (मार्च-जून, १९३३).

कठोरता का विधान हुआ, पौराणिक परंपरा में वे भी आदर के पात्र समझे गये। वैष्णवों और शैवों में जो वे भी भक्त बनकर प्रविष्ट हुए तो यहां तक कहा गया कि राम का नाम जपने से कसाई, गणिका और चाण्डाल तक स्वर्ग पहुँच गये।

●

अध्याय चार

# ● ● हूण-किरात

जैसा ऊपर कहा जा चुका है, पाँचवीं सदी ईसवी में हूणों के साथ ही आभीरों, गुर्जरों और जाटों का भी देश में प्रभाव बढ़ा। हूण चीन से आये थे। उनका आक्रमण बड़ा भयानक था। उन्होंने प्रबल रोमन साम्राज्य की रीढ़ तोड़ दी थी। भारत में स्कन्दगुप्त विक्रमादित्य ने एक बार तो उनकी बाग रोक दी पर शीघ्र उनके अनवरत आक्रमणों ने गुप्त साम्राज्य की चूलें ढीली कर दीं और वह साम्राज्य नींव के जल से जर्जर अट्टालिका की भाँति बैठ गया। हूण वर्ण धर्म में सर्वथा नहीं समा सके क्योंकि विजयी होने के कारण उन्हें शूद्र होना स्वीकार नहीं था। इससे उन्हें विशेष प्रकार के क्षत्रिय मानना पड़ा, अधिकतर जिनमें से आज की राजपूत जातियाँ हैं। माउन्ट आबू पर यज्ञ द्वारा इन जातियों को शुद्ध कर लिया गया और जो घराने प्रबल हो गए थे उन्हें राजपूत क्षत्रिय मान लिया गया। इन्हीं में चाहमान (चौहान), परमार, प्रतिहार आदि थे जिन्हें उसी यज्ञ के परिणामस्वरूप क्षत्रिय होने के कारण अग्निकुण्ड से जन्मे मानकर उन्हें अग्निकुलीन कहा गया।[1] इस प्रकार जिन हूणों

---

[1] लुआर्ड और लेले : परमाराज़ आफ़ धार ऐण्ड मालवा ; गांगुली : हिस्ट्री आफ़ द परमार डाइनेस्टी।

ने गुप्त साम्राज्य को चूर-चूर कर डाला था, जिनके आतंक से पश्चिमी भारत सदा काँपता रहता था, जिन्हें यशोधर्मन् और बालादित्य की संमिलित वाहिनी परास्त कर सकी थी, जिन्होंने दो पीढ़ियों तक कश्मीर में राज किया था वे हूण अन्य आभीरों, गुर्जरों, जाटों आदि के साथ फिर भी इस देश में नयी शक्ति के उन्नायक हुए। मरणोन्मुख भारतीय जाति में जो उन्होंने नये प्राण फूंके तो राजपूतों के शौर्य में एक नया जीवन यहाँ लहराया। 'राजपूत' शब्द पराक्रम और साहस का पर्याय बन गया। इतिहास के पन्ने उनकी कीर्ति से भर गये। उनके मर्द अविजित प्रताप के द्योतक हुए, उनकी नारियां लाज बचाने के लिए शत्रु के छूने से पहले अग्नि की लपटों में आत्माहुति के लिए प्रसिद्ध हुईं। राजपूत नारियों का वह साहसपूर्ण 'जौहर' इब्रानी 'ज़ोहर' से निकला जिसका अर्थ अग्नि और प्रकाश होता है।[1] किस प्रकार एक देश का शालीन गौरव दूसरे देश की भाषा से अभिव्यक्त होता है उसका यह 'जौहर' उत्कट उदाहरण है।

अहीर, गूजर, जाट और राजपूत हिन्दू समाज में खप जाने के बावजूद उसकी वर्ण-व्यवस्था से अलग हैं। उनका शरीर-गठन और कायिक रूपरेखा, रीति-रस्म और परम्पराएँ अपना पृथक् स्थान रखती हैं। राजपूतों को छोड़ औरों में तो विधवा-विवाह की प्रथा भी प्रचलित है। वस्तुतः इन्हीं के प्रारंभिक आक्रमण और प्रभाव के कारण कुछ स्मृतियों में विधवा-विवाह का भी विधान करना पड़ा था। ये जातियाँ चाहे विशुद्ध वर्ण-परम्परा के अन्तर्गत न आती हों परन्तु निःसंदेह इनसे भारत को असाधारण बल मिला।

इन अगणित विभिन्न विदेशी जातियों के समाज में आ मिलने से जो वर्ण-भिन्न और वर्ण-विरोधी स्थिति आ उपस्थित

[1] देखिए इब्रानी पुस्तक ज़ोहर, लेखक लियों का मूसा (मोंज़ेज़ द लयों—१२५०-१३५०) हिब्रू लिट्रेचर, शीप्ले की इंसाइक्लोपिडिया आफ़ लिट्रेचर, पृ० ३६५, कालम १.

हुई उसने स्मार्त व्यवस्था को बड़ा धक्का पहुँचाया। बौद्ध धर्म में वज्रयान बड़ी तीव्रता से शाक्तों की ओर बढ़ता आ रहा था, उधर शाक्त धर्म प्राय: सर्वथा तांत्रिक हो चला था। धीरे-धीरे तारा-प्रज्ञापारमिता और शक्ति में भेद न रहा और दोनों की विधि-क्रियाएँ तांत्रिक हो गयीं। उन्होंने घोषित किया कि जो ब्राह्मण (स्मार्त)-धर्म में धर्म है वह हमारे लिए अधर्म है और जो उनके लिए अधर्म है वही हमारे लिए धर्म होगा। उन्होंने तप द्वारा वासनाओं के जीतने की जगह अतिभोग से उनका निराकरण करना उचित समझा और भारत का सामाजिक मेरुदण्ड टूट गया। हुआ तो यह था विशेषत: वर्णादि ब्राह्मण (स्मार्त) व्यवस्था के विरोध में विद्रोह के रूप में, पर एक बार सदा की दबायी शूद्रादिकों को (नयी जातियों के आने से जिनकी शक्ति बढ़ गयी थी) जो अवसर मिला तो उन्होंने सभी प्रकार के असामाजिक विद्रोह करने शुरू किये। उनके नेता भी अधिकतर या तो टूटे हुए (वर्णच्युत) ब्राह्मण थे या निम्नजातीय साधक। सिद्धों की परम्परा जगी। साधक स्वयं तो आचारत: सशक्त थे पर इस प्रकार की शाक्त, वज्रयानी या साधारण स्मार्तविरोधी जनता को न सम्हाल सके। पालों (शूद्र और बौद्ध) के शासन में स्थिति अधिकाधिक बिगड़ती गयी और कापालिक, औघड़ आदि अनेक पंथ उठ खड़े हुए। सुरा और नारी का साधनाओं में उपयोग होने लगा, मन्दिरों तक पर यौन उत्खचन जा चढ़े और प्रकृत माने जाने लगे। यह व्यवस्था या कुव्यवस्था मुगल काल तक चलती रही और तुलसी आदि स्मार्त सामाजिकों को इन तान्त्रिकों से समाज की रक्षा करने के लिए और वर्ण तथा गार्हस्थ्य को फिर से समुचित रीति से स्थापित करने के लिए रामचरितमानस आदि के-से प्रबन्धकाव्य लिखने पड़े।

भारतीय समाज को एक अन्य जाति का योग पूर्व की ओर से मिला। यह किरात जाति थी। किरातों का उल्लेख प्राचीन भारतीय साहित्य में देशी-विदेशी जाति दोनों रूपों में हुआ है।

इनका वृत्त बड़ा है और इनके घेरे में साधारणतः पार्वतीय, जांगल और मंगोल जातियाँ भी शामिल हैं। बहुत प्राचीन काल से पूर्व की पीली जातियों से आर्यों और वर्ण-जातियों का संपर्क होता रहा है। महाभारत में अर्जुन के उलूपी-विवाह आदि का जो वर्णन है वह इन्हीं पूर्वी पीली जातियों से सम्पर्क का संकेत है। शान जातियों का सम्बन्ध बर्मी, चीनी, तिब्बती (भोट) आदि जाति-वर्ग से है जिनका बराबर भारत से सम्बन्ध बना रहा था और जो बंगाल तक अपना प्रभाव मूक जातीय संमिश्रण द्वारा फैलाती रही थीं। कामरूप (आसाम) भारतीय और इन किरात जातियों का सन्धिस्थल था और जब शानों की शाखा आहोम जाति ने तेरहवीं सदी में आसाम पर अधिकार कर उसे अपना नाम दिया तब तो वह सम्पर्क प्रचुर संमिश्रण बन गया। भोटों-तिब्बतियों से तो बौद्ध धर्म के माध्यम से भारतीय सम्बन्ध चला ही आता था, उससे भी पहले वात्स्यायन ने अपने काम-सूत्रों में अपने सूत्र 'गोयूथिकम्' में उनके समूचे परिवार के एक साथ सोने और भाइयों के एक ही पत्नी से विवाह करने का संकेत किया है। पाण्डवों के पिता राजा पाण्डु का पर्वतों में रहना और कालान्तर में पाण्डवों का समान पत्नी द्रौपदी से विवाह करना भी उसी सम्बन्ध का सम्भवतः परिचायक है। वैसे हिमालय की जातियों की साधारणतया ढीली गार्हस्थ्य परम्परा ने विवाहादि की व्यवस्था को समीपवर्ती पहाड़ी भारतीय जातियों में भी कमज़ोर निश्चय कर दिया होगा। स्वयं कालि-दास ने उस ओर पार्वतीय उत्सवसंकेतों के निर्देश से संकेत किया है।[१] सो यह निश्चित है कि पूर्वी बंगाल और निकटवर्ती भारतीय जनता की रीति-रस्मों, विश्वासों और जातीयता पर इस शान-भोट-किरात जनता का गहरा और विस्तृत प्रभाव पड़ा। सप्तमातृकाओं के अतिरिक्त अनेक अन्य मनसा, शीतला

---

[१] रघुवंश, ४, ७८—शरैरुत्सवसंकेतान्स कृत्वा विरतोत्सवान्।

आदि देवियों का जो मध्यदेश की जनता तक में विश्वास फैला और लोकगीतों, विशेषकर शीतला (चेचक) आदि के प्रकोप सम्बन्धी नारी-गायनों में उनका बारंबार उल्लेख हुआ वह वस्तुतः उसी प्रभाव का परिणाम था और वह मध्यदेश में बाहर से आकर बसने और भारत की निम्नस्तरीय जनता को अपनी वर्णविरोधी स्थिति से शक्ति देनेवाली जातियों के योग से और व्यापक हो उठा।

अध्याय पांच

# ● ● अरब, तुर्क, मुगल

भारतीय संस्कृति, वर्ण, विश्वास, धर्म, भाषा, साहित्य, विज्ञान, कला आदि पर असाधारण व्यापक और गहरा प्रभाव इस्लाम ने डाला। अरब, तुर्क, पठान, मुगल आदि जातियाँ इस्लाम के झंडे के नीचे इस देश में प्रविष्ट हुई और क्रूरता, प्रेम, प्रचार सभी प्रकार से अपने विचारों, विश्वासों आदि का प्रसार कर इस देश को हिन्दू-मुसलमानों की एक सम्मिलित व्यवस्था, राष्ट्रीयता प्रदान की। वह प्रभाव कितना व्यापक, कितना गहरा, कितना शालीन था, इसका अनुमान उचित मात्रा में साधारणतः नहीं किया जाता। संक्षेप में उसी का उल्लेख आगे के पृष्ठों में करेंगे और वस्तुतः वह उस प्रभाव के प्रति संकेत मात्र होगा।

अरबों का संपर्क भारत से बहुत पुराना है, प्रायः तब से जब अभी इस्लाम का उदय भी नहीं हुआ था। पश्चिमी देशों के साथ भारतीय व्यापार में अरबों का पर्याप्त योग था और अनेक बार प्राचीन काल में तो दोनों के व्यापारिक सम्बन्ध के माध्यम प्रायः एक मात्र अरब ही रह गये थे। इससे स्वाभाविक ही उत्तर भारत से भी पहले दक्षिण भारत ही उनके सम्पर्क और प्रभाव में आया। पाँचवीं-छठी सदी में फ़ारस का भारत से

व्यापार चरमसीमा तक पहुँच गया, अरब ही अधिकतर जिसमें नाविक का काम करते थे। फ़ारस की खाड़ी में जानेवाले सभी जहाज़ अदन और शहर के बन्दरों में ठहरते थे। अरब और भारतीय नाविकों का उस भाग में प्राय: तभी से अथवा और पहले से साझा चला आता था, जब दोनों अन्तोनी और क्लियो-पात्रा की ओर से प्रसिद्ध अक्तियम के युद्ध में रोमन (पीछे सम्राट्) आक्तेवियस सीज़र से लड़े और समान रूप से हारे थे। इस्लाम के उदय होने के पर्याप्त पहले पश्चिमी समुद्र तट पर चाउल, कल्यान और सोपारा में उनकी बस्तियाँ थीं। मालाबार के तट पर तो और भी पहले अरबों की बस्तियाँ बन गयी थीं। सातवीं सदी ईसवी में इस्लाम के उदय ने उस दिशा में और सहायता की। मध्य और पश्चिमी एशिया की भूमि पर उधर उसकी सेनाओं ने अधिकार किया इधर उनके जहाज़ी बेड़े हिन्द महासागर में फिरने लगे। लाल सागर से चलकर वे सिन्धु के मुहाने और खंभात की खाड़ी होते मालाबार पहुँचते और वहाँ पड़ाव कर लंका (सिंहल) जाते। हज़ारों की संख्या में अरब मालाबार के तटपर जा बसे और मोपला कहलाये। तब से आज तक वे प्राय: तेरह सदियों से नायरों के रीतिरस्मों और जीवन को प्रभावित करते रहे हैं। इन्हीं जहाज़ियों के सम्पर्क का यह परिणाम था कि उत्तर भारत पर भी अरबों का अधिकार हुआ। खलीफ़ा उमर के शासनकाल में सिंहल में बसे अरबों की लड़कियों को लेकर एक अरबी जहाज़ चला जिसे सिंधियों ने पकड़ लिया। हज्जाज (ईराक का शासक) के माँगने पर भी सिन्ध के राजा ने जब लड़कियों को लौटाने से इन्कार कर दिया तब उसने मुहम्मद-बिन-कासिम के नेतृत्व में अरब सेना भेजी जिसने ७१२ ई० में सिन्ध पर अधिकार कर लिया। सदियों अरबों ने सिन्ध पर शन्तिपूर्वक राज किया। संभवत: इस्लाम का इतना सहिष्णु शासन, जिसमें ब्राह्मणों को उनके लिए कर उगाहने, मन्दिर आदि का जीर्णोद्धार करने, नये बनवाने

आदि का अधिकार था, और कहीं नहीं हुआ। इसीसे प्रतीहारों आदि के प्रबल साम्राज्यों के बावजूद, चारों ओर से हिन्दू राज्यों से घिरा रहकर भी, वह छोटा राज्य जीवित बचा रहा।

मालाबार तट पर इस्लाम का प्रचार धीरे-धीरे ज़ोर पकड़ता गया और जब क्रंगनूर के राजा ने वह धर्म स्वीकार कर लिया तब तो उसका प्रचार और भी बढ़ा। तब मोपलों के धार्मिक नेता थंगल की पालकी ज़मूरिन (समुद्रिन्) की बगल में चलने लगी। वहाँ अनेक मस्जिदें खड़ी हो गयीं, हज़ारों मुसलमानों में क़ाज़ी और मुफ़्ती फिरने लगे। ग्यारहवीं सदी तक पूर्वी समुद्रतट पर भी अरब बसे और मदुरा, त्रिसुरा (त्रिचनापली) आदि में उनकी बस्तियाँ उठ खड़ी हुईं। तेरहवीं सदी के पांड्य राजाओं के तो मुसलमान मंत्री तक बन गये। मलिक क़ाफ़ूर के हमले के समय तक दक्षिण भारत में अनेक मुसलमान बस्तियाँ बस चुकी थीं। दक्षिण-पश्चिम के अनेक राजाओं के पास मुस्लिम सेनाएँ थीं, स्वयं प्रसिद्ध सोमनाथ के राजा के पास मुसलमान लड़ाके थे। कुछ अजब नहीं जो भारतीय धर्मों में सुधार की आवाज़ पहले इस सम्पर्क के कारण दक्षिण में ही उठी हो और रामानुज, बासव आदि विशेष सयत्न हो उठे हों।

अरबों की प्रचार-पद्धति अन्य मुसलमानों से सर्वथा भिन्न थी। वे संसार की उन अमर जातियों में से थे जिन्होंने संस्कृतियों को मरने से बचाया था और उनके रत्नों की रक्षा की थी। ज्ञान का एक भंडार ही उन्होंने ८३० ई० में बगदाद में खड़ा कर दिया। ग्रीक दर्शन और अलकेमी, भारतीय गणित, ज्योतिष और चिकित्सा-शास्त्र, चीनी मुद्रण और काग़ज़ उन्होंने यूरोप तक पहुँचाए। इस्लाम के झंडे के नीचे लड़नेवाली अनेक ख़ूनी जातियों के व्यवहार से प्रायः उन्हें भी जोड़ दिया जाता है पर वे उनसे सर्वथा भिन्न थे। वे स्वयं हिन्दू राज्यों की ही भाँति सुबुक्तगीन

और उसके बेटे महमूद ग़ज़नी की संहर्त्री चोटों से छिन्न-भिन्न हो गये।

दक्षिण में जो साम्प्रदायिक एकेश्वरवाद का शैवों और वैष्णवों में प्रचार हुआ उसमें इस्लाम का प्रभाव लक्षित है। इस काल जो वैष्णवों में भक्तों की परस्पर समता का भाव विशेष शक्ति के साथ जगा और निम्नवर्गीय, शूद्र-अछूत तक उसके नेता हो सके, वह इसी नये धर्म और मुस्लिम सम्पर्क के परिणामस्वरूप हुआ। इसी बीच उत्तर में भी अनेक मुस्लिम आक्रमणों और इस्लाम के क्रूर और कोमल आघातों से हिन्दू जाति में भी कुछ सनसनी हुई। उसने उस जातीय एकता की शक्ति देखी जिसके अभाव ने उसका विदेशियों से संघर्ष कुंठित कर दिया था। उसमें भी प्रचार की भावना जगी। इसी समय एक और विचारधारा से उसका संपर्क हुआ। वह विचारधारा अथवा जीवन-दर्शन तसव्वुफ़ था।

आठवीं-नवीं सदियों से ही फ़ारस और अरब में उसका प्रचार हो चला था और दसवीं से बारहवीं सदी तक तो उसने असाधारण शक्ति धारण कर ली थी। इस्लाम के क्रूर धर्म-परिवर्तन को धिक्कार, वे सबमें एक ख़ुदा का व्यापक बास मानने लगे और ख़ुदा के साथ उनका जो एक अभिन्न अपनापा हुआ, वह भारतीयों को विशेष आकर्षक लगा। उसके विकास में भारतीय वेदान्त से भी सहायता मिली थी, जिससे उस धर्म के अनेक प्रसंग और अवयव जाने हुए लगे। प्रेम का असाधारण उल्लास तसव्वुफ़ की विजय का विशेष कारण बना। निर्भीकता और त्याग सूफ़ियों में अमित मात्रा में था और बड़ी संख्या में उनके दरवेशों ने मध्य एशिया के कठमुल्ले शासन के अत्याचार सहे, पर हंसते-हँसते उन्होंने यातनाएँ और सूली झेली किन्तु अपनी बात मानने से, अपने को ख़ुदा का प्रिय और ख़ुदा को अपना प्रिय, दोनों में एक प्रकार का सखाभाव स्थापित करने से वे न चूके। और उनका वह सारा विश्वास-वैभव इस देश में उनके

साथ आया और यहाँ के समाज-सुधार की प्रेरणा बन हिन्दू-मुसलमानों की विशेष एकस्थ सम्मिलित विरासत बना। रामानन्द, कबीर, जायसी, चैतन्य, नानक, आदि उसी प्रेम-प्रेरणा के प्रचारक और साधना के विधायक थे। वैष्णवों में सखी-समाज की अनोखी भावना भी उसीका परिणाम थी। अनेक भारतीय सम्प्रदायों में जो 'गुरु' की इतनी मर्यादा बढ़ी और वह जो अनेक बार भगवान से भी बड़ा मान लिया गया, वह इस्लाम के नबी के उसूल का ही फल था। गुरु नबी का स्थानापन्न हुआ।

मुसलमान शक-कुषाणों और आभीर-गुर्जरों-हूणों की भाँति बगैर किसी सामाजिक व्यस्था के इस देश में नहीं आये थे। उनका अपना जीवनदर्शन था, अपनी सामाजिक समतापरक व्यवस्था थी, अपने रस्म-कानून थे और वे अन्य जातियों की भाँति भारत में सांस्कृतिक रूप से विजित न हो सके। अपने धर्म के प्रति उनमें गहरी आस्था थी और उसके औरों में प्रचार की लगन भी थी। वे यहाँ से लौट जाने के लिए नहीं आये थे। यहाँ वे बस गये और बस जाने के बाद यह संभव न था कि उनकी, शासकों से भिन्न, साधारण जनता उन हिन्दुओं से सदा शत्रुता रखे जिनके साथ वह बसी थी। धीरे-धीरे दोनों मित्र बने। संपर्क से सद्भाव जन्मा, समझ आयी और भेदभाव मिटा। हिन्दुओं ने अपने अनेक नये आचार उनसे लिये, उन्होंने भी हिन्दुओं से लिये। जो लोग हिन्दू से मुसलमान बने उनमें भी पहले से विशेष अन्तर न पड़ा, कम-से-कम वे उनसे कुछ विशेष भिन्न न बन पाये जिन्हें उन्होंने छोड़ा था। पड़ोस का परिणाम यह हुआ कि एक बार साथ-साथ बस जाने के बाद दोनों ने मिलकर एकसाथ एक नयी समान संस्कृति विकसित की जो न सर्वथा मुस्लिम थी न सर्वथा हिन्दू। न केवल हिन्दू धर्म, हिन्दू कला, हिन्दू साहित्य और हिन्दू विज्ञान में मुस्लिम संपर्क से क्रांति हुई, वरन् हिन्दू संस्कृति और हिन्दू मानस गुणतः बदल गये और उसी रूप और मात्रा में स्वयं

मुसलमानों के तत्सम्बन्धी दृष्टिकोण में परिवर्तन हुआ। दक्षिण में, महाराष्ट्र, गुजरात और पंजाब में, उत्तरप्रदेश, बिहार और बंगाल में चौदहवीं सदी से एक अन्तरावलंबित सांस्कृतिक आन्दोलन चल पड़ा जिसने दोनों को, विशेषकर हिन्दू जनता को फिर से विचारने को मजबूर किया, प्राचीन धर्म के अनेक तत्वों को त्याग दिया, नये आगन्तुक विचारों पर ज़ोर दिया। इसी काल तसव्वुफ़ और मुस्लिम लेखकों में हिन्दू विचारों और रस्मों को जज़्ब करने की गहरी प्रवृत्ति दिखाई पड़ी, यहाँ तक कि कुछ क्षेत्रों में तो हिन्दू देवता भी पूजे जाने लगे।

वस्तुतः भारतीय जीवन के प्रत्येक क्षेत्र पर जो मुस्लिम प्रभाव पड़ा वह गहराई और प्रसार दोनों में असाधारण था। रस्म-रीति, उत्सव-मेले, आचार-विचार, वस्त्र-परिधान, आहार-विवाह, भाषा-साहित्य, संगीत-शिल्प, चित्रण आदि सभी पर यह प्रभाव लक्षित हुआ। मराठी, राजपूत और सिक्ख दरबारों में एक ही प्रकार के एख़लाक-लेबास बरते जाने लगे। इन सबका ब्यौरे-वार उल्लेख करने के लिए अलग-अलग ग्रन्थ चाहिएँ। हम यहाँ केवल कुछ की ओर संकेत करेंगे।

हिन्दुओं का विज्ञान, यद्यपि तब तक कुण्ठित हो चुका था फिर भी असाधारण रूप से सम्पन्न था। अरबों पर भारत के गणित, ज्योतिष और चिकित्सा-शास्त्र का पर्याप्त ऋण था पर अरब स्वयं असाधारण रक्षा-भाण्ड थे। जैसे उन्होंने हिन्दुओं से लिया वैसे ही ग्रीकों और चीनियों से भी लिया था और वे तीनों के ज्ञान के धनी थे। अब जो वे भारत आये तब उस सम्मिलित दाय के धनी होकर आये। उसमें उनका निजी भी बहुत-कुछ था, और अलबरूनी ने तो सिद्ध कर दिया कि इन सब दिशाओं में मुस्लिम वैज्ञानिकों का ज्ञान हिन्दुओं से किसी मात्रा या प्रसंग में कम नहीं था। हिन्दुओं ने इसे समझा और तत्काल उन्होंने विज्ञान के वे सारे सिद्धांत उनसे ले लिये जो उन्हें नये जान पड़े। ज्योतिष के क्षेत्र में यह प्रयास विशेष सयत्न हुआ। अनेक ज्योतिष

के लाक्षणिक शब्द, अक्षांश-देशान्तर की (मुस्लिम) गणना, पंचांग (ज़ीच), जन्मपत्री (जातक) सम्बन्धी समूचा विज्ञान (ताजीक नाम से प्रगट है कि यह ज्ञान ईरानी ताजिकों से मिला) भारत को नये सिरे से मुसलमानों से मिला।[१] जयपुर के महाराज जयसिंह (१६८६-१७४३ ई०) ने पंचांग-सुधार में बड़ा कार्य किया। जयपुर, मुथरा, दिल्ली और उज्जैन में उन्होंने वेधशालाएँ स्थापित कीं। उनके पंडितों ने अल्-मजिस्ती का अरबी से संस्कृत में अनुवाद किया। स्वयं उन्होंने अपने 'ज़ीचमुम्मद-शाही' की महाकायिक रचना में उलूगबेग, नासिरुद्दीन तूसी, अल्-गुरगान (इल्खानी), जमशेद काशी (खाक़ानी) आदि की ज्योतिष-शब्द-पीठिका का उपयोग किया। चिकित्सा के क्षेत्र में यूनानी विरासत के साथ इस देश में मुसलमानों ने अपनी हिकमत का प्रचार किया। आयुर्वेद ने उनसे धातु अम्लों का व्यवहार सीख रसायन की अनेक विधियाँ प्रचलित कीं। इसके अतिरिक्त मुस्लिम सम्पर्क से इस देश में काग़ज़ और मीनाकारी (धातुस्नेह, चित्रकाच) का चलन हुआ। अब तक पुस्तकें ताड़ और भोजपत्र पर ही लिखी जाती थीं अब उस दिशा में काग़ज़ ने क्रांति उपस्थित कर दी।

ललित कलाओं को हिन्दू-मुसलमान दोनों ने पूजा की निष्ठा से सँवारा। संगीत, स्थापत्य और चित्रण तीनों कलाएँ इस्लाम के योग से समृद्ध हुईं। मुस्लिम शासन काल में संगीत के विकास पर एक दृष्टि यहाँ उपादेय होगी।

सूफ़ियों ने भारत आते ही उसके संगीत को अपना लिया। स्वयं उनके अपने धार्मिक गायन बड़े लोकप्रिय हुए। हिन्दू और मुसलमान दोनों ने उनको अपनाया। सूफ़ी बग़दाद और फ़ारस से आये थे। सुल्तान अलतमश के राज्यकाल में सूफ़ियों का नेता और दार्शनिक नगर का क़ाज़ी हमीदुद्दीन था जिसे सुल्तान के

---

१ कीथ: हिस्ट्री०, पृ० ५५३.

दरबार में गाने की अनुमति मिली। १२३७ ई० अल्तमश के बेटे सुल्तान फ़िरोज़शाह के समय 'संगीतरत्नाकर' लिखा गया जिसमें समकालीन गायन की नई पद्धति जोड़ ली गई। उस समय तक प्राय: सभी राजदरबारों में संगीत के विदेशी तराने स्वीकार कर लिये गये थे।

क्रूर सुल्तान अलाउद्दीन खिलजी (१२९५-१३१५ ई०) संगीत का बड़ा प्रेमी और संरक्षक था। उसके समय भारतीय संगीत में बड़ी उन्नति हुई। भारतीय और फ़ारसी-अरबी गायन-विधियाँ बड़ी लगन से एकत्र कर दी गईं। हिन्दी और फ़ारसी आदि में समान रूप से गानेवाले उस्तान अलाउद्दीन के दरबार में थे। चंगी, फ़तुहा, नसीर खाँ, बहरोज़, अमीर ख़ुसरू सभी अपने-अपने फ़न के उस्ताद थे। अमीर ख़ुसरू ने हिन्दी और खड़ी बोली की कितनी सेवा की, यह साधारणत: जानी हुई बात है, पर कम लोग जानते हैं कि वह अपने समय का प्राय: सबसे अच्छा गायक भी था। उसने क़व्वाली और तराना भारत में प्रचलित किये और जीलफ़, सर्पदा, सजगिरी आदि अनेक राग बनाये। उसकी फ़ारसीमिली हिन्दी अपूर्व मिठास रखती है। उस काल के भारत के प्रधान गायक नायक गोपाल को, जिसे अलाउद्दीन अपनी दकन की विजयों में अनेक गायकों के साथ लाया था, ख़ुसरो ने परास्त कर दिया। उसने तबला और सितार (सेह-तार = तीन तार) का भी निर्माण किया।

अरबी-फ़ारसी और हिन्दू संगीत के योग से उस क्षेत्र में अबतक एक नई रौनक पैदा हो गई थी। प्राय: सारे हिन्दुस्तान और पश्चिम में फ़ारसी-अरबी राग गाये जाने लगे थे। इनमें से कुछ निम्नलिखित थे—ज़ीलुफ़, नौरोज़, ज़ंगुल्ला, ईराक, येमेन, हुसनी, ज़िल्ला, दरबारी, हिजाज़, ख़माज़। ध्रुपद, जो मरा जा रहा था, दरबारों की संरक्षा में फिर जी उठा और तानसेन ने कुछ ही काल बाद उसे पराकाष्ठा को पहुँचा दिया। ग्वालियर के राजा मानसिंह ने ध्रुपद की रक्षा की। पर उन-सा ही संगीत

का प्रेमी, स्वयं उस कला का विशारद जौनपुर का सुल्तान हुसैन शर्की था। उस काल के हिन्दू मुसलमानों में प्रधान गायक नायक बख़्श, बैजू, पांडवी, लोहंग, जुर्जू, भगवान, धोन्दी और दालू थे।

अकबर ने जिस परख के साथ गायकों का संरक्षण किया वह इतिहास में अपना सानी नहीं रखती। अबुल फ़ज़ल के 'आईने अकबरी' में दरबार के ३८ प्रधान गायकों के नाम मिलते हैं। तानसेन उसी दरबार के 'नौरत्नों' में से थे, ग्वालियर के जन्मे, ध्रुपद-धमार के क्षेत्र में अपूर्व। अबुल फ़ज़ल लिखता है कि तानसेन-सा गायक पिछले हज़ार वर्षों में नहीं हुआ, पर उसे खोजने और पालने का श्रेय अकबर को ही था। अकबर का 'दीने इलाही' तो अद्भुत समन्वय होकर भी असहिष्णुता के कारण न चल सका, पर हिन्दू-मुस्लिम संगीत के राग घुल-मिल गये। दोनों की यह समान विरासत बढ़ चली। सूफ़ियों के गायन फल चले, हिन्दी भजनों ने उनके स्थान लिये। कबीरदास, भिखारी-दास, मीरा, सूरदास, तुलसीदास, हरदास, लद-गोपाल सभी ने कुछ पहले-पीछे भजन लिखे जो जनता की जीभ पर चढ़ गये।

जहाँगीर ने पिता की परम्परा जीवित रखी। चतरखा, परविजाद, जहाँगिरदाद, खुर्रमदाद, मक्खू, हमजान और तानसेन के पुत्र बिलास खाँ ने तानसेन की आवाज़ मरने न दी। शाहजहाँ ने उस पण्डितराज जगन्नाथ को अपनी मित्रता का गौरव दिया जिसने संस्कृत की मरती भारती में नये प्राण फूंके और अपनी अमर कृतियों से उसे सँवारा। वस्तुतः मुस्लिम काल में संस्कृत में रची जानेवाली कृतियों की संख्या थोड़ी नहीं है। जगन्नाथ और दिरंग खाँ को तो उनकी तौल की चाँदी पुरस्कार में दी गई। लालखाँ भी, जिसको शाहजहाँ ने गुण-समुद्र की उपाधि प्रदान की थी, उसी के दरबार का गायक था।

अठारहवीं सदी में अंग्रेज़ों की राजनीति ने दरबारों को

विकल कर दिया; फिर भी मोहम्मदशाह रंगीले ने, एक ओर से मराठों, दूसरी ओर से नादिरशाह की चोट खाते हुए भी संगीत का नाद कविता की ही भाँति प्रतिध्वनित रखा। अदारंग सदारंग, और शोरी उसीके दरबार में थे। खयाल का अन्वेषक सम्भवतः सदारंग ही था। इस सम्बन्ध में जौनपुर के हुसैनशाह शर्की का नाम भी लिया जाता है। अन्वेषक खयाल का चाहे जो रहा हो, इसमें सन्देह नहीं कि सदारंग ने ही उसको परिणति प्रदान की। पंजाबी टप्पा का प्रसिद्ध खोजी और प्रधान गायक शोरी था। इनके अतिरिक्त भी उस दरबार में एक से बढ़कर एक रेख़्ता, कौल, तराना, तरबत, ग़ज़ल, कल्बना, मरसिया, सोज़ आदि गानेवाले थे। अवध के नवाबों के दरबार में भी संगीत का विकास खूब हुआ। आसफ़ुद्दौला और वाजिदअली शाह दोनों ही उसमें पारंगत थे। रामपुर के नवाबों ने भी संगीत में बड़ी रति ली। नवाब क़ल्बेअली खाँ, शाहज़ादे सआदतअली खाँ, हामिदअली खाँ आदि ने अपने दरबार को इधर के वर्षों में भारत के अच्छे-से-अच्छे संगीतज्ञों को आकृष्ट किया। वज़ीर खाँ बीनकार, पियारे साहब ध्रुपदिया, मुस्ता खाँ खयाली, कौल-कल्बना के गायक अलीरज़ा खाँ, फ़िदाहुसैन सरोदिया और मुहम्मदअली खाँ रुबाबिया उसी दरबार में पले। इनके नामों और करतबों से प्रकट हो जाएगा कि ऐसा नहीं कि हिन्दुओं ने प्राचीन भारतीय रागशैली अपनायी और मुसलमानों ने अरब-फ़ारस की, वरन् इनमें अनेक वीणा साधनेवाले थे, अनेक ध्रुपद गायक थे। वस्तुतः दोनों, दोनों को साधते थे।

मुस्लिम सहयोग और प्रभाव से उत्तर भारत का संगीत भरपूर फला फूला। उसमें असाधारण मिठास भरी। उसका कारण नये मधुर रागों का संयोग था। ऊपर के पृष्ठों में प्रसंगतः कुछ ऐसे रागों की ओर संकेत किया जा चुका है जो मुसलमानों ने खोजकर इस देश के संगीत को सौंप दिये। इन रागकारों में अमीर खुसरू का उल्लेख हो चुका है। दूसरा प्रसिद्ध रागकार

पन्द्रहवीं सदी का जौनपुर का सुल्तान हुसैन शर्की था। उसने भी अनेक मधुर राग खोज-खोजकर अलापे। वे उसके नाम से ही प्रसिद्ध हुए, जैसे जौनपुरी, हुसेन कन्हरा, हुसेन टोडी आदि, जो बड़े लोकप्रिय हुए। शोरी ने पीछे आसफ़ुद्दौला के दरबार में जाकर हीर-राँझा गाये जानेवाले लोकराग टप्पा में नई जान डाल दी। उस राग को पहले ऊँट और खच्चर हाँकनेवाले गाया करते थे, मुसलमान शोरी ने मुसलमान आसफ़ुद्दौला के दरबार में उस हिन्दू-पंजावी गँवारू राग को दरबारी बना दिया। उससे पहले अकबर के समकालीन मालवा के सुल्तान बाज़बहादुर ने बाज़ख़ानी गायन प्रचलित किया। बाज़बहादुर और रूपमती दोनों मुसलमान और हिन्दू थे, दोनों असाधारण गायक, असामान्य प्रणयी, और देश में उनके सम्बन्धी अनेक कविताएँ, अनेक गीत बने। स्वयं भी दोनों कवि थे। ग़ज़ल, लावनी, ठुमरी, कव्वाली, धुन, चतरंग आदि उस हिन्दू-मुस्लिम सम्बन्ध की ही देन थे।

नीचे लिखे वाद्य या तो मुसलमानों के दिये हुए हैं या उनके सम्पर्क से भारत को मिले हैं। सारंगी का निर्माण एक हकीम ने किया। दिलरुबा, ताऊस और सितार भी तारों के बाजे हैं। साज़िन्दा का निर्माण सिक्खों के गुरु अमरदास ने किया। रुबाब, सुरबीन, सुरसिंगार और तरब भी उसी वर्ग के हैं। रुबाब का निर्माण सिकन्दर ज़ुल्करनैन ने किया और सुरबीन का दिल्ली के शाहज़ादे काले साहब ने। सुरसिंगार सम्भवत: रामपुर के दरबार में बना। तबला का निर्माण सुधार खाँ धारी के नाम से भी सम्बद्ध है यद्यपि इसका निर्माता अमीर खुसरू कहलाता है। अलगोजा अरब की बाँसुरी है जो अकेली या जोड़ा बजाई जाती है। भारतीय आर्केस्ट्रा शहनाई, उन्स (रोशनचौकी), नौबत आदि के रूप में इसी काल बना। शहनाई तो उत्तर भारत के सम्मिलित वाद्यों में अपूर्व है। तारों को बजाने के लिए मिज़राब, जो उंगली में पहना जाता है, उसका नाम मुसलमानों से ही इस

देश को मिला है। इन वाद्यों से पता चल जाएगा कि इनके न होने से हमारे संगीत-व्यापार में कितनी कमी रह जाती। उनका योग हमारे संगीत को कितना मधुर कर देता है।

इसी प्रकार नृत्य के क्षेत्र में भी हिन्दू-मुसलमान दोनों का साझा रहा है। दक्षिण के नृत्यों में तो इतना नहीं, पर कथक-नृत्य को दोनों ने सम्मिलित रूप से साधा है। अनेक घराने, हिन्दू-मुसलमान दोनों, गायन, वादन और नर्तन की साधना में लगे रहे हैं। अनेक बार संगीत इस देश में ढोंगियों के कठमुल्लापन के कारण समाज से तर्क कर दिया गया है, तब उसे वेश्याओं-तवायफ़ों के प्रकोष्ठ पर शरण लेनी पड़ी है। वहाँ भी वेश्याओं और उस्तादों ने उसे साधा है। वेश्याओं में संगीत के सम्बन्ध में हिन्दू-मुसलमान का प्रश्न कभी नहीं उठा। उन्होंने एक रूप से इस सम्मिलित दाय की रक्षा और विकास किया।

भारतीय स्थापत्य भी वही सांस्कृतिक समन्वय उपस्थित करता है। हिन्दू राजप्रासाद और मन्दिर इस काल प्राचीन मानों और लक्षणों के अनुसार नहीं बने, मुस्लिम शिल्प के सौन्दर्य ने उनमें अब प्रवेश किया। और ऐसा भी नहीं कि यह प्रभाव केवल कुछ मुस्लिमप्रधान प्रदेशों तक ही सीमित रहा हो। नहीं, यह प्रभाव देशव्यापी है और राजपूताना, मध्यभारत, मथुरा, वृन्दावन, काशी, मदुरा और दूर के काठमांडू तक के शिल्प को सँवारता है। मुसलमानों की भी मस्जिदें, महल और मक़बरे हिन्दू शिल्प की ही भाँति भारतीय हैं। मुसलमान सही अरब, फ़ारस, फ़रगना आदि से कुछ रूपावयव लाये पर भारत में उनके योग से एक नयी शिल्प-शैली का विकास हुआ। अपनी बाह्य संस्कृति से प्रसूत सुन्दरतम, शालीनतम वास्तु वे इस देश की भूमि पर गढ़ चले। आगरे-दिल्ली के किलों से बढ़कर उनके किसी बाहरी मुस्लिम देश में किले नहीं हैं, कुतुब से सुन्दरतर मीनार नहीं है, सीकरी के बुलन्द दरवाज़े से ऊँचे और सर्वांग सुन्दर कहीं द्वार नहीं, मोती और जामा मस्जिदों से

बढ़कर मस्जिदें नहीं, सौन्दर्य और शालीनता में ताज का-सा कोई मकबरा नहीं[1]।

मुसलमानों के आने के साथ ही दिल्ली, आगरा, अजमेर, गौड़, मालवा, गुजरात, बीजापुर, जौनपुर, सासाराम में आलीशान इमारतें खड़ी हो गईं। अरब, पठान, तुर्क, ईरानी, मंगोल सारी शैलियों की प्रौढ़ता इन इमारतों पर सज गई। गुम्बज और मीनारें, मेहराब और लाटें, मीनाकारी और पच्चीकारी शिल्प के कलेवर भर चले। मन्दिर और प्रासाद शिल्प के नये प्रभाव से शक्ति पाने लगे। उनको नये प्रतीक मिले, नयी दृढ़ता मिली। राजमहलों की एक नई नस्ल खड़ी हो गई। आरम्भ में जब मस्जिदें और मकबरे बने, उनमें दोनों हिन्दू-मुस्लिम शैलियों का योग साफ़ झलका, दोनों अलग-अलग देखे-समझे जा सकते थे, पर शीघ्र जब शैलियाँ दूध और पानी की भाँति मिल गयीं तब कहना असंभव हो गया कि कौन हिन्दू है, कौन मुसलमान। निर्माण में तब केवल रसत्व ने काम किया, सौन्दर्य और शालीन तत्व उसकी परिणति हुई।

आज भारत में जितनी और जैसी मुस्लिम इमारतें हैं, संख्या और सौन्दर्य में वैसी किसी मुस्लिम देश में नहीं। किसी को वह सौभाग्य और अवसर प्राप्त न हुआ कि दो प्रबल और सुन्दर संस्कृतियों का अभिराम सम्मिश्रण और उनकी सम्मिलित परिणति देख सके। वह मुस्लिम देन या प्रभाव आज किसी प्रकार नहीं कही जा सकती, वह सर्वथा भारतीय है, भारतीय शिल्पियों की सोची, भारतीय करनी-छेनी से प्रसूत, भारतीय साधना की प्रतीक, हिन्दू-मुसलमानों की सम्मिलित विरासत।

---

[1] देखिए, स्मिथ : हिस्ट्री आफ़ फ़ाइन आर्ट, अजमेर की मस्जिद, प्लेट ९१. कुतुब मस्जिद (मेहरौली) चित्र २३२, कुतुबमीनार, अलाउद्दीन खिलजी का दरवाज़ा, दिल्ली ; चित्र २३३, अताला मस्जिद ; जौनपुर प्लेट ९२, गौड़ का सोने का मस्जिद का दरवाज़ा, चित्र, २३५ ; महाफ़िज़ खाँ की मस्जिद, अहमदाबाद प्लेट ९४ आदि और चित्र।

मुस्लिम प्रभाव चित्रण के क्षेत्र पर भी पर्याप्त पड़ा। भारत की अजन्ता शैली प्रायः विस्मृत हो गई थी यद्यपि उसके प्रभाव से जो अनेक शैलियाँ बनी थीं वे किसी-न-किसी रूप में जीवित थीं। गुजरात में, दक्षिण में, विशेषकर पुस्तकों में अनेक शैलियों के चित्र जीवित थे (यद्यपि अजन्ता की शैली से वह शैली काफ़ी दूर चली गई थी) और उन्होंने अपनी-अपनी प्रान्तीय शैलियाँ बना ली थीं। भारत के पास अपनी चित्र-सम्पदा प्राचीन और अनन्त थी। उसकी परम्परा अब भी सजग थी। उधर ईरानी चित्रण का भी व्यास बड़ा था। चीन की पृष्ठभूमि से उठकर वह निजी व्यक्तित्व धारण कर चुकी थी। उसके चित्रण के विषय भिन्न और मनोहारी हो गये थे। चग़तई चित्रण अपनी शक्ति की चोटी को छू चुका था। मुगलों के आगमन से वह चीनी-ईरानी कला-सम्पदा भारत को मिली, ऐसी शैली जिसमें असाधारण व्यक्तित्व था, जिसकी रुचि और निखार सर्वथा अपनी थी, भारत की अनजानी। पर जो शैली भारतीय चित्रण-परम्परा और फ़ारसी कलम के योग से विकसी वह अपनी विशिष्ट निजता लिये हुए उठी, फ़ारसी कलम से भिन्न, और उससे कहीं अधिक आकर्षक, भारतीय परम्परा से भिन्न, परिष्कृत। वही मुगल-शैली कहलाई। यह मुगल-शैली भारत को मुसलमान-संपर्क की देन है, हिन्दू-मुसलमानों की सम्मिलित संपदा जिससे फिर देशी कलमें लगीं, राग-रागिनियों की रेखाएँ सुथरीं, विविध पहाड़ी, लखनवी, पटनवी, दक्कनी आदि चित्र-शैलियाँ प्रस्तुत हुई।

बाबर संभवतः अपने साथ तैमूरिया शैली के कुछ 'माडल' लाया था और दिल्ली-आगरे में उनकी नकलें होने लगीं जो हुमायूँ के काल तक होती रहीं। सैकड़ों चित्र दास्ताने हमज़ा के-से ग्रंथों के लिए बने और उस अर्थ अनेक चित्रकारों की आवश्यकता पड़ी। और इन चित्रकारों में केवल ईरानी न थे, भारतीय भी थे। हुमायूँ अपने साथ फ़ारस से कुछ कलावन्त निश्चय लाया, पर अकबर के समय अधिकाधिक हिन्दू चित्रकारों

से काम लिया जाने लगा। अबुल फ़ज़ल ने आईने अकबरी में फर्रुख कलमाक, अब्दुस्समद शीराज़ी, मीर सैयदअली और मिस्की के साथ अनेक हिन्दुओं का भी उल्लेख किया है। दस्वन्त, बसावन, केशोलाल, मुकुन्द, माधो, जगन्नाथ, महेश, खेमकरन, तारा, साँवला, हरिवंस, राम सभी ने उस नयी शैली को साधा और उसमें निष्णात हुए। खुदाबख़्श लाइब्रेरी (पटना) में रखे तीमूरनामा में निम्नलिखित हिन्दू चित्रकारों के नाम मिलते हैं— तुलसी, सुरजन, सूरदास, ईशर, शंकर, रामजस, बनवाली, नन्द, नन्हा, जगजीवन, धरमदास, नारायण, चतरमन, सूरज, देवजीव, सरन, गंगासिंह, पारस, धन्ना, भीम आदि। इनमें से अनेक ग्वालियर, गुजरात और कश्मीर से आये थे जो हिन्दू चित्रण के केन्द्र रहे थे और थे।

जहाँगीर के शासनकाल तक पहुँचकर शुद्ध भारतीय मुगल-शैली प्रस्तुत हो गई। नकल का कहीं प्रभाव न था। नये प्राण अपनी निजी कहानी लिए चित्रों की भूमि में पैठे। शाहजहाँ के समय मुगल कलम परिणति को पहुँच गई। शाहजहाँ की संरक्षा में उस मुगल कलम को ऋद्ध बनानेवाले हिन्दू चित्रकार थे—कल्यानदास, चतरमन, अनूप चतुर, राय अनूप, मनोहर। मुसलमानों में प्रसिद्ध थे—मुहम्मद नादिर समरक़न्दी, मीर हाशिम और मुहम्मद फ़क़ीर अल्ला खाँ। समरक़न्दी ने प्रतिकृति-चित्रण में चोटी छू ली। शाहजहाँ के बाद चित्रण कला का ह्रास आरंभ हो गया। औरंगज़ेब ललित कलाओं का शत्रु था।

मुगल कलम ने इस देश को प्रतिकृति-चित्रण में परिष्कार, रेखा का अद्भुत सौन्दर्य, विषय की नवीनता दी। प्रेम और दरवेशों के चित्रण, युद्ध आदि के प्रसंग विशेष प्रयास और सफलता से चित्रित हुए। महाभारत आदि के भी सचित्र संस्करण हुए। आरम्भ काल की कृतियों में दराबनामा, तीमूरनामा और रज़्मनामा (महाभारत) उल्लेखनीय हैं। शाहजहाँ के बाद दिल्ली-आगरा के राजकीय चित्रकार संरक्षा के अभाव में हिमालय,

राजपूताने, दकन आदि की रियासतों में चले गए और वहाँ मुगल-शैली के योग से अनेक स्थानीय शैलियों का उन्होंने विकास किया। राजपूत, काँगड़ा, बशोली, चम्बा, लखनऊ, पटना, दकन आदि को अपनी शैली बनी और भारतीय चित्रकला नये देशी रंगों में सजी।

भाषा और साहित्य पर भी मुस्लिम प्रभाव इतना ही गहरा पड़ा। वस्तुतः इस्लाम का प्रभाव इतना गहरा, इतना बहुमुखी था कि यह कहना कठिन हो जाता है कि वह प्रभाव किस क्षेत्र में कम था किस में अधिक। उसके योग से हिन्दी खड़ी बोली का अभूतपूर्व विकास हुआ। उर्दू, नये परिधानों से सजी, एक समूची भाषा ही इस देश में पनप चली। भाषा वह नयी नहीं थी, पर उसकी संस्कृति और शैली सर्वथा भिन्न थी। वस्तुतः साहित्य और धार्मिक आन्दोलनों में संस्कृत और प्राकृतों का स्थान पश्चिम और उत्तर भारत में अब प्रान्तीय भाषाओं—मराठी, गुजराती, बंगला, हिन्दी आदि—ने ले लिया था। मुसलमानों के आगमन से एक नयी स्थिति उत्पन्न हो गयी जिसका परिणाम भाषाओं का समन्वय था। मुसलमानों ने तुर्की और फ़ारसी छोड़ हिन्दुओं की भाषा हिन्दी अपनायी। अपने शिल्प और चित्रण की भाँति उन्होंने अपनी भाषा भी परिवर्तित कर ली जिसका परिणाम 'उर्दू' था। उर्दू और किसी मुस्लिम देश की भाषा न थी, इसी देश में मुसलमानों के योग से हिन्दी की विशिष्ट सांस्कृतिक शैली के रूप में जन्मी। मुसलमान और हिन्दू दोनों ने उसे अपना मानकर विकसित किया। हिन्दी खड़ी बोली नये रूप से नयी शक्ति से विकसित हो चली। हिन्दी वृक्ष का विशाल तना खड़ा हुआ जिसमें दो शाखाएँ फूटीं, एक हिन्दी कहलायी दूसरी उर्दू। एक में अरबी, फ़ारसी, तुर्की के शब्द अधिक थे, उसकी सांस्कृतिक परम्परा, साहित्यिक प्रतिमान भिन्न थे, दूसरी में संस्कृत के शब्द अधिक थे, साहित्यिक और सांस्कृतिक परम्पराएँ स्थानीय थीं। पर दोनों का प्राण एक था, भाषा का स्रोत और गठन एक था,

क्रियाएँ समान थीं। दोनों के उपासक दोनों थे—हिन्दू और मुसलमान। दोनों ने दोनों को सँवारा।

जिन बोलियों या शैलियों की क्रियाएँ एक होती हैं वे भाषा के रूप में एक होती हैं। हिन्दी और उर्दू की क्रियाएं समान हैं, इससे दोनों की एक ही भाषा है, हिन्दी। वस्तुतः हिन्दी खड़ी बोली और उर्दू की क्रियाएँ समान होने से वे परस्पर हिन्दी और ब्रजभाषा, हिन्दी और अवधी, और हिन्दी और भोजपुरी से अपेक्षाकृत अधिक निकट हैं। इस अर्थ में सांस्कृतिक निकटता के बावजूद हमारे महान् साहित्यकार जायसी, मीरा, सूरदास, तुलसीदास, देव, बिहारी आदि से भी भाषा की दृष्टि से ख़ुसरू, ग़ालिब, मीर तक़ी, सौदा, हाली आदि हिन्दी खड़ी बोली के अधिक निकट हैं। इससे हिन्दी-उर्दू का इतिहास एक होना चाहिये था और उस इतिहास में जायसी, मीरा, सूरदास, तुलसी आदि के साथ ग़ालिब, मीर तक़ी, सौदा आदि की कृतियों का भी यथास्थान मूल्यांकन और उल्लेख होना चाहिए। जितने हिन्दी के इतिहास आज तक प्रकाशित हुए हैं उनमें यह आधारभूत दोष है कि उर्दू के साहित्यकारों के उनमें दर्शन नहीं होते।

मुसलमानों के आगमन से साहित्य पर जो प्रभाव पड़ा उसका संकेत अनेक बार ऊपर किया जा चुका है। यहाँ केवल इतना कह देना पर्याप्त होगा कि उस प्रभाव की परिधि असाधारण बड़ी थी। उसके परिणाम कबीर, जायसी, नानक आदि के अतिरिक्त अनन्त ऐसे महापुरुष थे जिन्होंने इस देश के कोने-कोने में सामाजिक और धार्मिक क्रांति उपस्थित कर दी। उन्होंने धर्मों के प्राणतत्व एकत्र कर हमारे सामने रख दिये। एक नयी निष्ठा, नयी समता, नयी उदारता, नयी प्रगति इस देश में जन्मी जिसका उल्लेख थोड़े में नहीं हो सकता। एशिया के पश्चिमी जगत् का सारा सांस्कृतिक वैभव, सारी साहित्यिक शैलियाँ, सारी भाषा सम्बन्धी रीतियाँ इस देश को मिलीं और उसकी संस्कृति और साहित्य समृद्ध हुए।

समाज पर पड़े इस प्रभाव की व्यापकता अनन्त थी । आज इसीके परिणामस्वरूप भारत का राष्ट्रीय लेबास प्रस्तुत है। शक-कुषाणों ने निःसंदेह इस देश में ईरान के वसन लम्बा कुर्ता, चोगा और सलवार पहने परन्तु वे यहाँ तब चल न सके, उन्हींके साथ भुला दिये गए। पर उसी लेबास को मुसलमानों ने यहाँ प्रचलित कर दिया । मुगलों और अवध के नवाबों ने उसका परिष्कार कर अपनी सुरुचि का परिचय दिया और वही हमारा अभिराम राष्ट्रीय पोशाक बना ।

●

अध्याय छः

## ● ● अंग्रेज़ और भारत

जिस अन्तिम जाति ने हमारी संस्कृति को प्रभावित किया और विशेषतः हमारे साहित्य को भी क्रान्तिमय प्रगति प्रदान की वह यूरोपीय जाति थी। सोलहवीं सदी से यूरोपीय इस देश में आने लगे थे और अठारहवीं सदी के अन्त में तो वे भारत के स्वामी ही हो गये। उनके पहले ही, उनके समानधर्मा ईसाई सीरिया आदि से चौथी-पाँचवीं सदियों में ही दक्षिण भारत में आ बसे थे और दक्षिण के धर्मों को एक अंश में उन्होंने प्रभावित भी किया था, परन्तु सोलहवीं सदी के यूरोपियनों और उनके आने में बड़ा भेद था। यूरोपीय जातियाँ भारत के व्यापार के लिए इस देश में और बाहर दीर्घ काल तक संघर्ष करती रहीं और अंत में अंग्रेज़ों ने यहाँ अपनी सत्ता स्थापित की। अंग्रेज़ यहाँ बसने नहीं आये थे। उनमें और बाहर से आनेवाली जातियों में वह मौलिक भेद था। बाहर से आनेवाली विजयिनी जातियों में अंग्रेज मात्र ऐसे आये जिन्हें यहाँ रहना न था और उन्होंने वही किया जो इस स्थिति के लोग करते हैं। उन्होंने विविध प्रकार से इस देश का शोषण किया और सभी प्रकार से यहाँ का धन वे समुद्र पार ढो ले गये। यहाँ के रोज़गार-व्यापार सब

नष्ट हो गये और सभी प्रकार से भारत को उनपर निर्भर करना पड़ा। और जब वे देश के स्वामी हो गये तब तो उस शोषण को वैधानिक शक्ति भी मिली। प्राय: दो सौ वर्षों के शासन के बाद अपनी जनता के त्याग और तप से भारत १९४७ में स्वतंत्र हुआ।

पर इन दोनों सदियों के बीच अंग्रेज़ों का सम्बन्ध इस देश के लिए इसके व्यापार के नाश और विदेशी बन्धन के बावजूद उपादेय सिद्ध हुआ। भारत के द्वार सहसा सब ओर खुल गये और प्रकाश से उसका कोना-कोना चमक उठा। वह पश्चिमी विज्ञान और संस्कृति के सम्पर्क में आया। सम्पर्क में वह पहले भी अनेक बार पश्चिम के आया था, पर इस बार का सम्पर्क दूसरे प्रकार का था। अब तक यूरोप के ज्ञान और संस्कृति में क्रांतिकारी परिवर्तन हो चुके थे। अनेक प्रकार के वैज्ञानिक, औद्योगिक, राजनीतिक और सांस्कृतिक क्रांतियों ने उसका रूप सर्वथा बदल दिया था। जिस मात्रा में एशिया अधोध: गिरता और पंगु होता गया था उसी मात्रा में यूरोप उत्तरोत्तर उन्नति करता और प्रगतिशील होता गया था। उसने सभी प्रकार से प्रकृति को जीता था और विज्ञान के नये आविष्कारों से समाज को नयी दिशा दी थी। साहित्य और कला तक पर विज्ञान का प्रभाव पड़ा था। भारत को वह सब विरासत में मिला।

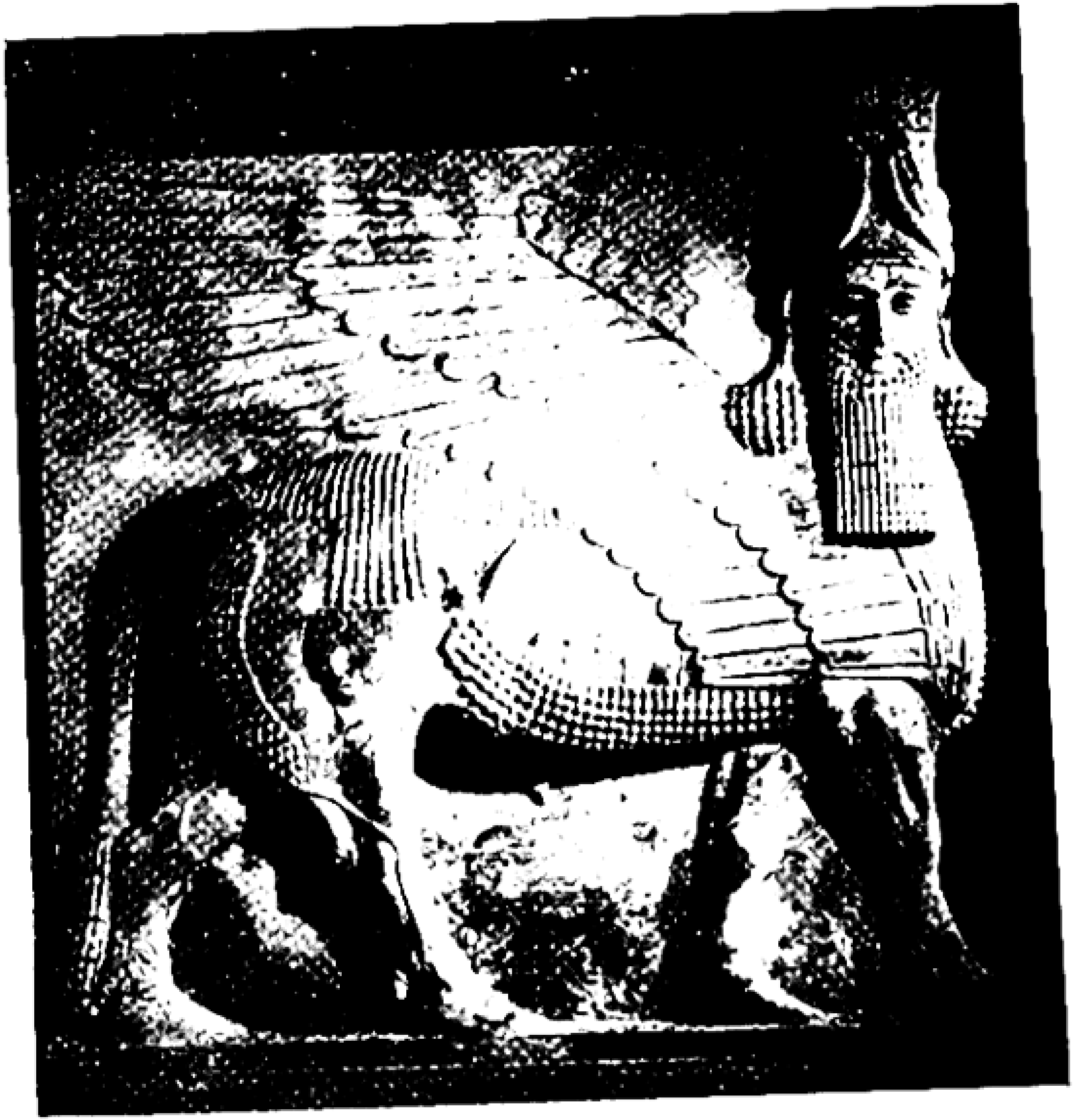
अंग्रेज़ों ने यह सब अपनी उदारबुद्धि से तो नहीं दिया था पर भारत की अद्‌भुत प्रतिभा ने उनकी ओर उनके माध्यम से आनेवाली सभी शालीन प्रवृत्तियाँ और सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक चेतना उनसे ले ली। आज इस देश की राजनीति में साहित्य और भाषा में, दर्शन और विचारों में, कला और जीवन में सर्वत्र यूरोपीय संस्कृति का प्रवाह है। हमारी भाषा को उस दिशा से एक नयी समृद्धि मिली, हमारे साहित्य के काव्य, नाटक, निबन्ध, उपन्यास, विचार सभी उसके साहित्य के प्रभाव से नये सिरे से विकसित हुए। हमने उनकी विधि से आज

अपनी राजनीति सँवारी, हमारी पार्लमेण्ट और शासन उनकी रीति से चले। सामूहिक वर्गहीन लोकतांत्रिक चेतना जगी, नयी स्वातंत्र्यभावना से देश की राजनीतिक एकता सिद्ध हुई। निष्ठा और अध्यवसाय से, यद्यपि सदा ईमानदारी से नहीं, उन्होंने हमारे इतिहास का निर्माण किया, हमारी गड़ी संस्कृति की बुलन्दियाँ खोज निकालीं, हमारे प्राचीन अनजाने अभिलेख पढ़े, हमें हमारा अशोक खोज कर सौंप दिया, विज्ञान से हमारा जीवन आराम-देह बनाया। हमारे जीवन के सभी अंगों में यूरोप की संस्कृति व्यापक रूप से बसी, उसकी नसों में रक्त की भाँति बही।

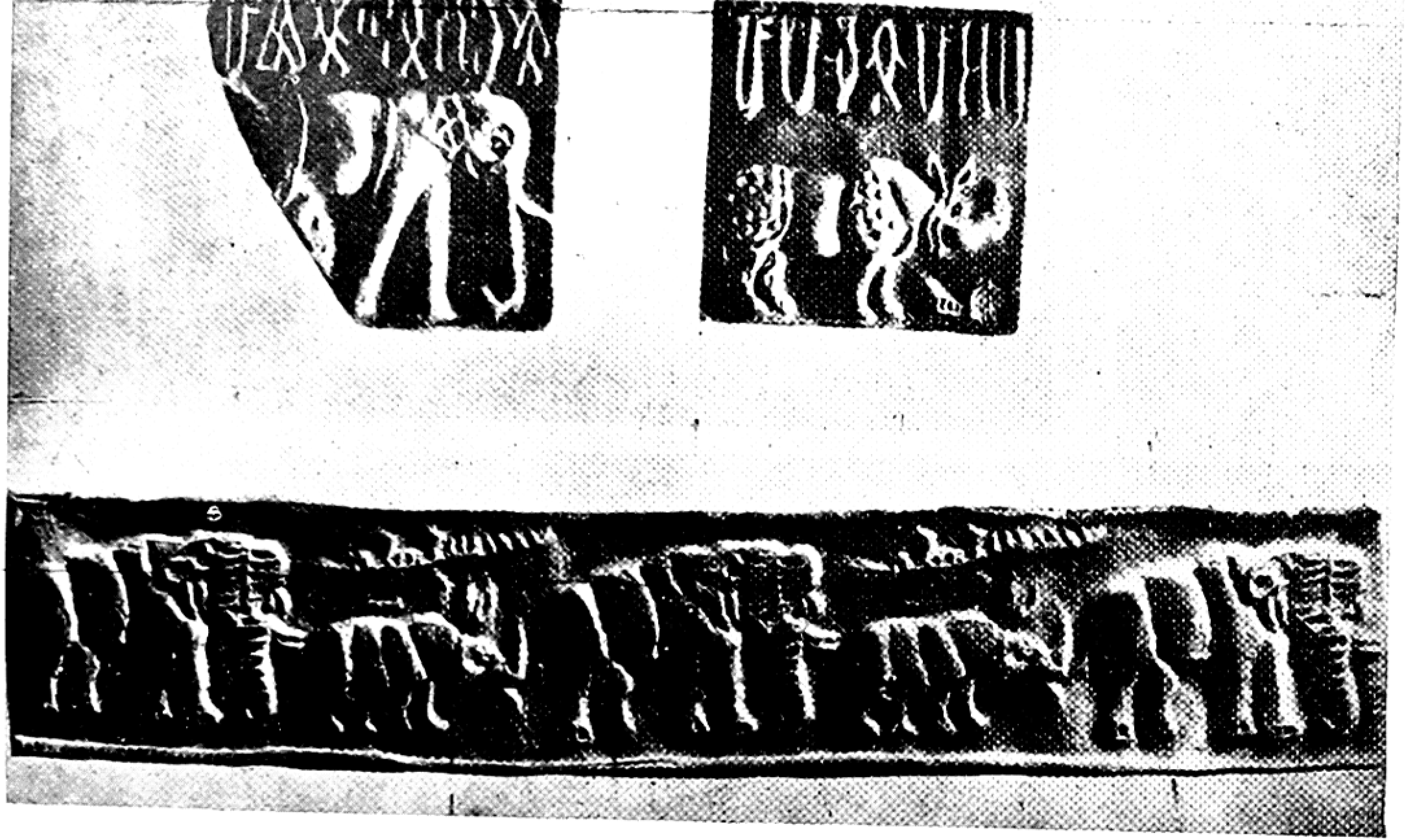
भारत की यह विराटरूपता थी जिसने वह सब जो उसकी राह आया आत्मसात कर लिया। द्रविड़ों के उस आदिम काल से उसकी राह जातियाँ निरन्तर आती रहीं और भारत उन्हें अपनी काया में उदार बुद्धि से पचाकर उनके तेज से उज्ज्वलतर होता गया। उसने संसार को दिया बहुत पर उससे उसने लिया भी कुछ कम नहीं, और वही उसकी गुरुतर शालीनता थी। उसकी संस्कृति में अनेक जातियों का योग है, पर वह योग जोड़ की भाँति नहीं है, उसके रग-रग में समाया हुआ है, उसकी प्राण-वायु बन गया है।



सिन्धु सभ्यता का वृषभ; ल० २५०० ई० पू० ।



निनेवे (खोरसाबाद), ईराक का असुरी मानवशीर्ष वृषभ, आठवीं सदी ई० पू० ।



गज-गेंडाधारी सिन्धु सभ्यता की मुहरें जो सुमेरी नगरों की खुदाइयों में मिलीं ; ल० २५०० ई० पू०



खम (मथुरा) से प्राप्त। मौर्यपूर्व ल०



यक्षी, वेदिकास्तंभ, मथुरा, दूसरी सदी ईसवी



चवरधारिणी, दीदारगंज, पटना संग्रहालय, शुंगकाल, दूसरी सदी ई० पू०



शालभंजिका मुद्रा में खड़ी अशोकशाखावलं स्तंभयक्षी, भरहुत; शुंगकाल, दूसरी सदी ई



दारा का वृषभशीर्ष स्तंभ, पर्सिपोलिस, ईरान ;
पाँचवीं सदी ई० पू०



अशोकस्तंभ

१०



ऋष्य शृंग, मथुरा, कुष्णकाल, ल० दूसरी सदी ईसवी ।



प्रसाधिका, भारत कला भवन, काशी विश्व-विद्यालय, कुषाणकाल, दूसरी सदी ईसवी



अशोक दोहद, कुषाण यक्षी, मथुरा
वेदिकास्तंभ; दूसरी सदी ईसवी

१३



शरधारिणी किराती, होयसल कला
मैसूर ; बारहवीं सदी



शुकपिंजरधारणी वामनपृष्ठाश्रयिणी यक्षीस्तंभ,
मथुरा: कुषाण काल, दूसरी सदी ईसवी ।



भूमरा का कुमुद-वामन
अभिप्रायधारी शिलापट्ट, गुप्तकाल,
पांचवी सदी, प्रयाग संग्रहालय



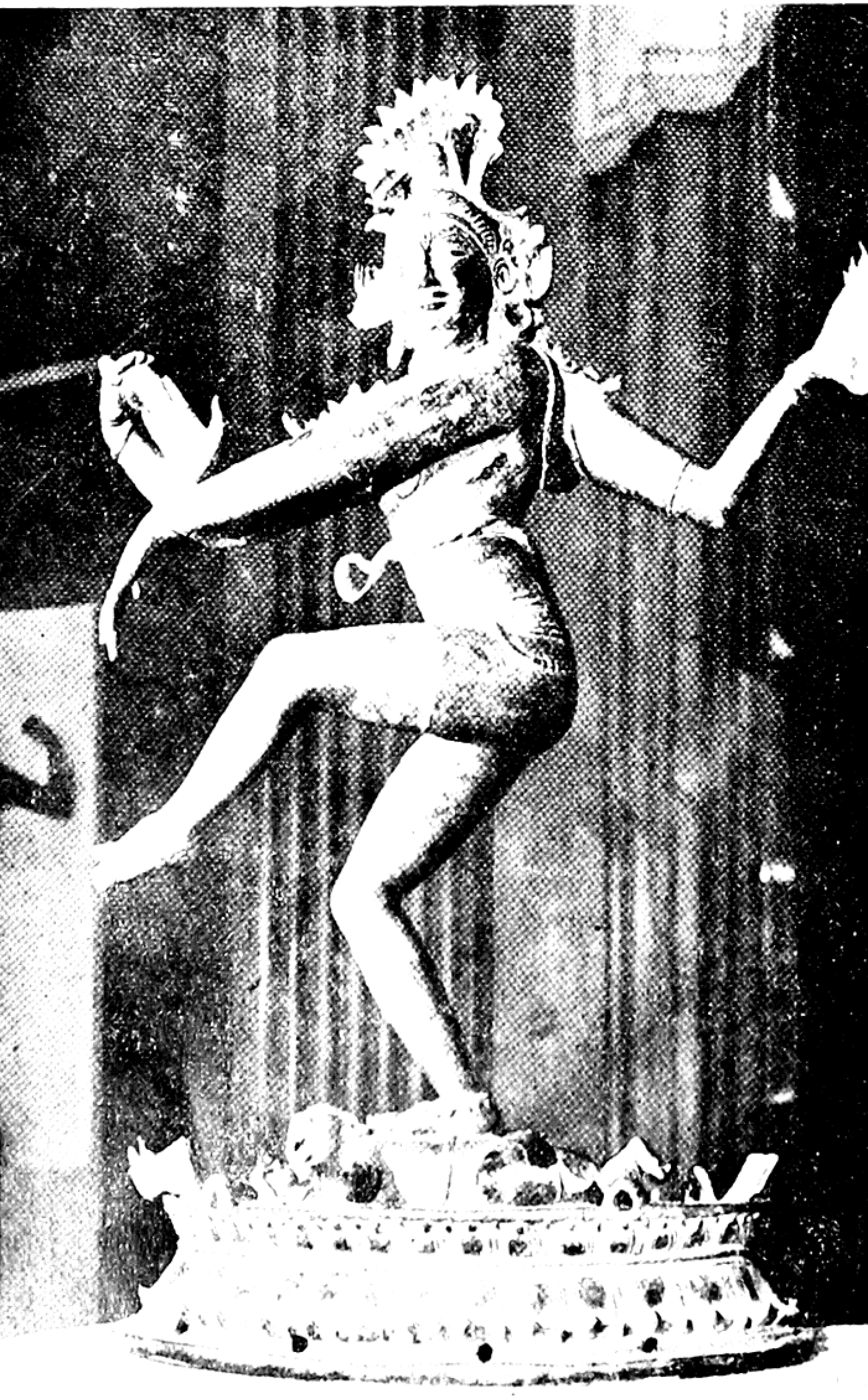
बुद्ध, मथुरा: गुप्तकाल, पांचवीं सदी।



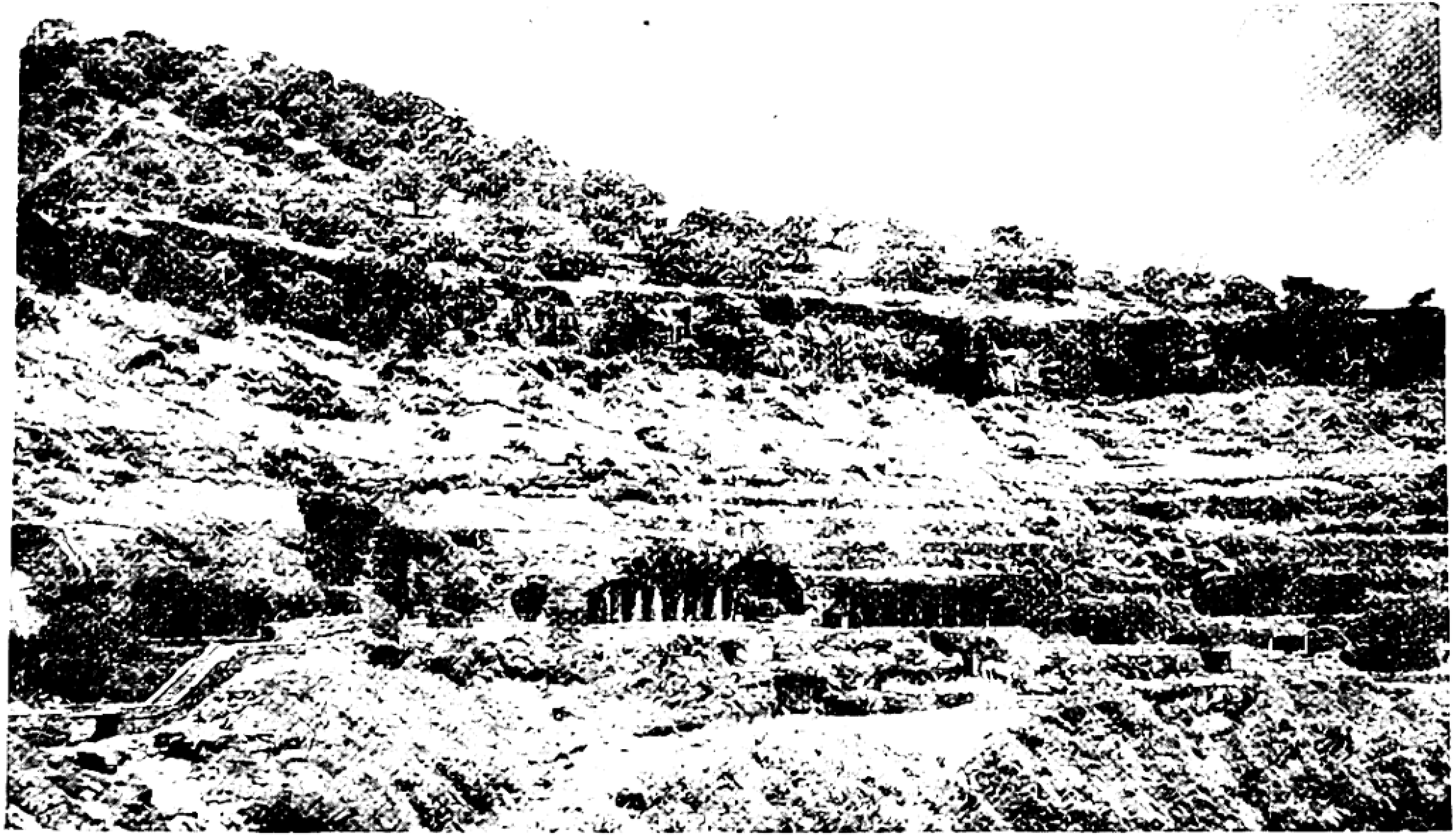
चूना-मिट्टी का गंधार शैली में मूर्त दार्शनिक का मस्तक, तीसरी, चौथी सदी ईसवी।



बोधिसत्व सिंहनाद अवलोकितेश्वर, लखनऊ संग्रहालय : ग्यारहवीं सदी।



ताण्डव नृत्यरत नटराज शिव, बारहवीं सदी, तिरुवेलांगाडु में प्राप्त ताम्रमूर्ति ।



अजन्ता के दरीमन्दिर ; ई० पू० तीसरी से सातवीं सदी ईसवी ।



रेखाचित्र, वियद्गामी विद्याधरद्वन्द्व-विद्याधरियाँ, अजन्ता



नृत्यावेग में अप्सरा, रेखा-भित्तिचित्र, सित्तन्नवासल, दक्षिण भारत; सातवीं सदी ईसवी।

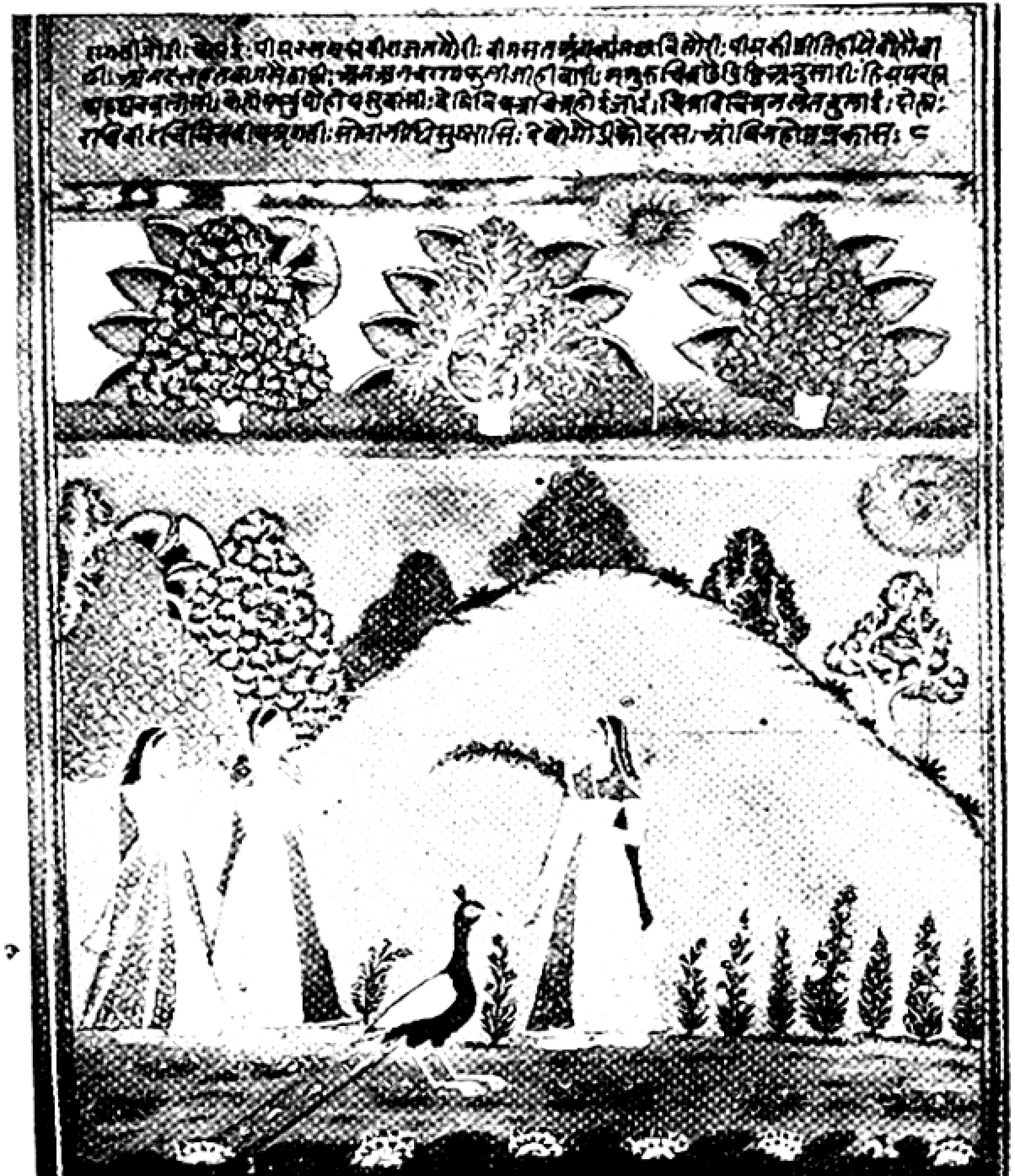


महादेव का रेखाचित्र-भित्तिचित्र सित्तन्नावासल, दक्षिण भारत, सातवीं सदी ईसवी ।



रागिनी मधुमाधवी



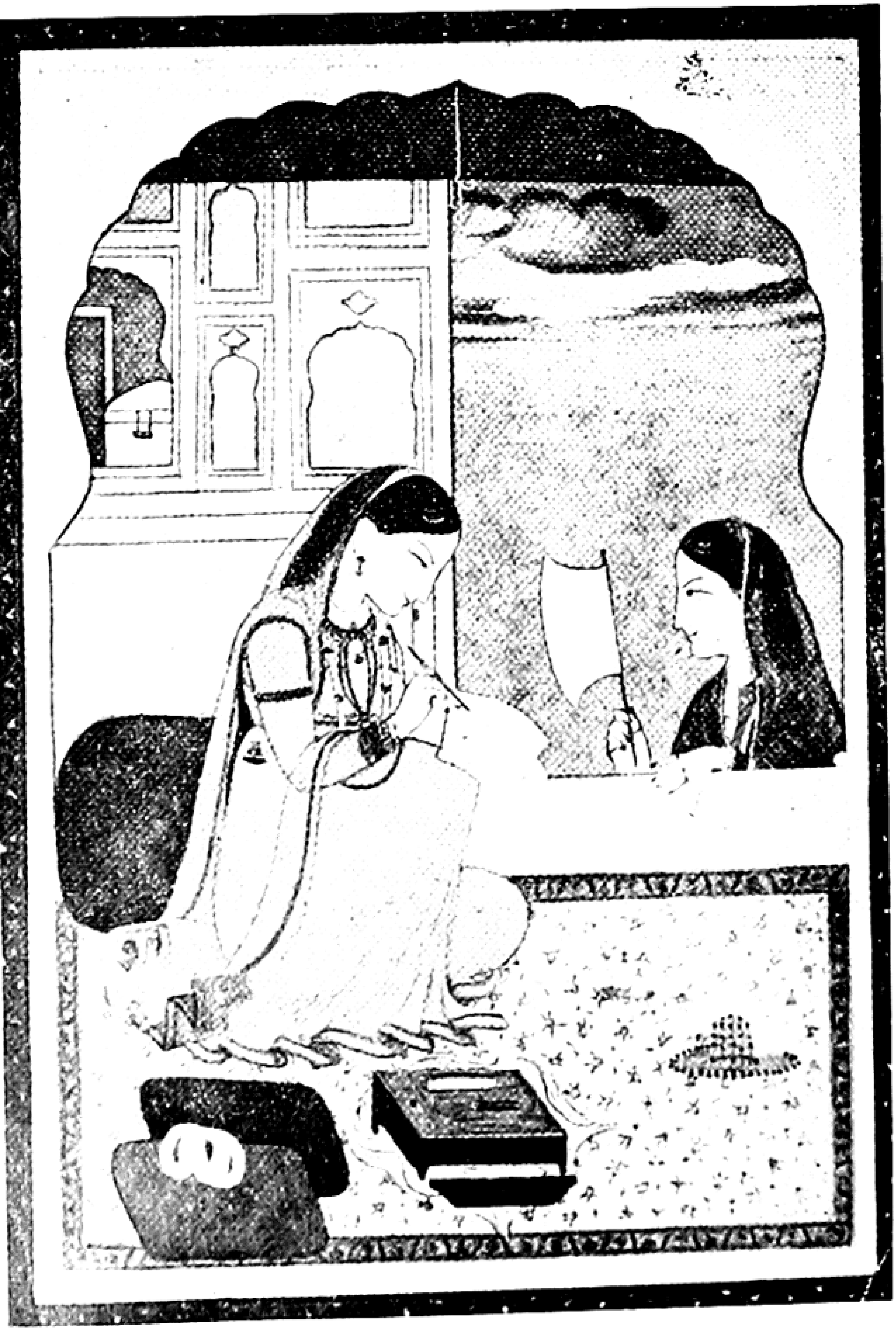




राजस्थानी चित्र, बड़ौदा, अठारहवीं सदी ।



हुनहार द्वारा चित्रित दाराशिकोह, मुगल कलम, सत्रहवीं सदी

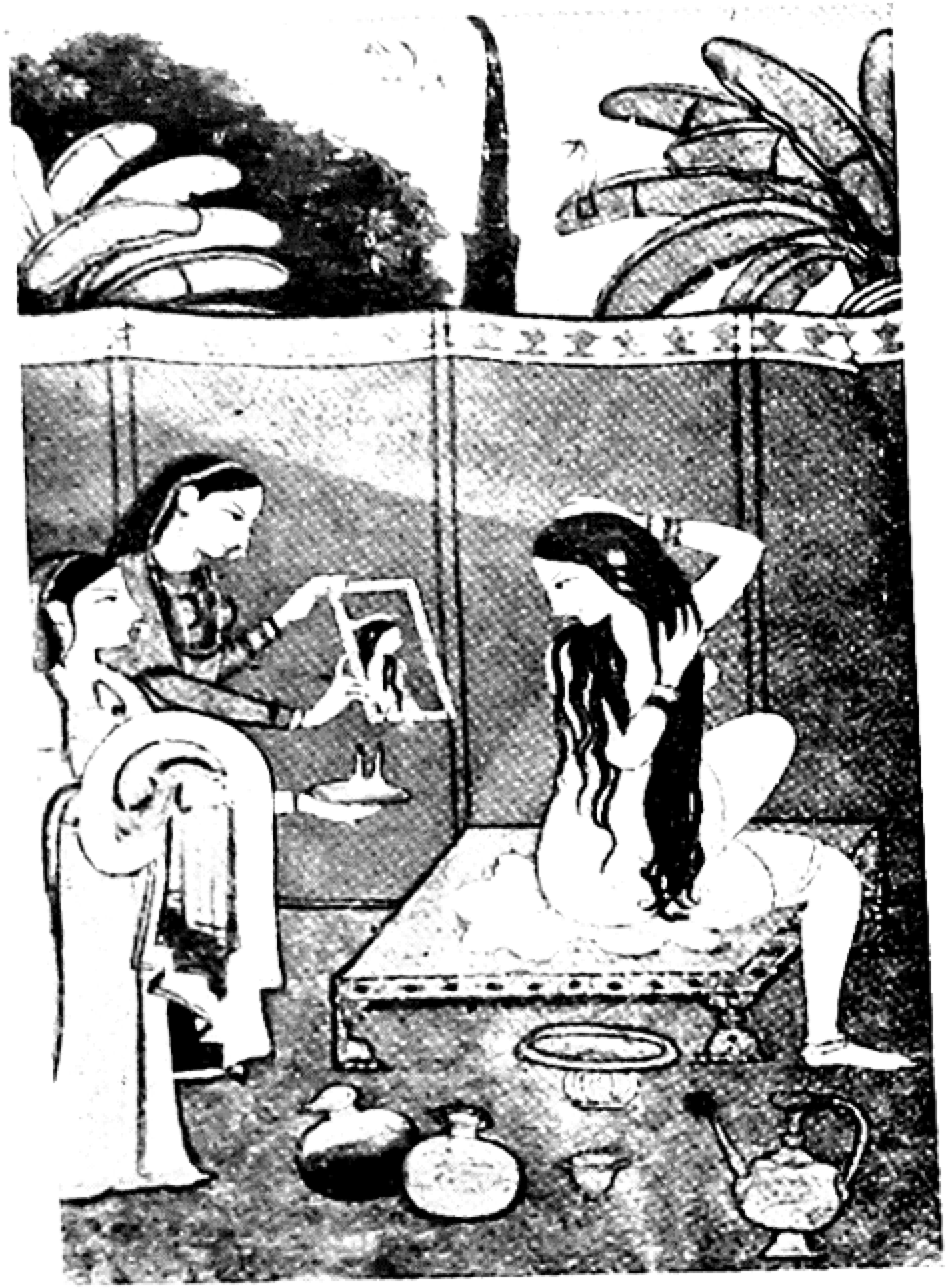


पत्रलेखन, कांगड़ा कलम ।

३०



वीर का गृहागमन, कांगड़ा कलम, ल० १८००



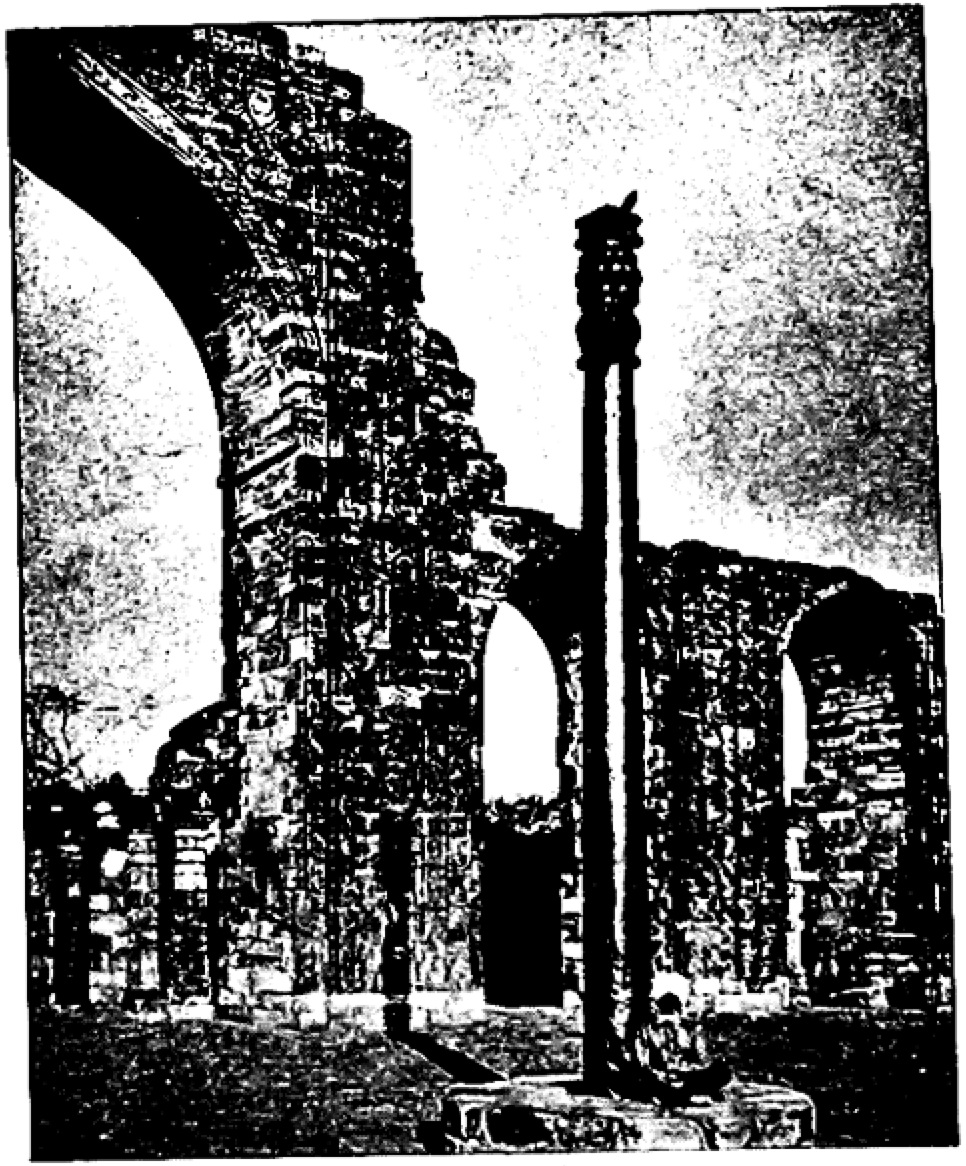
राधा का वेणीप्रसाधन, पहाड़ी चित्र, कांगड़ा कलम ;



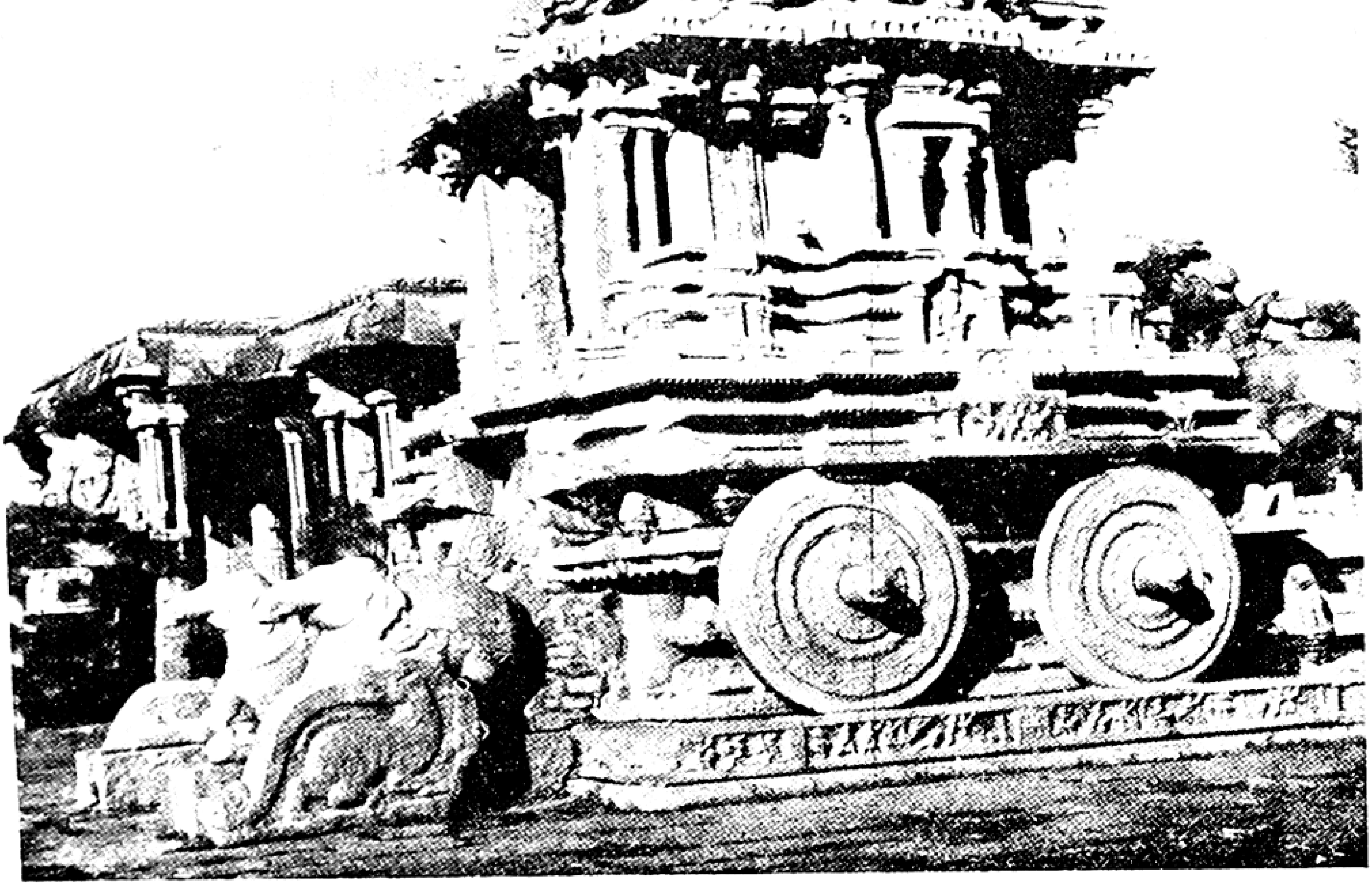
संकेतस्थान, प्रतीक्षिका, पहाड़ी ।



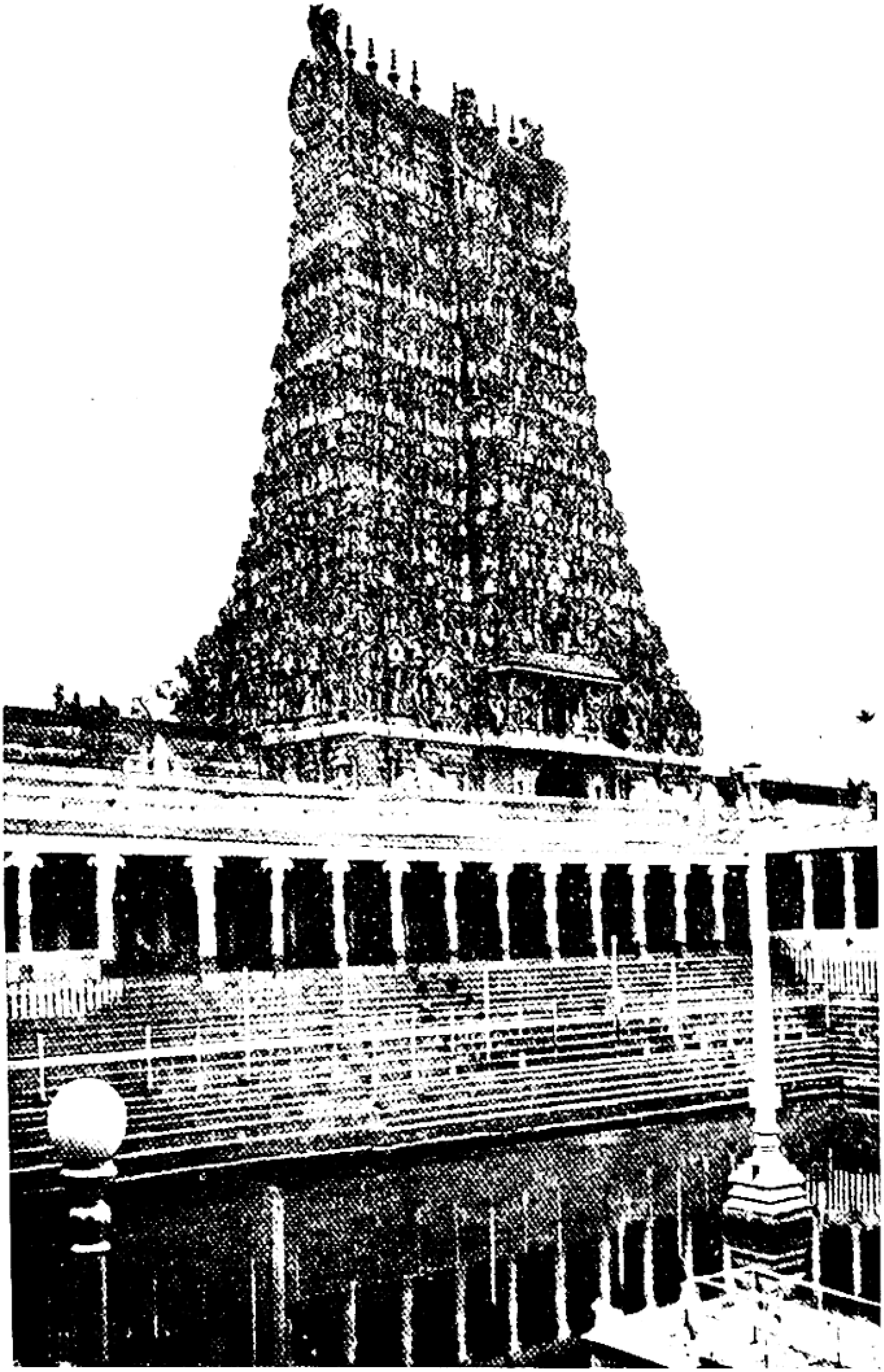
साँची स्तूप का तोरणद्वार, शुंगकाल, दूसरी सदी ई० पू०



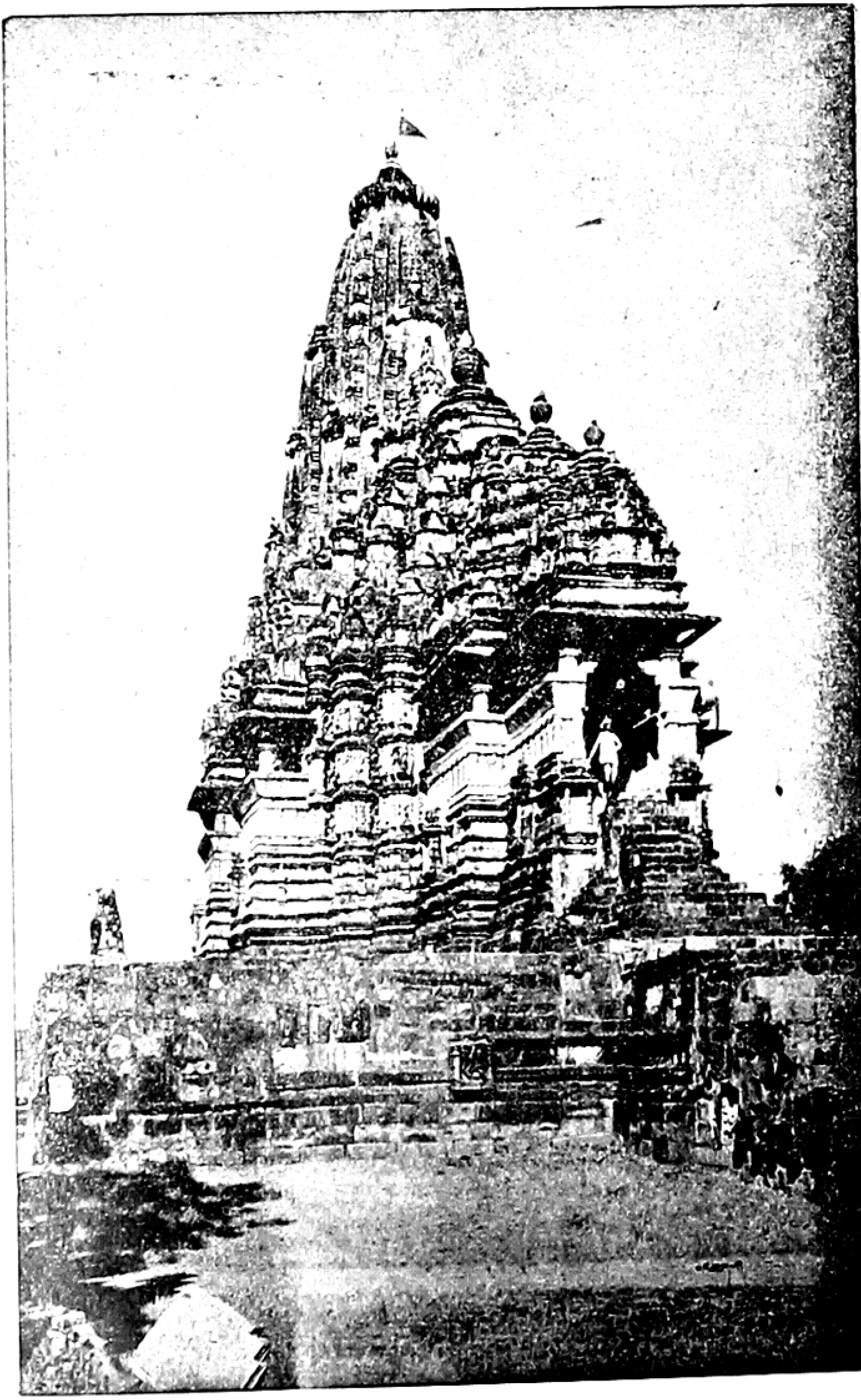
कुतुबमीनार के पास खड़ा चन्द्र का लोह विजय-स्तंभ, गुप्तकाल ।



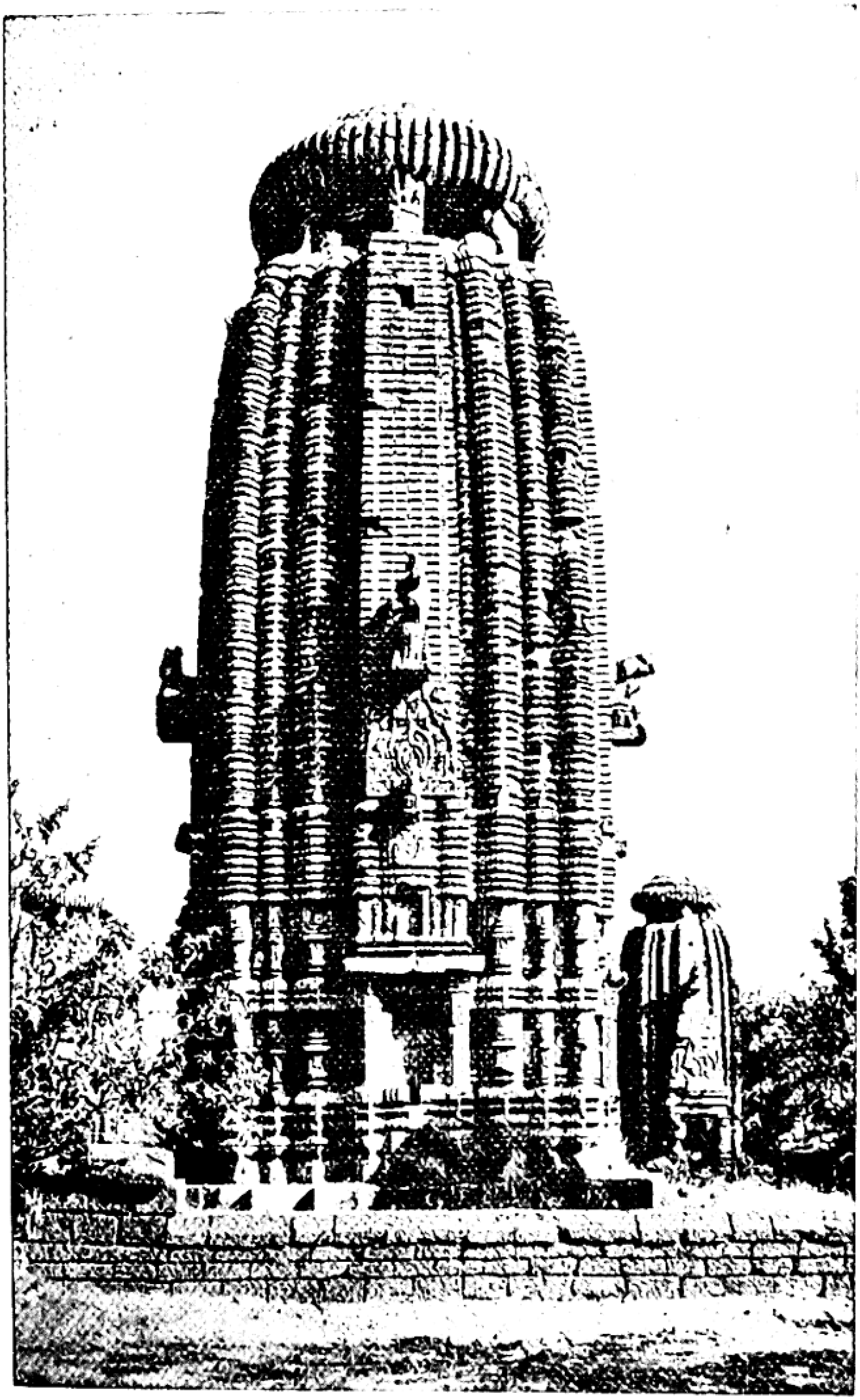
शिलारथ, हंपी, मैसूर ।



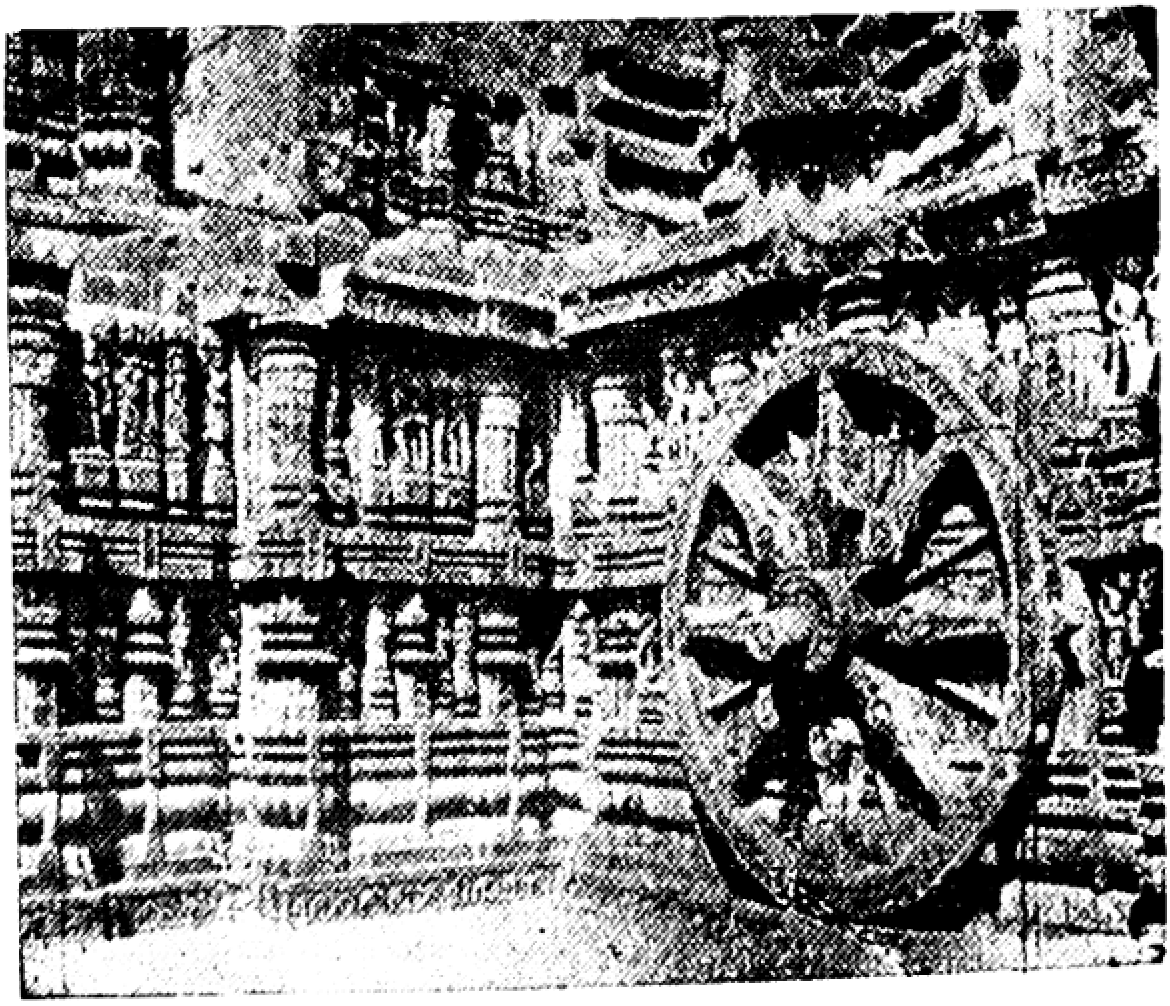
मीनाक्षी का मन्दिर, मदुरा ।



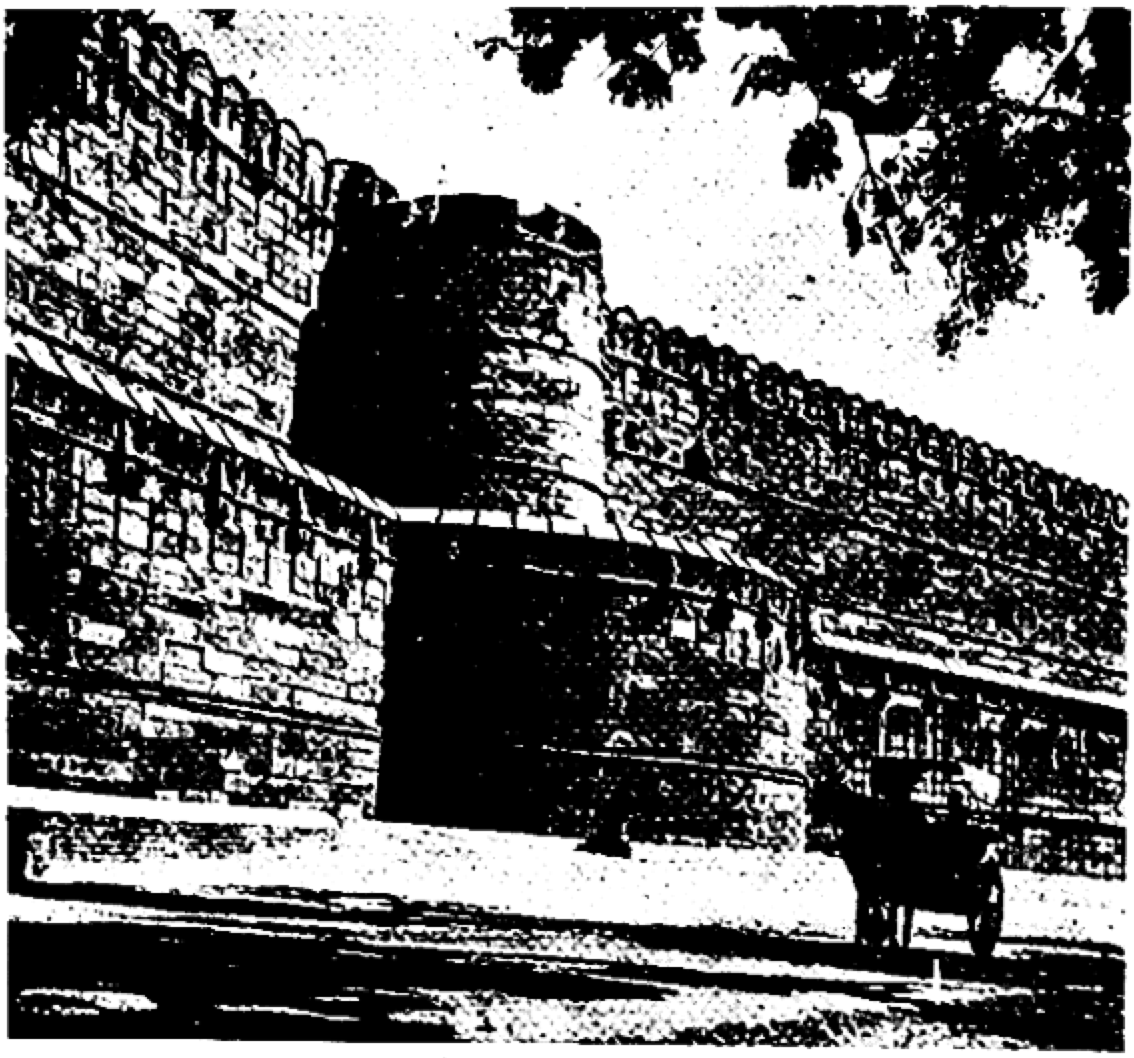
कन्दरीय महादेव का मन्दिर, खजुराहो, दसवीं सदी ।



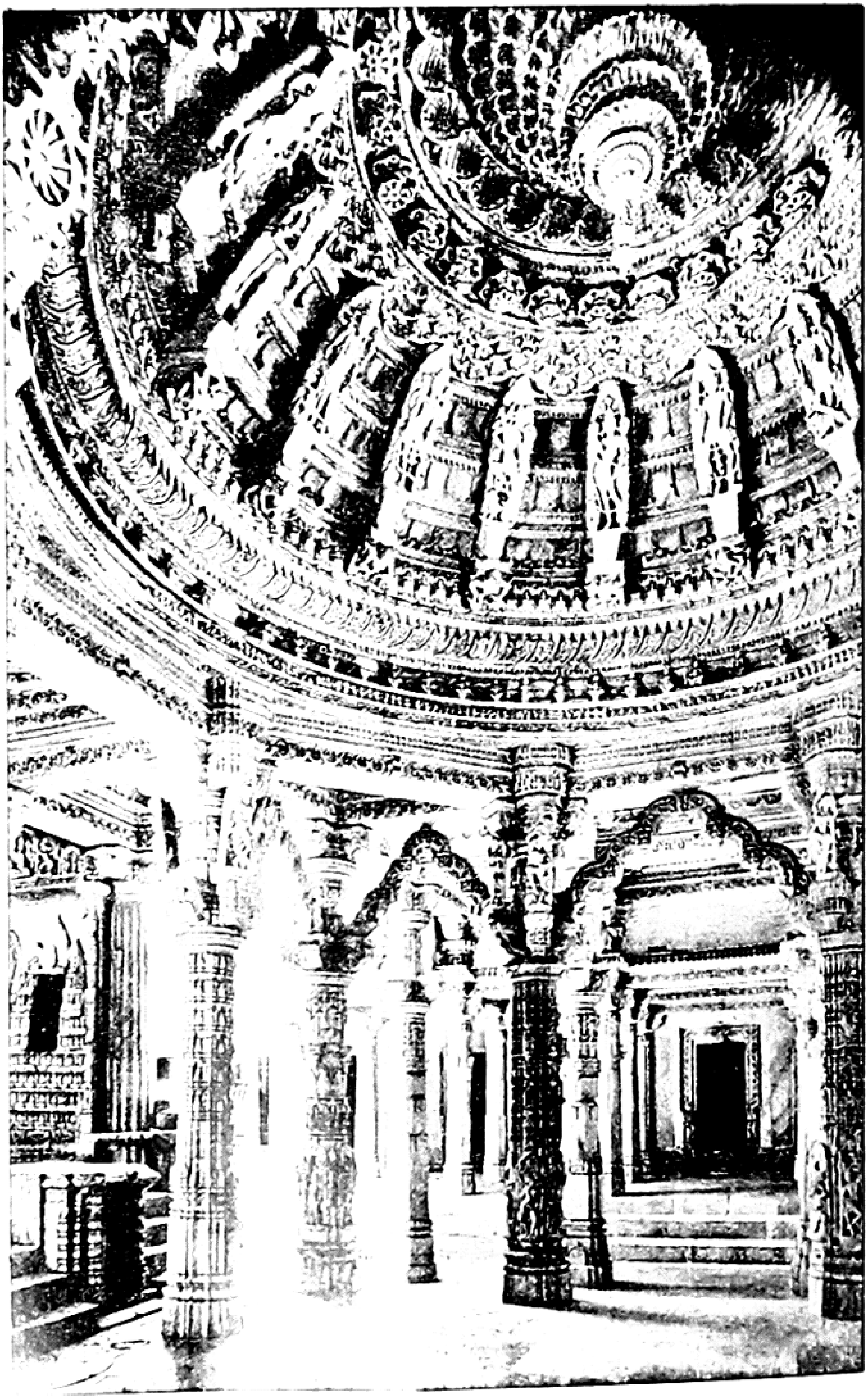
लिगराज का मन्दिर, भुवनेश्वर, उड़ीसा ।



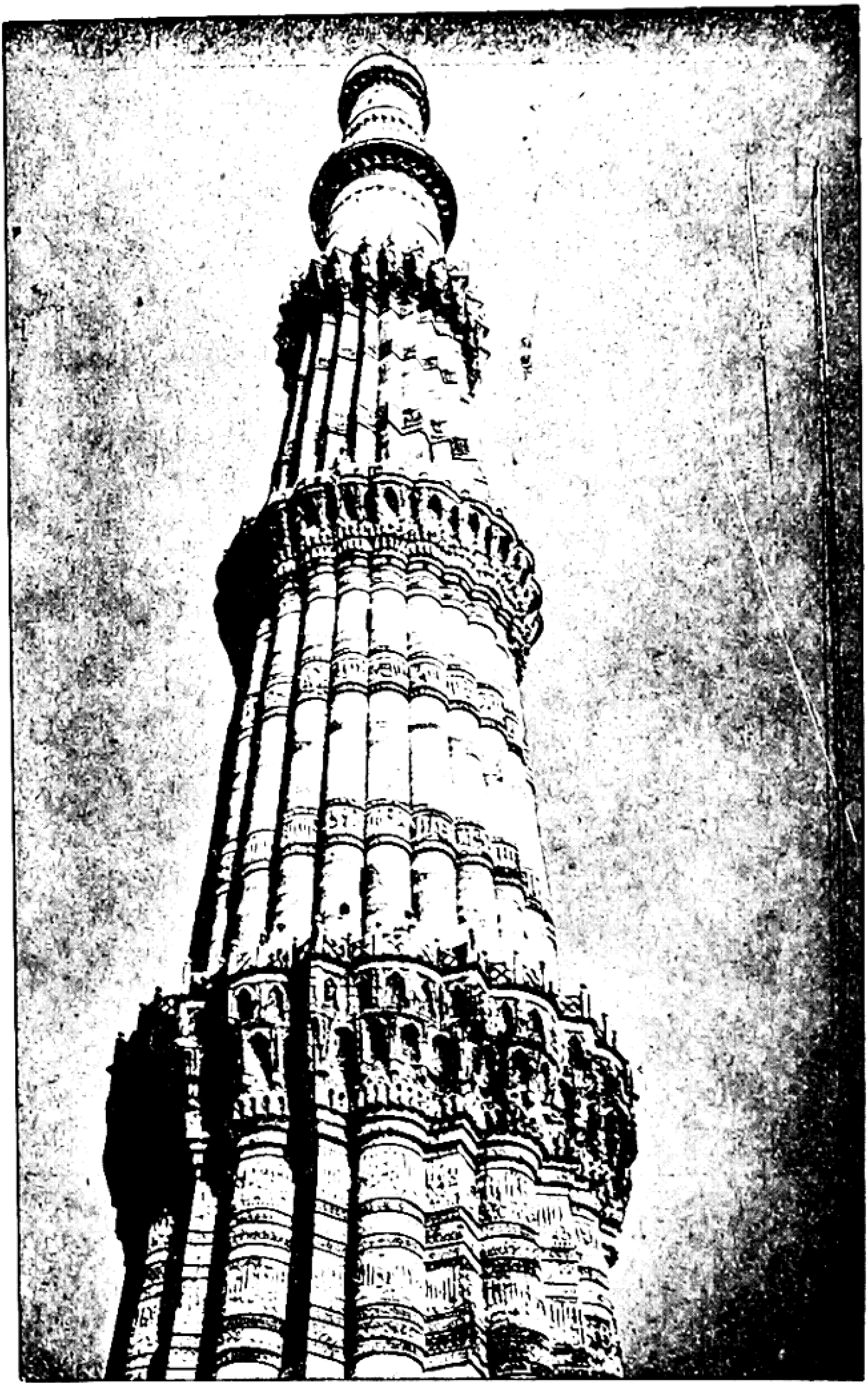
कोणार्कसूर्यका मन्दिर, कनारक, उड़ीसा ।



आगरे का किला, सोलहवीं सदी ।



संगमरमर का जैन मन्दिर, दिलवाड़ा, आबू, ग्यारहवीं सदी।

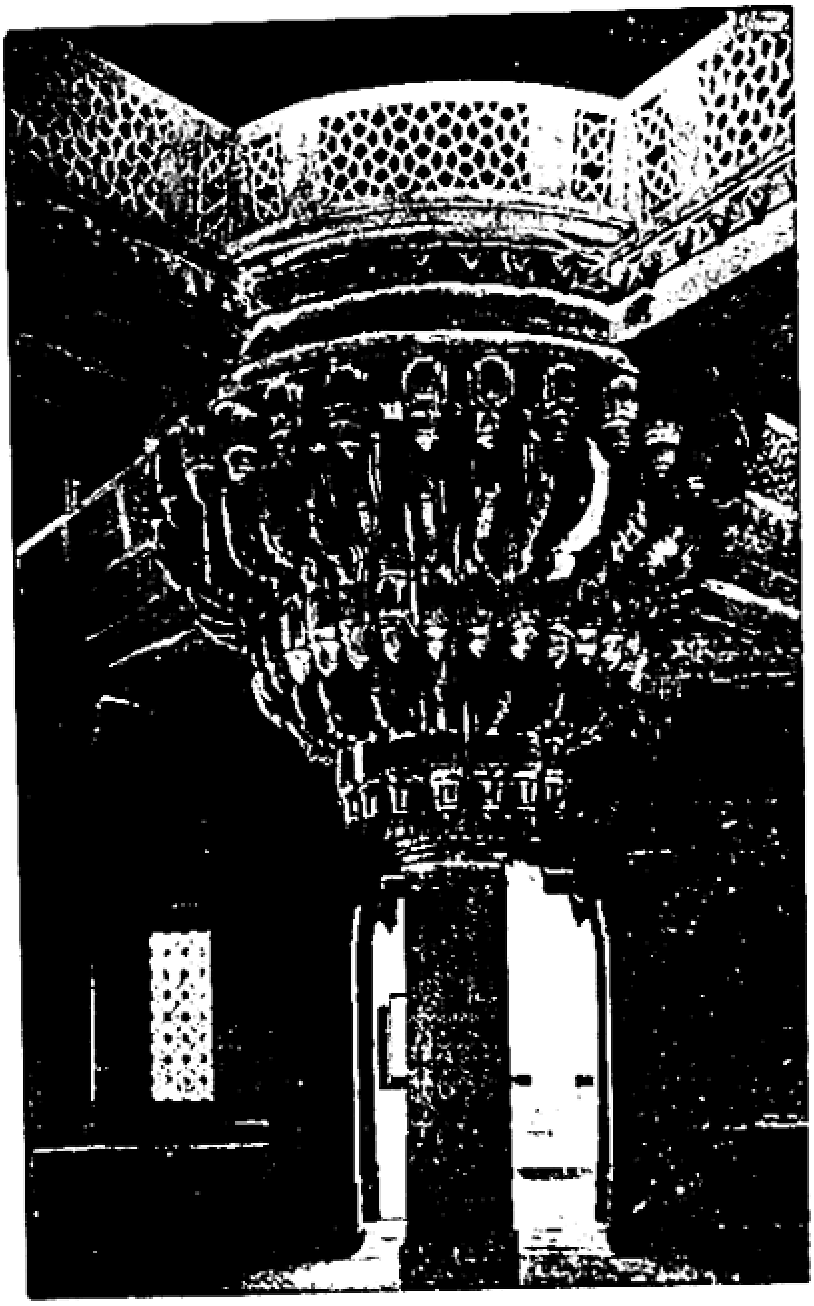


कुतुबमीनार, दिल्ली बारहवीं सदी ।



ताजमहल, आगरा, सत्रहवीं सदी ।

५५



दीवाने खास का स्तंभ, फतहपुरी सीकरी,
सोलहवीं सदी।



बुलन्द दरवाज़ा, फ़तहपुरी सीकरी, ।